तिष्ठावरे तिष्ठ पर उतरव तिष्ठ मध्यमे ।
कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही ॥

शव्दार्थ—हे अवरे ( शरीर में नीचे जाने वाली नस ) तू ठहर, हे ऊर्ध्वभाग गामिनी नस तू ठहर, हे मध्यभाग गामिनी नस तू ठहर । वारीक नस तू ठहरती है और मोटी नस ठहरे ।

भावार्थ–ठहरने से तात्पर्य यह है कि रक्तस्राव रहित हो। यह सूक्त भी क्षत होने से रक्त को वहाने वाली नस को रोकने के लिये है। इससे यह ज्ञात होता है कि रक्त वहाने वाली शिराये ऊपर नीचे वीच मे फैली हुई हैं तथा मोटी और पतली हैं।

परिःव सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत् ।
तिष्ठते लयता सुकम् अथ० १-४-१७-४

शव्दार्थ–हे नाड़ियों ! तुमको सिकतावाली नाड़ी ( जिसमें पथड़ी पड़ गई हो ) धनुष के समान टेढ़ा मूत्राशय, ( नाड़ी विशेष ) या मोटी नस, चारों ओर से रोकती हुई रहे। और सव नाडियां रुधिरस्राव रहित होकर रोगी को सुख उपजावें।

भावार्थ–किसी नाड़ी में पथरी होजावे, या मूत्राशय टेढ़ा होजावे, या कोई नस फट-जावे, तो वहां से रुधिर निकलना प्रारम्भ होजाता है, जिससे अन्य नसों के मार्ग रुकजाते हैं, और उनका रक्त भी उन फटी हुई नसों से निकलने लगता है।

वि ते भिनद्मि मेहनं वियोनिं वि गवीनिके ।
विमातरञ्च पुत्रञ्च वि कुमारं जरायुणाव जरायु
पद्यताम् ॥ अथ० १-२ । ११।

शव्दार्थ–हे गर्भिणी ! तेरे मूत्रद्वार और योनि को विदीर्ण करता हूं। योनि में रहने वाली दो नाड़ियों को जो गर्भ को रोकती है उनको भी विदीर्ण करता हूं, माता और पुत्र को जुदा-जुदा करता हू। जरायु को विदीर्ण कर पुत्र को अलग करता हू और ऐसा करने पर जरायु भी तेरे गभाशय से निकल जावे।

भावार्थ–इस मन्त्र मे शस्त्र-क्रिया का अच्छा वर्णन है। जिस समय गर्भवती का वालक उत्पन्न नहीं होता, जरायु मे लिपट रहा है, नसे रोक रही हैं या योनिकामार्ग छोटा है, या अन्य किसी प्रकार से वच्चा पैदा होने से रुका हुआ है उस समय वैद्य उसे शस्त्र-क्रिया से उस रोकने वाले कारण को विदीर्ण कर वच्चा जनवाता है। और जरायु को भी वाहर निकालता है। पाठक ! हमारे यहां शस्त्र-चिकित्सा का कितने दिनों से प्रचार है क्या कोई वतला सकता है ?

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

॥ श्रीधन्वन्तरये नमः ॥



रोगाञ्जयत् मृत्युभयं निवारयत् ।
समर्जयत् भूरियशो वसूनि च ॥
मुदं ददत् ज्ञानमथो विवर्धयत् ।
विजृम्भतां पत्रमिदं प्रकाशयत् ॥

# सच्चा शारीर ?



चिकित्सा परम पुनीत कार्य है। मनुष्य ही क्या, हर शरीरधारी के लिये — स्वयं अपने यंत्र - शरीर की त्रुटियां मिटा सकना अत्यन्त आवश्यक कार्य है। जो शरीर शरीर की मरम्मत कर सकता है उसकी सेवा में सैकड़ों शरीर अपने विकार निवारणार्थ आते और यशोधन अर्पण कर जाते हैं। वह देवता की भांति आदर- पूजा- पाता है और उसे पुण्य भी कम नहीं होता। वह शरीर को व्याधिरूपी उस आपदा से छुडाता है जिसे धन मिटा नहीं सकता- मित्र बंटा नहीं सकता और बड़े से बड़ा अधिकार भी घटा नहीं सकता। यही कारण है कि जिसे देखे वही चिकित्सक बनने की इच्छा करता है। यह आज से ही नहीं वर्षों और शताब्दियों से होता चला आया है।

परन्तु प्राचीनकाल मे कोई कार्य अयोग्यों के हाथ नहीं रहता था। प्रारम्भ चाहे कोई करता मगर आगे गाड़ी उसी की बढ़ती थी जो अपने कार्य के योग्य, विज्ञ और अनुभवी सिद्ध होता था। उसीके गुणों की कीर्ति फैलती थी। शेप अनधिकारी–अज्ञानी-अपने आप चुप हो रहते थे। आज दशा इसके विपरीत है। जो ज्ञान-गम्भीर है, वह तो चुपचाप अपनी कुटिया मे बैठा रहता है। वह तो यही सोच-कर निश्चिन्त रहता है कि जो जरूरत-मंद होगा, खुद आवेगा, वह अपनी योग्यता पर विश्वास करते हुए बाहरी तड़क-भड़क और विज्ञापन की ओर विशेष ध्यान नहीं लगाता। और, आजकल ऐसा समाज बहुत कम लोगों की नजर मे आता है। ऐसा वैद्य अपने कर्त्तव्य मे कुशल होने पर भी- आजकल, उड़ती नज़र और चमक-दमक से असर वाले जमाने मे प्रजा का ध्यान खींच ही नहीं पाता, फिर उसकी योग्यता का फल क्या निकले।

दूसरी ओर– जिन्हें अपनी त्रुटियों का ज्ञान है और उन्हें दुनिया की नजर से बचाते हुए, अपना काम निकालना होता है, वे बड़ी धूम-धाम मचाते हैं। वे परस्पर एक-दूसरे की तारीफ करते सजधज बनाते, तर्क और कानून का आश्रय लेते और विज्ञा-पन की भेरी बजाते हैं। फल यह होता है कि आजकल तड़क-भड़क मात्र देखकर रीझने वाला मानव-समाज उस ओर सहज ही खिंच जाता है और फिर तब तक खिंचा रहता है जब तक मोहिनी दूर न होजाय।

इसी कारण आजकल यह निर्णय करना भी कठिन होरहा है कि मनुष्य का सच्चा कल्याण किस मार्ग में है। सात्विक, लाभदायी मार्ग तो अपनी रुखाई और सादगी के कारण, आराम-पसंद

अधिकांश लोगों का मन आकर्षित नहीं कर पाते और सुलभ, तात्कालिक आराम देने वाले राजस या तामस मार्ग पर लोग नितान्त अभिरुचि-पूर्वक दौड़ जाते हैं। उसके वाद, थोडे समय के लिये सुख भी मिल जाता है, चाहे वह कितना ही अदूरदर्शितापूर्ण हो और लम्वे भविष्य मे उससे कितना ही दुष्परिणाम भी निकले, उसकी ओर किसका ध्यान जाता है ?

+ + +

चिकित्सा-क्षेत्र मे ये वातें आजकल वहुत स्पष्ट हैं। परन्तु अपने चित्त पर से किसी के भी पक्ष का रंगीन चश्मा उतार फेके विना उसे समझ सकना कठिन है। एक वार यह विचार त्याग दे कि अमुक प्रणाली श्रेष्ठ है – अमुक निकृष्ट, अमुक प्राचीन या सनातन है और अमुक कुछ दिन की नूतन, अमुक हमारे घर की है और अमुक वाहर की तथा अमुक वाले प्रयत्नशील है और अमुक के अनुयायी काहिल, तभी हम चिकित्सा को उसके निजी गुणो पर तौल सकते है। कैमरे से फोटो खीच देना भी एक कला अवश्य है, परन्तु चित्रकारी का कौशल हम तभी परख सकते है, जब चिकने ब्रोमाइड कागज की चमक का मोह छोड दे और नमूना देख कर ही हू-वहू मौडल या कार्टून वना देने वाले कारीगर का कौशल ध्यान मे लाये। जो इतना कर सकता है वह हर समय और अवस्था मे – कोयले और मिट्टी से भी – 'चित्र' वना सकता है। परन्तु कैमरे का कलाविद् तो अपने यन्त्र प्लेट या विशेप सामग्री विना विल्कुल लाचार हो रहता है। वे यन्त्र कुछ खराव भी होजायं तो उनके दोप से अपने चित्र को वह नहीं वचा सकता। वस सोचले, चित्रकार कौन है और किसकी कला वढ़िया है।

+ + +

चिकित्सक भी दो तरह के नजर आते हैं। एक तो वरसों तक स्कूल-कालेजो मे वाक़ायदा शिक्षा पाये हुए है। उन्होंने अनेको शव चीर-चीरकर शारीर नसों और रगों की गणना की है तथा तत्वों और द्रव्यो की रासायनिक लीला देखी हैं। उनके वैज्ञानिक खेल खेले है और उनके गुण भी पढ़े-सुने हैं। उसके प्रश्न-पत्रो का भी उन्होंने एक तिहाई से अधिक सफलता के साथ उत्तर दिया है और जो शरीर पर नाना यन्त्र-शास्त्रो का प्रयोग एवं उपयोग करना जानते है। यही नहीं, इसके विना किसी रोग का निदान – पहचान सकना असम्भव भी समझते है। जो अनेक पेटेंट औपधों और इन्जैक्शनों के पूरे इन्डैक्श ( *Index* — फहरिस्त ) हैं तथा रोगी सामने आते ही जिन्हें फौरन खास औपध या ऐंपूल याद आजाता है। जो उस लाइन से भटकते भी नहीं, भटकने का भय तक नही और उन साधनों के विना कुछ भी नहीं करते – कर सकते। जो उसी सम्पन्न रोगी की चिकित्सा कर सकते है जो – उन अमुक 'लेप', मलहम, टिकिया इन्जैक्शन मुहैय्या कर सके और उनके राजसी रहन-सहन एवं परिश्रम का भी उचित पुरुष्कार देसके, या इतना महत्वपूर्ण व्यक्ति हो, जिस पर वे सार्वजनिक धन का इतना अंश खर्च करने को पासके। यही कारण है कि हमारी यह – डाक्टरी – चिकित्सा अभी ऊंचे अफसरों, राजा-रईसो, सम्पन्न नगर-वासियो या सुशिक्षित लोगों तक ही पहुंच सकी है। हम देहाती डिस्पेंसरियों द्वारा गरीव ग्रामीणों की भी सेवा करते है, मगर हमारे अनुकूल क्षेत्र नहीं। वहा जितने रोगी आते हैं उनकी रोग–परीक्षा — पूर्ण–विधि से तो असम्भव ही है'– हम खास-खास यन्त्रो से भी नहीं कर पाते और दवाये भी वही रटे-घुटे मिक्चर वाट देने पड़ते हैं।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

हमें पद-पद पर जो विशेष औषधें और इन्जैक्शन जरूरी होते हैं, वे वहां मिल नहीं सकते। कुछ धनी या आर्त्त-रोगी, पास का पैसा या घर-बार बहाकर, शहरों को दौड़ते और कुछ पेटेंट औषधे या ऐंपूल ला भी देते हैं, मगर यों कहां तक काम चल सकता है? और फिर इस ख़र्च-पानी से डर कर अधिकांश मध्यम श्रेणी के लोग तक—जब तक वस चले—अस्पताल की शरण मे नहीं आते। फिर, इतने रोगियों का पूरा पूरा निरीक्षण हो सकना कठिन होता है तब लोग नाहक हम पर या हमारे सहायक कंपाउण्डरों आदि- पर रिश्वतख़ोर होने का संदेह करते हैं तथा और भी खिंच जाते हैं। यहा तक कि कई लोग तो सिर्फ अस्पताल के रजिस्टर में नाम लिखवाने को आजाते हैं, जिससे उन्हें स्कूल या अदालत आदि से अवसर मिल जाय और घर लेजाकर हमारी दवाये फेंक देते तथा यों सार्वजनिक पैसा बर्बाद करते हैं। हां, मैलेरिया के दिनों में कुनैन पीने को बहुत से लोग दौड़े आते थे, मगर अब उसके बाद पूरा दूध न मिलने के कारण—दृष्टि या वीर्य की कमजोरी अनुभव कर करके-वे भी उसका नाम नहीं लेते। यही कारण है कि शहरों मे हमारी डाक्टरी-चिकित्सा के अनुयायी बढ़ने पर भी- गुज़ारे भर को आमदनी न होने पर भी- वे गांवों की ओर जाना व्यर्थ समझ रहे हैं और किसी शहरी गली-कूचे मे ही ठिकाना टटोलते हैं। क्योंकि गावों मे हमे आवश्यक सब यन्त्र तो दूर 'ऐक्स-रे' तक सुलभ नहीं, और सामग्री बिना भला कोई क्या कर सकता है? सरकार की सहायता बनी रहे हम यहीं बनेगा सो करते रहेंगे।

\+ + + +

दूसरे वे चिकित्सक हैं जो 'देसी' कहलाते हैं। वे "घर के जोगी-'जोगने' हैं- आन गांव के 'सिद्ध'-नही। बचपन से अबतक गांव मे या आसपास ही रह कर पढ़ते-घोकते रहे हैं अत. एकाकी विशेष आदर तो पा नही सकते, हां जिसे तकलीफ होती है, वह अवश्य उनके पास दौड़ा आता है। सो भी लेने ही लेने को-देने को तो वही आता है जिसे २-४ बार आराम होचुका हो, और सोचे कि भाई! अब तो कुछ कृतज्ञता प्रकट कर ही देनी चाहिये। अन्यथा सब यही सोचते आते है कि हमारा तो कुटुम्बी है, या पड़ौसी है, या गाव का अथवा जाति भाई है, भला हम उसे क्यों दें, और क्यों वह मांगने लगा। और जिसका ऐसा कोई वसीला न हो, उसके मालिक-नौकर तक में शुमार न हो सकता हो, वह भी यदि ग़रीब हो- तो हकीम जी उससे क्या मांगेंगे! भारतीय चिकित्सा का अनुयायी तो भारतीय विशेषता- दया- और दान-से विमुख नही हो सकता। उसने तो शास्त्र मे पद-पद पर "दीन-सेवा" का उपदेश पढ़ा है-केवल अन्तिम दिन ही, शपथ मे एक बार 'दीन सेवा' कह डाला हो, सो तो नहीं। यही कारण है कि वैद्य-हकीमों के पास 'खना-खन' नही होती। हां जिससे कोई डोरी न जुड़ी हो और वह संपन्न भी हो, तब जरूर-रोग होने पर वैद्य जी को कुछ सिक्के अर्पित करता है- और उसमे ही वैद्य जी को अपने औषधालय तथा गृहस्थालय का ख़र्च सीमित रखना पड़ता है। इतने पर भी इस चिकित्सा मे न जाने क्या बात है "देश के ९० प्रतिशत प्रजाजन देशी चिकित्सा से लाभ उठाते हैं और वही उनको आराम करती है।" (लार्ड हार्डिंज)।

इसका श्रेय इस चिकित्सा-पद्धति की सुगमता को है। इसमे रोग पहिचानने के लिये दुनियाभर के सवाल पूछने, फार्म भरवाने या थर्मामीटर, स्टेथसस्कोप, लौरिंजोस्कोप और वैजाइनोस्कोप, स्पेकुलम स्फिग्मोग्राफ और 'ऐक्सरे' की जरूरत नहीं पड़ती। अन्य बड़े-बड़े यन्त्रों और उनके विशेषज्ञों के चार्ज भी नहीं लगते, मल-मूत्र-थूक और रक्त की परीक्षा भी तेल-पानी मे ही करली जाती है और सो भी २-४ मिनट मे। फलत. रोग-निदान होते-होते तक न तो रोगी की जेब पर ही असर पड़ता है, न वैद्य के कार्य-क्रम पर।

अब निदान से निकला हुआ नाम भी सीधा-सादा ही होता है। इन चिकित्साओं के प्रवर्त्तकों को ऐसे नाम सूझे ही नही थे जिन्हें सुनकर रोगी पर आतंक छाजाय। 'हाइपो-कोंड्रियेसिस' और 'हाइपर न्यूरोस्थेनिया' जैसे नाम तो नवीन चिकित्सा मे ही उपयोगी ठहरे है- जिन्हे जानते ही रोगी पूरी जेब खाली करने को तैयार होजाता है। 'देसी' चिकित्सकों का तो जैसा सादा रङ्ग-ढङ्ग, तैसे ही सादा नाम है, सौदा- सफरा- या वलगमी बुखार अथवा-वात, पित्त या कफ का प्रकोप आदि कह कर ही वैद्य जी- निदान खतम कर देते हैं और रोगी भी चैन की सांस लेता है। फिर वैसे ही सादा उनकी दवाइयों के नाम हैं। जैसे 'नियो-सल्फार्सनेल' की जगह केवल 'मल्ल-सिंदूर'। सिंदूर १-२ पैसा तोले आता है तो मल्लसिंदूर १-२ रुपये तोले तक सही। यह नहीं होता कि ३-४ रत्ती के ऐंपूल की कीमत २-१ रुपया लेले। इसी कारण साधारणत: सब गृहस्थ रोग होते ही वैद्य या हकीम के पास दौड़ते हैं और न कुछ खर्च-पानी में उससे छुटकारा पा जाते हैं।

\+ + + +

परन्तु योग्य और अयोग्य सभी तरह के व्यक्ति होते हैं। खास कर आजकल, जबकि उपाधियां पैसों से मिलने लगी है- लोग वे नकली डिग्रियां ही ले-लेकर वैद्य-डाक्टर बन बैठते हैं। डाक्टरी चिकित्सा सीखने को कालेजों के खर्चे चाहिये मगर देशी चिकित्सा सीखने को तो शारीरिक श्रम और लगन ही दरकार है। वे यह भी नहीं करते। ऐसे अयोग्य व्यक्तियों के द्वारा कभी-कभी वेचारे रोगी - भारी हानि उठा जाते हैं। अत: ऐसे वैद्य-डाक्टरों को चिकित्सा से रोकने की योजना आवश्यक है। हर्ष है कि कुछ प्रांतीय सरकारें ऐसा कर भी रहीं हैं। वे कानून बनाने जारही हैं कि एक निर्धारित शिक्षा-क्रम जिसने पूरा न पढ़ा हो, वह इलाज न करे। इसमे यह और भी जोड़ दिया जाना चाहिये कि जिन औषधों का काफी लोगों पर परीक्षण न कर लिया गया हो उन्हें 'शर्त्तिया दवा' कह कर नोटिस-बाजी न की जासके।

\+ + +

परन्तु ऐसा कदम कुछ विचार के साथ ही उठाना चाहिये। कानून बनते ही यह प्रश्न आगे आवेगा कि वह निर्धारित शिक्षा-क्रम क्या हो? डाक्टर बन्धु फौरन आंदोलन करेंगे कि वह उनकी भांति कालेजो का पूरा कोर्स ही होना चाहिये - या उससे २, १ बातें कम का हो। क्योंकि हम इस समय भली-भांति जाग्रत एवं संगठित हैं और ऐसा नियम बनवाकर - स्पर्धा करने वाले देसी चिकित्सकों को एकदम खतम किया जासकता है। "बुभुक्षित: कि न करोति पापं" धन्वा चलने मे तंगी दिखाई देने लगी हो तब, आजकल पाप-पुण्य के विचार से विर-

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

हित शिक्षा प्राप्त चिकित्सक-समाज, ऐसे उपाय का अवलम्वन करने में भी कुंठित क्यों होने लगा। फिर चाहे वह, वैद्य-हकीमों और उनसे लाभ पाने वाले लाखों लोगों के लिये अनर्थक वज्रपात ही क्यों न हो।

उधर देशी चिकित्सक कहेंगे कि वह शिक्षा-क्रम विल्कुल प्राचीन परिपाटी का हो। क्योंकि नवीन शैली से शिक्षा पाने मे इतना भारी समय और व्यय लगाने के बाद जो स्नातक होता है वह रहन-सहन और आवश्यक यंत्र-उपकरणों तथा चिकित्सा-सामग्रियों का खर्च तभी चला सकता है जब या तो काफी फीस और आपरेशन-चार्ज वसूल करे, या हर बात में इन्जैक्शनों एवं पेटेंट औषधों के कमीशनों द्वारा कुछ प्राप्ति करे। और ये दोनों ही बातें लोगों को मजबूर करती हैं कि वे बस चले तब तक रोग की उपेक्षा करते रहें और उसके बढ़ जाने पर ही चिकित्सक के पास जावे। दीन जन तो कोई उपाय पाही न सकेंगे और बड़ी विपत्ति एवं निराशाजनक स्थिति मे पड़ जायंगे। इसके विपरीत प्राचीन प्रणाली से शिक्षा पर न भारी खर्च होता है, न समय व्यय। आदमी घर का काम-धन्धा देखते हुए भी गुरुमुख से चिकित्सा शास्त्र पढ़ता रहता है। कुछ ज्ञान होने के बाद छोटे-मोटे विकारों का उपचार करते हुए अभ्यास भी प्राप्त करता जाता है और कुछ आर्थिक सहायता भी। और ज्यों-ज्यों वर्ष बीतते हैं योग्यतर होता जाता है। वह व्यक्ति रोगी पर विशेष भार डाले बिना भी उसकी सेवा कर सकता है। और देशी-चिकित्सा शास्त्र में यह सुविधा तो है ही कि रसादिक तैयार न हों तो काष्ठादि औषधों से काम चल जाता है और वह भी न हों तो – मामूली मिर्च–मसाले, मिट्टी–गेरू और गांव-बाहर की जड़ी-बूटी का ही उपयोग करके रोग मिटाया जासकता है। जहा धन न हो वहां शारीरिक दौड़-धूप और कूटा-पीसी का श्रम करके ही रोगी मजे मे इलाज पाजाता है। यह नयी परिपाटी में नहीं है और न उधर प्रवृत्ति रहती है, अतः उसे कदापि न रखा जाय।

+ + +

मगर एक और महत्वपूर्ण बात रह जाती है। वह है – शारीर-ज्ञान अर्थात् शरीर-रचना की जानकारी। कालेजों मे चीर-फाड़ कर-कराके और प्रत्येक तन्तु पर द्रव्यों का प्रयोग दिखा-दिखाकर जो ज्ञान करा दिया जाता है उसके बिना वैद्य कैसे चिकित्सा कर सकते है, और वह 'गुरुमुख' से कैसे सभव है? यही तो वह ज्ञान है जिसके कारण आज एक छोटे से छोटा डाक्टर भी बड़े से बड़े यशस्वी वैद्य को निम्नता की नजर से देखता और केवल 'सफल क्वैक' समझता रहता है। तथा जिस समय वह मैदान हाथ से जाता देखे तभी कुछ अङ्गों के आंग्ल नाम और काम कहकर अपनी इज्जत बचा लेता — वरन् शान बाध देता है। इसी चीज के लिये तो कई आयुर्वेद विद्यालयों मे भी — आधे तीतर–आधे बटेर – विद्वान घड़े जाने लगे है, जिन्हें शारीर तो डाक्टरी–सिद्धांत से सिखाया जाता है और चिकित्सा वात-पित्त-कफ के आधार पर। और दोनों का सामजस्य कर देना, गायब। फलत वे कार्यक्षेत्र मे आने पर या तो केवल आयुर्वेदिक पढ़ाई का उपयोग करते है — या डाक्टरी प्रथा से ही अङ्ग-प्रत्यङ्गों के अलग-अलग रोगों मे भटक कर – उसी प्रणाली की औषधो पर झुक जाते है। और जो अधिक विचक्षण हों वे – "गंगागये-गगादास, जमना गये – जमनादास" नीति अवलम्बन करते

हैं। इसलिये यह विचार लेना अत्यन्त आवश्यक है कि शारीर-ज्ञान जो आयुर्वेदीय शास्त्रों मे वर्णित और हमारी प्रथाओं मे प्रचलित है उस पर विश्वास किया जाय, या वैज्ञानिक शोधकों ने अबतक जान पाया है उसी को सम्पूर्ण माना जाय। एवं दोनों मे कहां तक मेल और क्या-क्या मतान्तर है।

\+ \+ \+

प्रस्तुत शारीरांक में इसी ओर कुछ कोशिश की गई है। यह किसी एक या दो-चार व्यक्तियों के ही कर डालने का कार्य नहीं बल्कि प्राच्य और पाश्चात्य दोनों शास्त्रों के विद्वान सज्जनों के सम्पूर्ण करने का है। वे किसी ओर को भी कृपा कोर छोड़ कर और दोनो शास्त्रों की उक्तियों पर समान श्रद्धा रखते हुए — वास्तविकता से मिलान करते चलें। आर्प-ग्रथों के लेख की प्राचीनता पर भी न झुक जाय, और वैज्ञानिक परीक्षणों के निष्कर्प पर भी विश्वास न कर वैठे। मानव-शरीर एक सजीव पदार्थ है और कोरे द्रव्यो ही नहीं गुणों एवं भावो का भी पुतला है। वे इस पर, इसके द्रव्यों और परिवर्त्तनों पर काफी उल्टा-सीधा असर भी डालते हैं। इसलिये किस द्रव्य, औपध या आपरेशन का किसी खास अग पर क्या असर होगा यह भी देखे और उससे आदोलित हुए विचारों सहित इस तमाम शरीर पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, जरा उस पर भी पूरा गौर करे। उदाहरणार्थ, मकरध्वज की कज्जली (*Sulphide of mercury* सल्फाइड आफ मर्करी) को फार्माकोपिया मे आजतक शरीर मे कतई ग्रहण न होने वाला कहा जाता है। यह वैज्ञानिक अनुसन्धान करने वालों का ही फतवा है। वही— जब हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के घोल मे रहता है तब बहुत सूक्ष्म अंश घुल जाता है और आमाशय में उक्त अम्ल बहुत होता है। अतः वहां उसका १ : १००००० अंश घुलना, शरीर में ग्रहण होना, और गुण करना भी सिद्ध होरहा है। श्री कर्नल चोपडा ने इस पर काफी प्रकाश डाला है। परन्तु यह घटना आधुनिक नये से नये यन्त्रों से भी पकड़ मे नहीं आती। ऐसी दशा मे उनके निष्कर्पों पर ही भरोसा करके — मकरध्वज को व्यर्थ समझ लेना कितनी भारी भूल होती। इसी तरह किनाइन का मैलेरिया नाशक गुण तो हमने देख लिया, मगर वह शरीर के अन्य अवयवों मे किस-किस पर क्या असर करेगी यह भी देख लेना चाहिये। वह निश्चय ही शुक्राणुओं (संतान पैदा करने वाले जीवाणुओं) का काल है। और शायद वीर्य की क्षीणता द्वारा ही वह दिमाग और दृष्टि-शक्ति मे भी कमजोरी लाया करती है। 'ऐस्पिरिन' ज्ञान-शक्ति को सुन्न कर देती है जिससे दर्द मालूम नहीं होता। मगर उसकी ओट मे विकार या गलाव वढ़ता सो रहता ही है और यह दिल में भी भारी कमजोरी ले आती है। अनेक दवाओ की हम जो मात्रायें प्रयोग करते हैं, वे कुछ समय बाद शरीर को भीषण हानि पहुंचाती बतायी जाती है। कई हमारे ही ऐलोपैथिक डाक्टर बन्धु अब उन मात्राओं की हानि देख-देखकर ही होमियो-पैथी होगये — यह बात आंखें खोल देने को कम नहीं है। कई बार ऐसे भी उदाहरण होते ही हैं जब रोग सुनिश्चित होगया और औपधें भी विश्वस्त कारखानों की, अनुभवी हाथों से प्रयोग की गई, मगर अमुक रोगी पर वे और ही असर कर गईं। इससे मानना पड़ता है कि औषध निर्वाचन में हर रोगी की प्रकृति पर खास ध्यान देना जरूरी है— जो हमारे शारीर ज्ञान मे नहीं — या हमारे सिद्धात

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

में ही कहीं त्रुटि रह गई है।

\+ + + +

इन्ही जैसे अनेक उदाहरणों और कारणों से अभी यह नही कहा जासकता कि हमारा डाक्टरी शारीर संपूर्ण और निर्भ्रांत है। शरीर की रचना हमने जितनी बारीकी से देखी-लिखी और गिनी है वह अवश्य गर्व की वस्तु है। परन्तु शारीर क्रियाओं और उनका द्रव्यों, भावों, ऋतुओं तथा संसार के अन्यपरिवर्त्तनों—नक्षत्र आदि—से क्या संबंध है इस ओर अभी हम बहुत थोड़ा रास्ता तय कर पाये हैं और अभी बहुत चलना है। अभी जुम्मा-जुम्मा-सौ-डेढ़ सौ बरस ही तो हुए हैं। इसलिये इन बातों में हम उन सिद्धांतों के आगे आग्रह नहीं कर सकते, जिनकी जानकारी तो न जाने कब हुई होगी, परंतु २-४ हजार बरस से तो जो काव्य-रचना और पाठ्यक्रम में भी आगये तथा विशाल प्रजाजनों मे अनुभूत होते रहे। प्राचीन काल की अधिकांश बातें तभी चल पायी होंगी जब कोई उद्‍भट विद्वान उन्हें प्रकट करे और वे सैकडों बार प्रत्यक्ष साबित हो-होकर समय की कसौटी पर उत्तीर्ण होजायं। तब उन्हें फैलाने को पत्र और प्रेस की सुविधा न थी। हर बात का तथ्य और गुणागुण ही उसके प्रचार या निषेध का कारण होता था। इसे समझ कर ही हमें प्राचीन शारीर और उससे संबन्ध रखने वाली लौकिक प्रथाओं का विचार करना चाहिये। तभी कुछ सचाई पासकेंगे। यह भी संभव है कि कई प्रथायें परपरा के प्रवाह मे कुछ विकृत होगई हों, तो जरा-गंभीरता से विचार करके हमे उनका मूल स्वरूप निर्धारित करना और उससे निष्कर्ष निकालना होगा।

\+ + + +

एक बात और—मनुष्य जितनी बातें जान पाता है उन सबको लेखबद्ध नहीं कर पाता। ज्ञान के बहुत से अंश तो अनिर्वचनीय ही होते हैं और बहुत से विस्तारभय से छोड़ देने पड़ते हैं, अन्यथा हम जीवन भर में एक पदार्थ का भी वर्णन समाप्त न कर पाये। फिर जहां मुद्रण की सुविधा न रही हो और गुरु का ज्ञान रट-रट कर शिष्य को धारण करना पड़ता हो, वहां तो वह बिल्कुल 'सूत्र' रूप में ही ग्रथित कर देना होता है। हां, जब शिष्य उसे स्मरण करके व्याख्या के लिये आगे बैठे तब 'गुरु-मुख' से उस सूत्र की बातें विस्तार से समझा दी जाती थीं। यही कारण है कि आयुर्वेदिक ग्रन्थों में ज्ञान-परक प्रकरण—जैसे धमनी-सिरा पेशियों आदि की संख्या, या अङ्गों के पारस्परिक संबन्ध—बहुत संक्षिप्त ही लिखित हैं और इसीलिये 'गुरु-मुख' से पढ़ने को महत्व दिया जाता रहा है। उस मे सब शकायें जितनी उत्तमता से मिटाई जासकती हैं उतनी उसी विद्वान द्वारा कलम स्याही से लिख लिख कर नहीं। फिर छात्र की 'मेधा' भी असर रखती है। मेधावी छात्र उतने उपदेश से ही जिन-जिन बारीक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का ध्यान कर लेता है, उतना अल्पबुद्धि छात्र नहीं कर सकता। और आजकल तमाम कक्षा को एक ही लाठी से हांकते लेजाने की दशा मे वह सर्वथा ही असंभव है। वह ध्यान और समझ तब अधिक सभव है जब छात्र शात वातावरण में हो, वेष-भूषा या अर्थ और समाज विषयक कोई चिंता दिमाग के कोने मे भी न हो, और 'सादा जीवन-गहन विचार' वाली नीति पर चलता हो। वह वैद्यक के 'ज्ञान' की उत्कट लालसा से ही वैद्यक पढ़ता हो—डिग्री लेकर जीविका चलाने की ही खातिर—जैसे तैसे

'पास-मार्क' ले आने की चिंता न सता रही हो। मानव शरीर के रहस्य तो तभी समझ में आसकते हैं, और उसके बिना, केवल कागजी योग्यता और भाग्यवश प्राप्त होगई सफलता के आधार पर चिकित्सा का अधिकारी समझ लिया जाना भारी भूल है, और होगी। चिकित्सा मानव-प्राणों का खेल है, इससे कोई बहुमत या अन्धी नकल के आधार पर प्रोत्साहन देना या अडगे लगाना उचित नहीं होगा। बारीकी और मेधा-शक्ति से—मनो 'योग' से शारीर गति-विधि जानने वाला व्यक्ति चाहे अल्प समय तक भी पढ़ा हो और थोडे ही ग्रंथ चाट पाया हो, शरीरों का अधिक उपकार कर सकता है। जीवित शरीर की चिकित्सा बिलों का जोड़ और व्याज लगाने की भांति गणित की चीज नहीं है जिसके सफल विद्वान विश्व-विद्यालयों की मशीनों से ढाले जासके। इस 'सत्य' पर हम लोगों को गंभीरता से विचार कर लेना चाहिये।

---

[ ले०-श्री पं० रामप्रसाद जी वैद्य शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, अलीगढ़ ]

गुणत्रय के भेद से विविध प्रकृति-जन्य विस्तार वाले विचित्र प्रकार के दुष्पार-ससार में, जगन्नियन्ता के नियम से नियत किये अनेक कष्टों का भाजन भूत चौरासी लक्ष योनियों से परिभ्रमण करता हुआ जीवात्मा, परमेश्वर के परम अनुग्रह से परम दुर्लभ निर्मल ज्ञान-स्थान, मानुष शरीर को पाता है। यह शरीर उद्भिज,अंडज, स्वेदज, और जरायुजों में सर्वोत्तम है, सारे व्यवहार कार्य इस शरीर से ही होते हैं। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्रासाद पर चढ़ने का शरीर ही सोपान है। वास्तव मे सारे साधन होने पर शक्ति-हीन जैसे ऊपर नही चढ़ सकता वैसे ही मनुष्य शरीर के विना मूल मोक्षपद भी नहीं प्राप्त कर सकता है। सुखद आयुर्वेद मे उसी शरीर के प्रत्येक सूक्ष्म अङ्ग और उपाङ्गों का विस्तार,वर्णन, रस-रक्तादि धातुओ का काम, मूत्र, स्वेद-मल और स्रोत, धमनी, हृदय, फुफ्फुस, यकृत आदि यन्त्रों का विज्ञान बतलाया है शरीर-विज्ञान बिना चिकित्सा 'घुणाक्षर' समान है। अत धन्वन्तरि ने "शारीराङ्क" मे विशद साहित्य एकत्र संग्रह कर सरल सुबोध भाषा द्वारा उपस्थित किया है यह धन्यवादार्ह है।

## शरीर क्या है ?

शल्य-शास्त्र और साख्य मे अव्यक्तादि पंच-तन्मात्रा अष्ट प्रकृति से, और दश इन्द्रिया व पंच महाभूतों के साथ सदोपसन बलवान कर्मों से प्रेरित बनती है। प्रथम चेतन जीव, माता-पिता के विशुद्ध रज-वीर्य द्वारा रजोधर्म के बाद शुद्ध स्नाता स्त्री के निर्मल गर्भाशय मे, पुरुष के अङ्ग-अङ्ग से निर्गत शुक्र-बीज जब संसर्ग करता है उसी क्षण जीव प्रथम आकाश तत्व को ग्रहण करता है। फिर वायु आदि चारो को क्रम से, जैसे पूर्व सृष्टि के समय आकाश को रचता है, फिर वायु, अग्नि, जल पृथ्वी को रचता है, वैसे ही इस अणुकाल मे भी मिलाता है। वह अव्यक्त शरीर प्रथम मास मे समूर्च्छित रहता है। जिस-जिस योनि का प्राणी है उसी सूरत का गर्भ बनता है, जैसे पशुयोनि का भेद गौ-भैंस आदि है,वैसा ही ठप्पा बनेगा जैसा सांचा होगा। तदनुसार द्वितीय मास मे घन गर्भ हो तो गोल पिंड

पुत्र का और लम्बी पेशी जैसा हो तो कन्या जाननी चाहिये। माता के भोजन रस से रसवाही शिरा, बच्चे की नाभि मे और माता के जरायु मे सम्बद्ध है। उससे जीवन वृद्धि होती है। जैसे—अनेक वस्तुओ से मकान बनता है उसको ईंट, चूना, लकड़ी, लोहा आदि आवश्यक है, वैसे ही माता-पिता, रस, जीव, सत्व, सात्म्य, ये सभी गर्भ को अपने-अपने भावों से प्रभावित करते हैं।

माता के अंश ( आर्त्तव ) से जरायुजों की त्वचा, मांस, नाभि, हृदय, क्लोम, यकृति, लीहा, गुर्दावस्ति, आमाशय, पक्वाशय, गुदा, आते आदि ( गर्भ मे ) बनती हैं।

पिता के अंश ( शुक्र ) से केश, नख, लोम, दंत, अस्थि, सिरा, धमनी, शुक्र आदि होते हैं, अन्यथा नहीं।

अन्नरस द्वारा गर्भ की वृद्धि, पुष्टि, प्राण-रक्षा तृप्ति, उत्साह आदि पैदा होते हैं।

आत्मा ही चैतन्यता देता है उसीसे सुख-दु:खादि शरीर में होते हैं; कृत कर्म का फल होता है विना किये कर्म का नहीं होता, जैसे विना बीज के अंकुर नहीं होता और बीज का फल वैसा ही होता है। घोड़े से घोड़ा, गेहूं से गेहू, इसी तरह आत्मा ही गर्भ को उत्पन्न करता है, उस वक्त स उसको जीव कहते हैं।

सात्म्य सेवन भी गर्भोत्पादक समुदाय में कारण हैं। आरोग्य शरीर होना, आलस्य न होना, इन्द्रियां ठीक २ होना, स्वर वर्णादि बातें उचित आहार विहारादि पर निर्भर हैं।

मन जीव से प्रथक् कदापि नही होता वह नित्य अति वाहक शरीर मे भी अनेक कार्य संपादन करता है। अत: नाना भावों से बना शरीर समुदाय रथ के समान है जिसमें इन्द्रियां अश्व और मन की लगाम होती है।

तृतीय मास बाद सब इन्द्रियां और सर्वाङ्ग एक दम उदय होआते हैं। अब इन्द्रियां हुई तभी से (क्रमश:) सुख, दु:ख, स्पन्दन और इच्छा होने से गर्भिणी द्वौहृदि होजाती है। उसके बाद गर्भिणी की इच्छा पूर्ण होती रहने से बच्चे का शरीर ठीक होता है और इच्छित वस्तु न मिले तो बालक विकलाग होता है। गर्भ का मुख माता की पीठ की तरफ रहता है।

चतुर्थ मास में शरीर स्थिर होकर भारी बनता और पंचम में सारे शरीर के स्रोतो का निर्माण होता है। प्राणवह हृदय से, जलवह तालु और क्लोम से, अन्नवाही आमाशय और वामपार्श्व मे, रसवाही हृदय से १० धमनियों से, रक्त से यकृत सीहा के स्रोत, मांसवहों से स्नायु और त्वक्, मेदवाही स्रोत वृक्क ( गुर्दा ) को इसी तरह अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि के स्रोत शरीर मे होते है। जिनमें देह के धातु, मल-मूत्रादि प्रवृत्त होते है। और उनके बिगड़ने से ही रोग होते हैं।

चरक ने धमनी सिरा मे यह भेद लिखा है। ( ध्मानाद्धमन्य:, स्रवणात् स्रोतासि, सरणात् सिरा:) सारे शरीर मे सब रस-रक्तादि धातुओ को केदार-कुल्या न्याय से पुष्टि, स्थिति यह स्रोतादि करते हैं।

षष्ठ मास मे गर्भ शरीर गर्भिणी को दुर्बल करते हुए अपना बल वर्ण बढ़ाता है। उस समय उसकी गुदा ४॥ अंगुल लम्बे शंख की त्रिवलि समान

होती है जिसमें प्रवाहिणी और उत्सर्जिनी १॥-१॥ अंगुल होती है और संवरणी १ अंगुल तथा गुद-ओष्ठ आधे अंगुल होता है।

सप्तम मास मे शरीर के कुल अवयव वृद्धि पाते है और शरीर का प्रमाण उसकी अपनी अंगु-लियो से इसप्रकार होता है। शिर का विस्तार गोलाई ३२ अंगुल और ऊंचा १६ अगुल होता है, मुख-छिद्र पंचागुल और ठोडी, होठ, कान, नाक, ललाट का विस्तार ४ अंगुल रहता है। चहरा २४ अंगुल विस्तार का और १२ अंगुल ऊंचा तथा पृष्ठ और कक्षा का प्रमाण १८ अगुल होता है। वक्षस्थल २४ अंगुल विशाल और १२ अगुल ऊंचा। उदर १२ अगुल का, कटि १६ अंगुल और भग १२अंगुल। इसी प्रकार प्रत्येक अङ्गों का वर्णन महर्षि चरक ने शारीर ज्ञान के लिये किया है।

अष्टम मास मे शरीर वन जाने पर, ओज धातु माता और वच्चे में परस्पर संचार करने कभी बच्चा मुदित और कभी माता प्रसन्न होती है। यदि उसी मास मे बच्चा उत्पन्न होगा तो जीवन यात्रा न करेगा क्योकि ओज चलायमान रहता है।

गर्भाधान से सृष्टि का प्रारम्भ होता है और वाल्यावस्था शरीर मे सतयुग के समान होती है। यौवन त्रेता समान है। द्वापर वृद्धावस्था है और रोग ही कलियुग है। मृत्यु होना ही युगान्त प्रलय है। यह शीघ्र न हो इसीलिए अनेक मन्त्रौषधि और तन्त्र अष्टम मास मे करने चाहिये। इसप्रकार शरीर रचना होकर, नवम या दशम मास मे हृदय वन्धन खुल जाने पर कोख मे शिथिलता होजाती है। तव वच्चे के उत्पन्न होने का समय है और उस वक्त यह मनुष्य शरीर प्रकाश मे आता है। इसके वाद का वर्णन आगे विस्तार से देखिये।

## "शारीरांक" अगस्त-सितम्बर का विशेषांक न समझ-

# जनवरी-फरवरी १९३८

का विशेषांक समझना चाहिये। धन्वन्तरि के 'लेट' होने के प्रश्न ने हमें विकट परिस्थित मे डाल दिया। इसे हमेशा को दूर करने के लिये हम वर्ष १३ को जून १९३७ से प्रारम्भ न कर जनवरी १९३८ से प्रारम्भ कर रहे हैं। पाठक इस विशेषाक को वर्ष १३ का प्रथम एव दूसरा ( जनवरी-फरवरी १९३८ का ) अक ही समझे। तीसरा मार्च का अंक मार्च मे ही भेज दिया जायगा और आगे के अंक भी प्रति-मास ठीक समय पर रवाना होकर वर्ष दिसम्बर सन् १९३८ मे समाप्त होगा। जिन महानुभावों का चन्दा मनियार्डर द्वारा आचुका है, अथवा जो इस विशेषाक की वी पी ले लेगे उनकी सेवा मे दिसम्बर तक अंक वरावर पहुचते रहेंगे।

पूरा विवरण अन्यंत्र छपा है उसे भी अवश्य पढ़ लीजियेगा।

# यह मानव शरीर !

जिसमें-

नेत्र नासा, कर्ण, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, मुख ( जिह्वा ) हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं, हृदय इन्हें प्राण देता है और मस्तिष्क इनका ज्ञान अनुभव करता है, सदा शुभ गति को ग्रहण करे।

प्रति-पल ७ वार, अर्थात् प्रति मिनट १७ वार श्वास लेते हुए यह दिन-रात मे लगभग २१६०० श्वासें लेता रहता है और इस तरह के २१६०० या इससे भी ड्योढ़े दिन जीवित रहता है। भगवन् हमारा वह दिन और उसकी प्रत्येक श्वास हमे सन्मार्ग पर वढ़ाने वाली ही हो।

\+ + +

हमारा हृदय प्रति-मिनट ७२-७३ वार धड़कता रहता है, अर्थात् सिकुड़-सिकुड़कर फैलता है। वह हर धड़क मे ८ तोले ( ३॥ औंस के लगभग ) रुधिर महाधमनी मे धकेल देता है और इतना ही महासिराओं से खींच लेता है। वह रक्त वड़ी धमनियों मे १ फुट प्रति सैकेंड – अर्थात् १ मील प्रति-घंटा की चाल से दौड़ता है और वारीक केशिका रगों में मिनट भर मे सिर्फ १-२ इंच चलता है। अर्थात् उसकी चाल ४०० गुनी मन्द होजाती है। इसीसे वहा रक्त मे से श्लेष्मा रिस-रिस कर जीवाणुओं के आस-पास भर जाता और उनका पोषण करता है।

\+ + +

इन जीवाणुओं की सूक्ष्मता भी हैरान करती है। सबसे बड़े – पेशियों के जीवाणु कुल १-२ इंच लम्वे और एक इंच का ४०० वा भाग चौड़े होते हैं। वाल से भी वारीक। और फिर उन पर भी धारियां पड़ी होती हैं। विनाधारी वाले पेशी-अणु तो कुल इतने लम्वे होते हैं जितनी एक वाल की चौडाई। एक इंच का ४-५०० वां भाग। और उनकी मोटाई इससे भी ६ गुनी कम — १ इंच का ३००० वां हिस्सा होती है।

\+ + +

नाड़ियों के सूत्र तो इनसे भी वढ़कर १ इंच के २००० से १२००० वे भाग मात्र मोटे होते हैं, कहां तक कल्पना करे। वे एक हजार तार मिलाकर रखे जायं तव सूत जितने हों। और वे भी इतने मजवूत हैं कि हरदम खिंचते रहने पर भी टूटने का नाम नहीं लेते। इन सूत्रों को चलाने वाले नाडियों के जीवाणु – वाताणु — १ इंच के २५० से ६०० वे भाग तक नन्हे होते है और फिर 'समझदार' होते हैं। वे ज्ञान ग्रहण करते और आज्ञा पालन करते हैं। उनकी आज्ञा या वेदना भी एक सैकंड मे १०० फीट – अर्थात् पलभर में ८०० गज की चाल से दौड़ जाती है। रक्त की रगो – धमनियों मे नाड़ी की चाल इससे तिहाई – ३० फीट प्रति सैकंड होती है। रक्त-वहाओं मे सबसे चौड़ी महाधमनी – १ इंच चौड़ी ( गोलाई मे ३। इंच ) है और सबसे

वारीक – दिमाग की केशिकायें एक इंच के ३००० से ८००० वे भाग तक पतली होती हैं।

+ + +

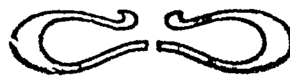
हमारी त्वचा का ऊपरी पर्त्त, उपचर्म की ढके रहने वाली सेले एक इंच के सहस्रांश से ३००० वे अश तक वारीक होती हैं और उनमे से रसीली झिल्लियो के अन्दर – श्वासमार्ग मे निकले हुए वारीक-वारीक रोंये ( *Cilia* ) भी इंच का ३००० वां भाग ही लम्बे होते हैं। वही जब मिलकर जोर लगाते हैं तो कफ का १००-२०० रत्ती लोंदा, खीचकर वाहर फेक देते हैं। हमारे आमाशय और आंतों की दीवार के अन्दर – रस बनाने वाली गिल्टियां भी इतनी वारीक हैं कि उनकी लम्बाई १ इच का ३० वां भाग और मोटाई तो कुल ४००० वा हिस्सा होगी।

+ + +

इतने वारीक वारीक–जीवित–पुर्जों से बनी हुई यह महा-पेचीदा मशीन–स्वस्थ युवावस्था मे १४० पौंड ( लगभग १॥। मन ) भारी होती है। इसमे ३० सेर मास-पेशिया और डोरिया होती हैं, ११-१२ सेर हड्डियां, १॥ सेर दिमाग, १॥ सेर जिगर ( कलेजा ) ५ छटाक का 'दिल' और २-२ छटांक के दोनों गुर्दे। इन सबको वनाने और कायम रखने वाला ४–४॥ सेर रक्त शरीर मे हर दम दौडता रहता है और ठीक एक पल ( २३-२५ सैकड ) समय मे समस्त शरीर की गश्त लगा आता है। यह शरीर का तापक्रम ९८॥ फारनहाइट या ३७ शतांश डिग्री पर बनाये रखता है और इससे ५ डिग्री नीचे या १० डिग्री ऊपर होजाना ही मौत की घंटी है। रोजाना ४०० से १४०० केलोरी तक ताप हम खर्च कर देते हैं – उसे २४०० से ५४०० केलोरी तक गर्मी वाले भोजन द्वारा ग्रहण कर-करके यह रुधिर की रेल ही हमारा खेल चला रही है।

+ + + +

गुर्दे इस रक्त में से नित्य १॥ सेर मूत्र रूपी मैल छांट निकालते हैं और जिगर भी १। सेर के लगभग पित्त रक्त मे से खींच बहाता है। फिर भी कुछ कसर रह जाय तो त्वचा गुर्दे, जिगर, और फेफड़े तीनों का काम करती रहती है। वह नित्य १० छटांक पसीना निकालती है, १ औंस ( आधी-छटांक ) कर्बन गैस और इतने ही ठोस पदार्थ। वह अपने जीवाणुओं को पीला रखने के लिये न्यूनाधिक 'भ्राजक' पित्त भी लेती रहती है, और इस तमाम कारखाने को गर्मी–सर्दी, नोच-खसोट गन्दगी और रोगाणुओं से बचाये रखती है। वह सूर्य की रश्मियों से जीवन कण लेलेती है और चन्द्रमा की शीतल किरणो से पीयूप–रस। वही हमारे शरीरों को इतना सुन्दर, रूप और विलास का सागर दिखाती है, अन्यथा–इस पर्दे के अन्दर जो कुछ तथ्य है, उसकी ओर देखते ही रोमांच हो आने लगें। 'दोष-धातु-मल-मूलं' हि शरीरं को ऐसा आकर्षक वना देना इसी का काम है– जिस पर प्रेमी–प्रेमिका या अनुयायी अपना तन–मन–धन और जीवन सब कुछ निछावर करदे।



# मनुष्य-शरीर

लेखक- डा० गणपतिचन्द्र केला विशारद, साहित्य रत्नाकर G, &, S, M.,

संपादक-"धन्वन्तरि" "अंग्रेजी शिक्षक" और "अर्जुन"; विजयगढ़ [अलीगढ़]

[ शरीर-रचना ऐसा विषय है कि भिन्न--भिन्न अङ्ग या क्रियाओं का वर्णन एक क्रम में आने पर ही समझ मे अच्छा बैठता है। अतएव जिन-जिन विषयों पर माननीय विद्वानों के लेख प्राप्त हुये-उन सबको यथा-क्रम रखते हुए--शेष सब अङ्गों की यह संपादकीय पूर्ति शुरू से अंत तक की गई है। बीच-बीच में जहां जिनका लेख है वहां प्रारम्भ या अन्त मे उनका शुभ नाम है, शेष सब सेवक की रचना है। उसमें भी जो कुछ उत्तम है वह पूर्ववर्ती आचार्यों का प्रसाद है और जो कुछ त्रुटि हो वह लेखक का अज्ञान है- जिसका वह उत्तरदायी भी है। ]

"विज्ञों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।
जानूं उसका भेद, भला क्या? मैं अज्ञानी,, ।।



श्री वृन्दावन धाम के प्रख्यात साहित्य-कार भाई भगवानदास जी केला ने 'भारतीय-चिंतन' में इस आशय का एक वाक्य लिखा है कि—"जब मैं पैदा ही हुआ था अपनी उत्पादिका और आधार—माता को जानना हा, फिर पिता, भ्राता, बहिनें और खिलाने वालों जाना, अपने खिलौनें-पालने और मकान जानने की चेष्टा की, कुछ और बड़ा होने पर मुहल्ला और उसके बालक जाने, फिर स्कूल जाना और उसकी अनेकों सामग्रियां, कालेज के मित्र, सभा-संगठन और आंदोलन समझे और विवाह होजाने पर स्त्री तथा रिश्तेदारों को भी भली-भांति जानना चाहा, पड़ौसी और प्रतिद्वन्दियों का ज्ञान प्राप्त किया और फिर जिला, प्रांत, देश और विदेशों की दशा भी समझी। परन्तु-इन सब छोटे-बड़े वृत्तों का [illegible]

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

जानते-जानते इनके केन्द्र मे बैठा "मैं" तो रह ही गया। मैं खुद कैसे बना, कैसे चल रहा हूं, क्यों कर चलना है और वह-सब किसलिये? ये बातें मैं कभी सोच ही न पाया।

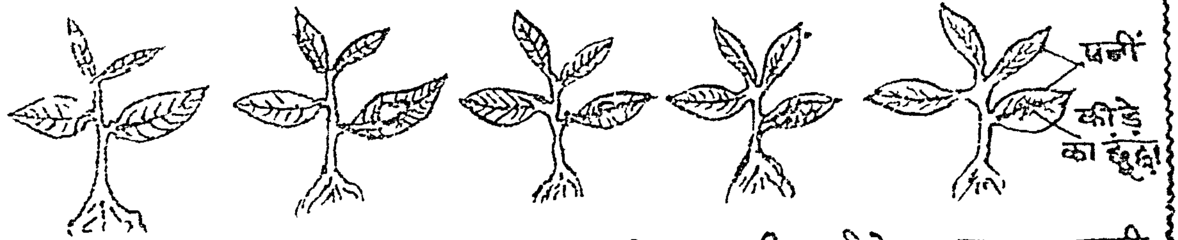
यह बात निकली भी कुछ कठिन। आंख सबको देखती है, मगर अपने आपको कैसे देखे? दिल सबकी तह टटोलता है परन्तु स्वयं अपनी तह कैसे टटोले? यह शरीर बाहर की सब रचना देखता है, पर अपनी रचना कैसे देखे।

और फिर शरीर-शरीर मे अन्तर है। मुण्डे २ मति-भिन्नता है, तथा हर एक की शक्ति और शान निराली है। कोई-२० सेर भार उठाने मे मोच खाजाता है, कोई २० धड़ी की बोरी फेंक देता है, तब पेशियो का बल कितना बखाना जाय। कोई १ फर्लाङ्ग की आवाज़ नहीं सुन सकता, कोई १००० मील का रेडियो 'रिसीव' कर लेता है। कोई गले मे तिनके की रगड़ से तङ्ग हो जाता है और कोई लकड़ी तथा कांच, चवा जाता है। ऐसे विचित्र व्यक्ति भी भुला दें तो कोई मनुष्य अपना घर भी नही सभाल पाता, कोई एक विगड़े हुए देश को सभाल लेता है। कोई ४ की जगह ६ रोटियां नही खासकता और दूसरे का मेदा २-४ सेर मजे मे भर लेता है। कोई बीसियो घाव खाकर भी उठ बैठता है और कोई एक चोट मे ही 'टें' हो जाता है। ऐसे भी विचित्र व्यक्ति हमने देखे है जिनके 'दिल' ही दुनियां से उल्टा—दाहिनी ओर— है।

[ १ ] ऐसी दशा मे—दावे और सर्वज्ञता के साथ इस शरीर यन्त्र के विपय मे कह देना अपना 'अज्ञानाश्रित दुराग्रह' ही हो सकता है। जो कुछ भी कहा जा सकता है वह या तो अनुभव से या अनुमान से। कई बातें ऐसी हैं जिनका अनुमान ही हो सकता है, तर्क द्वारा ही मालूम होती है, विज्ञान के आविष्कृत उपायों से प्रत्यक्ष नही होतीं, और कई बाते ऐसी भी है जो तर्क या अनुमान पर चढ़ती ही नही, मगर होती अवश्य है। सम्भव है आगे अनुसन्धानों से इनका भी समाधान हो जाय। परन्तु अभी तो कही प्रमाण और कहीं अनुभव एवं अनुमान का आश्रय लेते हुये चल सकते है और उस पर फूंक-फूंक कर पैर रखते हुये, यह 'शरीर', 'शरीर' का ही वर्णन करता है।

[ २ ] शारीर-शास्त्र का ज्ञान चिकित्सक ही क्या हर व्यक्ति को आवश्यक है। हम दुनियां भर की वातें सीखते और उसे लाभदायक वताते हैं। पृथ्वी पर कहां पर्वत है, कहां नदी-नाले और ब्रह्मांड मे कहां-कौन नक्षत्र किस गति से घूम रहा है, यह भी हम जानते हैं। परन्तु उससे भी कही अधिक काम आने वाले इस पिंड का भेद हम न जाने तो कितना आश्चर्य है। इसमे कहां कठोर अङ्ग है, कहां कोमल, कहा कौनसी नस—नाड़ी है और उसमे क्या पदार्थ या काम होता है, यह जाने बिना, न तो चिकित्सा ही हो सकती है और न—सार-संभाल ही। अत. शरीर की रचना और उसकी क्रियाऐं जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। यह सब 'शारीर-शास्त्र' मे आता है।

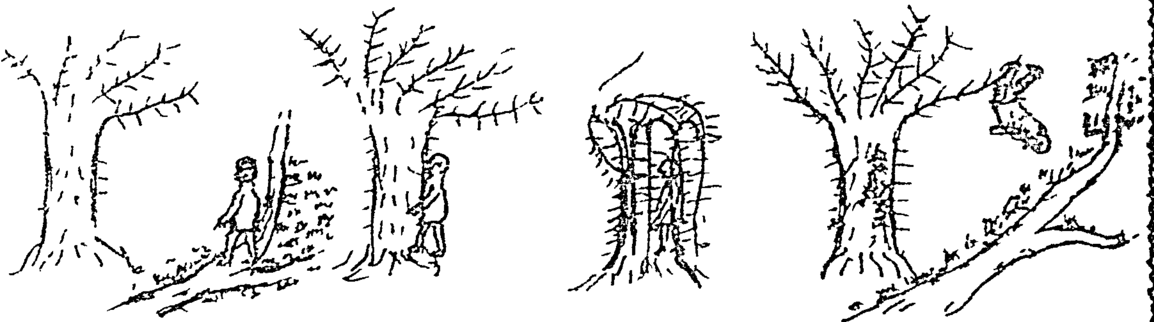
शरीर रचना और उसके कार्य जानने के लिये थोड़ा-बहुत रसायन और यन्त्र शास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक है। जो महानुभाव उसे न जानते हों वे इस विपय की बातों को और भी ध्यान से पढ़ कर विचारें या किसी जानकार से समझ लेने का कष्ट करें। कोशिश यह की जायगी कि वे बातें काफी समझाते चले जायं, फिर भी उसकी सारी प्रक्रिया समझाने योग्य स्थान तो नहीं है।




१. कीड़ा भक्षी पेड़ — २. पत्ती पर कीड़ा आया　३. पत्ती भिंचने लगीं　४. कीड़ा पत्ती मे भिंच गया　५. रक्त चूसकर पत्ती खुल गई।



२. कीड़ा भक्षी फूल — पत्ती पर आते ही — कीड़ा फूल मे जा गिरा।　फूल मे पानी था उसमे रक्त घुल गया　वह पानी — पेड़ सोख गया　कीड़े की ठूंठ और नया पानी



३. नरभक्षी पेड़ —

१. एक राहगीर उधर आ निकला

२. पेड़ ने जोर की सांस खींची उससे वह — व्यक्ति तने से जा लगा।

३. झट तमाम कांटेदार डालियां आ झुकी — और उसका रक्त कांटे सोख गये

ठूंठ लाश दूर फेंक दी गई और नई शिकार को तैयार।

ऐसे पेड़ अफ्रीका के 'सहारा' मरुस्थल में अनेक थे।

ये अमीबा की भांति गंध और स्पर्श से ही अपना भक्ष्य पहिचानते और शिकार कर लेते है।

(वाक्य ४ पृ० २४७)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

इसी प्रकार संसार में जो भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज और प्रथायें चलती है उनका भी शरीर से बड़ा संबन्ध होता है। प्राय: शरीर को हानि-लाभ होने के बार-बार अनुभव पाकर ही वे बातें निश्चित की गई होंगी। परन्तु अब उनमें कई प्रथायें बिगड़े रूप मे चल रही है। अत: उनका भी यथा अवसर विचार करेंगे।

[ ३ ] यह जगत महा अचल दीखने वाले जड़ पदार्थों से लेकर हर समय चलायमान महाशक्ति तक सब तरह के पदार्थों की एक माला हैं। इसमें अचला(पृथ्वी) मिट्टी,पत्थर, पहाड़ ऐसे हैं जो अपनी जगह से न चलते हैं- न बढ़ते हैं। उनके बाद कंकड़ आते हैं जो अपनी जगह पर रहते हुए ही आस-पास से सामग्री ले-लेकर अपना आकार बढ़ाते रहते हैं। फिर वनस्पति का नंबर आता है। इसमे 'काई' ऐसी पौध है जो जमीन बिना ही केवल जल पर पैदा हो जाती है और इतनी सूक्ष्म है कि दूर से पौधे की बजाय हरा रङ्ग मात्र ही दिखाई देती है। इससे भी छोटी कुछ वनस्पतियां होती है और इससे बड़ी तो तमाम हैं ही। मत्स्याक्षी, त्रिवृता, बिल्व, इमली, आम, अरण्ड, कदली आदि छोटे–बड़े पत्ते वाली वनस्पति हैं। उनमें किसी का फूल बौर मात्र रह जाता है, किसी का बढ़ कर गुलाब जैसा होता है किसी का केला जितना बड़ा। उसके बाद किसी के फूल की मींगी मुरझा कर न कुछ रह जाती है, किसी की मींगी अनार की भांति बढ़ कर फल बन जाती है और किसी की कदली जैसा फलों का भारी गुच्छा। किसी का ऊपरी भाग खूब बढ़ता है, किसी की जड़। कोई आकाश बेल जैसी-पत्र-पुष्पों से रहित भी खूब फैल जाती है। किसी वृक्ष से वट जैसी जटाये निकल कर ही उस पेड़ का विस्तार बढ़ाती जाती हैं। इस प्रकार अनेक रूप गुणों वाला वनस्पति-वर्ग संसार में प्रसिद्ध है। वह पृथ्वी, जल और वायु से तत्व ले-लेकर अपना आकार बढ़ाती रही हैं और अपनी जाति के ही अन्य पौधे उपजाने वाले फल-रूपी 'बीज' भी देती हैं। परन्तु एक जगह से दूसरी जगह नही जा सकतीं। उनमें चीजों को देखने या पकड़ने की शक्ति भी नजर नही आती।

[ ४ ] परन्तु वनस्पति जगत में कुछ ऐसे भी वृक्ष देखे गये हैं जो देखते या पकड़-धकड़ करते हैं। कलकत्ते के कंपनी बाग में कुछ पौधे हैं, जिनके पत्तों पर कोई मक्खी या चींटा आदि आकर बैठते ही, वे पत्ते डिब्बी की तरह मुड़कर बन्द हो जाते हैं और वह कीड़ा अन्दर ही मार कर उसका खून चूस लिया जाता है। इसके बाद वे पत्ते फिर खुल कर उस कीड़े की छूंछ फेक देते हैं। 'अफ्रीका' में सहारा के भीषण रेगिस्तान मे कुछ साल पहिले तक नरभक्षी पेड़ पचासों खड़े थे। वे यहां तक देखते-सूंघते और पकड़ते थे कि उनसे १०-१० फीट दूर तक भी आदमी जा निकले तो वे पेड़ बड़े जोर से सांस खीचने लगते थे। इतने जोर से कि हवा के साथ वह आदमी या पशु भी खिंचा चला जाता और पेड़ के तने से जा चिपकता। इसके बाद पेड़ की ताड़ के समान ऊंची उठी हुई डालियां एक दम तने से आलगतीं और ताड़ के पत्तों की या नागफनी की भांति निकले हुए उनके कांटे-उस शिकार मनुष्य या प्राणी के शरीर मे धंस जाते। बस वे उसका रक्त-मांस चूस जाते और शेष बचा कंकाल, उन डालियो के फिर उठने के साथ झटक कर, कहीं दूर जा गिरता।

इस प्रकार के चेतन वृक्ष अनेक यात्रियों के प्राण देने के बाद बड़ी कठिनता से काट कर नष्ट किए

गए। दो-एक पेड़ ऐसे भी सुने गये है जो अनुकूल परिस्थिति न होने पर एक जगह छोड़ कर धीरे-धीरे सरकते हुये कुछ दूर भी चले जाते है।

(५) इनके बाद जूं, चींटी मछली, कछवे, भैंस, गाय, मैंढक, खरगोश, बन्दर और वनमानुष इस प्रकार एक दूसरे से अधिक विकसित अङ्गों वाले "चलते-फिरते" प्राणिवर्ग का नंबर आता है। इनमें जूं या खटमल जैसे है, जिन्हे भोजन और पाचन की डबल झंझट नही करनी पड़ती। केवल तैयार तत्व-'रक्त' पीकर ही काम चलाते है। कुछ ऐसे है जो शृगाल या सिंहो की भांति केवल तैयार मास खाते है। अन्य पशु ऐसे है जो तृण-काष्ठ या फल-मूल खाकर उसका रस, रस से रक्त और रक्त से मासादि वना लेते हैं। इस प्रकार चढ़ते हुये क्रम मे गौ, खरगोश, वानर फिर नर का नंवर आता है। इनमे बानरों मे गोरिल्ला शिंपैंजी जाति के बन्दर बुद्धि मे भी वहुत वढ़े-चढ़े होते हैं। वे मनुष्यों की वहुत सी वातों की झट नकल उतार लेते है। एक बन्दर अफ्रिका मे ट्राम गाड़ी तक चलाता है। कई जगह वंदर डाकखाने मे काम करते है। एक जगह वंदरों ने ऊंचे स्थान पर फल लगे देखे, झट उनमे से एक पर एक चढ़ते हुये वे वहा तक पहुंचे तथा शेष वंदरों ने मीलो दूर तक कतार लगाली। वस ऊपर वाला वन्दर एक-एक फल नीचे वाले को देता गया और वह कतार में आगे को पहुंचाया जाता रहा घंटे भर मे वहां रखे हुये मनों फल ४ मील की दूरी पर पहुंच गये। सुवह माली लोग तलाश करते रह गये; २-१ दिन वाद ४ मील दूर पर गुठलियों का ढेर मिला और मिले वन्दरों के पद चिन्ह। तव पहरे-दारों पर से चोरी का संदेह दूर हुआ।

[ ६ ] इस बानर जाति से भी कुछ और विकसित नर या मानव जाति है। इसमें बुद्धि वल सब से विशेष है और इसके अङ्ग भी अधिक अनु-भवशील हैं। इसी कारण यह प्रकृति की सिरमौर रचना कहा-सुना जाता है। हम इसी जाति में हैं अत' अपने को सर्वोच्च समझने मे हमें कोई आपत्ति ही क्यों होने लगी।

परन्तु यदि हम सब वातों में सब जीवों से उत्कृष्टतम होने की ही धारणा बना वैठे तो हम अपने को गलत समझ वेठेगे। हम अनेक जीवों से अनेक वातो मे कम हैं। चीटी जैसी सूंघने की प्रवल शक्ति मनुष्य में नही हैं। हम तो कहते है कि सोने मे सुगन्ध नहीं होती परन्तु स्वर्ण खननकारी पिपी-लिका तो सोना भी सूंघ लेती और खोद निकालती है। पक्षियों का दिशा-ज्ञान इतना प्रबल होता है कि हजारों मील तक आंखें बन्द करके भी उन्हें उड़ा ले जाने के वाद, जव छोड़ा जाय या वे स्वतन्त्र चल सकें तब अपने घोंसले की ओर ही चल देते है। १६१४-१६ के यूरोपीय महायुद्ध मे जर्मन कवूतरो ने फ्रांस के किलों के फोटो लिये थे– अर्थात् गले मे कैमरा बांधे किलों पर से उड़े थे और फिर सीधे सैकड़ों मील दूर अपने देश जा पहुंचे थे। एक ऐसा अमे-रिकन कबूतर जर्मनी में उड़ रहा था कि उसके गोली लगी। उससे दाहिनी आंख फूट गई और निकल पड़ी। फिर भी वह फ्रांस तक पहुंचा और भेद ठीक जगह पर जा सौंपा। वह वेहोश हो पड़ा मगर इलाज हो गया और अब १६३७ में २७ साल की आयु पाकर मरा है। तमाम अमेरिका में उसका शोक मनाया गया। तात्पर्य यह है कि मनुष्य से भी कई अन्य प्राणियों की कुछ शक्तियां अधिक विक-सित होती है। लङ्गूर किसी छत से कूद- कर दूसरी

छत पर जा रहा हो और वहां उसे खतरा दीख जाय तो, विना सहारा लिये, आकाश में ही उल्टा लौट जाता और अपने पूर्व स्थान पर जा पहुंचता है। ऊंट के मुख में पहुंचते ही वड़े-वड़े कड़े कांटे भी भी गलकर मोम हो जाते हैं। शतपदी (कन-खजूरे) के दो टुकड़े कर दिये जायं तो वे दोनों ही भाग दो ओर को चल देते और कुछ समय में पूरे कनखजूरे हो जाते है। और भृङ्ग वच्चे नहीं देती परन्तु अन्य वर्र-ततैयों के वच्चों को वार-वार अपना रूप दिखाते और गीत सुनाते-सुनाते अपने ही रूप-गुणों का वना लेती है। घोड़े दिन-रात खड़े-खड़े भी वहुधा नही थकते और मकड़ी एवं रेशम के कीडे अपने शरीर से भी अधिक तादाद के सूत्र मुख से निकाल कर उनका क्रम-वद्ध जाला या गुच्छा वना देते हैं। ऐसी अनेकों विशेषताएं नित्य देखी-सुनी जाती हैं, जो मनुष्य में नहीं हैं। फूलों का मधु या वया के जैसा घोंसला भी मनुष्य नहीं वना सकता।

[ ७ ] परन्तु इन सवके मुकाविले मनुष्य में प्रकृति के पदार्थों से अपने मनमाफिक कृत्रिम चीजें वना लेने की शक्ति सवसे विशिष्ट है। इसी कारण वह आज संसार में विल्कुल अनूठी स्थिति वनाये हुये है। वह कपडे वनाकर अपनी कोमल खाल को सुरक्षित(?)कर लेता है। तीर-तलवार वना कर वाघ से भी अधिक तीखे नाखूनो का काम चलाता है। वंदूक, तोप और वमों से दूर वैठे अधिक से अधिक शक्ति शाली जीवों को मार सकता है और डाइनामाइट द्वारा वड़े से वड़े पहाड़ उड़ा सकता है। विजली के टेलीफोन और रेडियो द्वारा वह हजारों मील दूर की वारीक से वारीक आवाज भी सुन सकता है। और कैमरा तथा टेलीवीजन द्वारा हजारों मील दूर के दृश्य देख कर गृद्ध को वीसियों वार मात दे सकता है। उसके वड़े-वड़े विद्युत्-यन्त्र जिनसे मनुष्य जल को वायु वनाते हैं, और वे वायु के जोर से जल निकालते हैं। जड़ लोहा-पीतल को सैंकड़ों मील प्रति घंटा की चाल से उड़ाते और उस पर सवारी गांठते हैं- उनके कागज-कलम और रंगों की आंखों द्वारा महासागर और भूगर्भ तक हर समय नजर में रहता है और उसके रासायनिक अनुसन्धानों ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ भी उसके इन्द्रिय-गोचर कर दिये हैं। इन सव विशेषताओं को उपजाने वाला इसी शरीर में ऊपर वैठा हुआ दस-तोले का दिमाग मात्र है। उसके प्रताप से ५५ सेर का मनुष्य ५५ लाख सेर भारी जल, थल और पर्वताकार पदार्थो को अपनी उंगली के इशारे मात्र से उठा फेंकता है। हम इस अद्भुत मानव-महायन्त्र का ही कुछ दर्शन करेंगे।

[ ८ ] जैसे मशीन अनेक कल-पुर्जो से वनी होती है ऐसे ही शरीर की मशीन भी। इंजन में कही से कोयला पड़ता है, कही से पानी, फिर उस की भाफ वनती है और वह तमाम इंजन को चलाती है। वह दौड़ता है और कोयला-पानी भी साथ २ लिये जाते है। इसी तरह मनुष्य शरीर मे भी भोजन रूपी कोयला-पानी पड़ता है जिससे रक्त रूपी भाफ वन कर शरीर को वल देती है। और शरीर रूपी इंजन-खाना, पानी सव लिये हुए ही दौड़ता-फिरता है। वह जहां कही से नया दाना-पानी पाता है अपने साथ ले-लेता है। और अपने साथ परिवार या समाज रूपी डिव्वों या कम ताकत वाले इंजनों को भी खींच ले जाता है। इस इंजन की विशेषता यह है कि यह अपने आप रास्ता भी देख

लेता है, सोच सकता है कि मुझे किधर जाना चाहिये, या न जाना चाहिये, लड़ जाना चाहिये या लौट जाना और उछलना चाहिये या आराम करना। यह अपना कोयला-पानी स्वयं तलाश कर लेता है और इससे भी बड़ी खूबी यह, कि कुछ खराबी हो जाने पर यह खुद ही अपना मिस्त्री भी बन जाता है। कोई २ शरीर तो अपनी मरम्मत के भी विशेषज्ञ बन जाते हैं, जिन्हें वैद्य, हकीम या डाक्टर कहते हैं।

और भी बड़ी बात यह कि शरीर अपने जैसी ही दूसरी चलती-फिरती मशीन भी बना लेता है, परन्तु उसमें इसका अधिक वश नहीं। उसका निमित्त या साधन मात्र तो यह होता है, शेष काम प्रकृति माता स्वयं कर देती है। इस प्रकार लोग कहते हैं कि शरीर रूपी इंजन, मन्दी या तेज चाल से दौड़ता तो खुद है, परन्तु उसकी "लाइन" प्रारब्ध नामक पदार्थ की पहिले से ही बनी हुई होती है, चाहे वह किसी समय उसने स्वयं ही गढ़ी हो।

[ ९ ] अस्तु–इस यन्त्र में अन्दर कई अवयव होते हैं जिन्हें "अङ्ग" कहते हैं। मस्तिष्क, हृदय पुप्फुस, जिगर, तिल्ली, आमाशय, आंत, और उपस्थ आदि सब अङ्ग हैं। इनमे हर एक अपना खास काम करते हैं और वह सब इस शरीर-इंजिन के कार्य मे सहायक होते हैं।

[ १० ] कभी-कभी बहुत से अङ्ग मिल कर एक काम पूरा करते हैं। जैसे- दांत, आमाशय, आंत और यकृत मिल कर भोजन को चबाने, पचाने का काम पूरा करते हैं, नासिका, कंठ, फुप्फुस आदि मिल कर श्वास का काम करते हैं और दिल, फेफड़े, धमनी और शिरा आदि नलियां तथा तिल्ली-गुर्दे आदि मिल कर रक्त का चक्कर ठीक रखते हैं। इनकी सैट को एक-एक "संस्थान" या "मण्डल" कहा जाता है। जैसे—पाचन-संस्थान, श्वास-संस्थान, रक्त-संस्थान, नाड़ी-मण्डल आदि। जो कई अङ्ग मिल कर एक बड़ा काम पूरा करते हों तो उस संस्थान का नाम लेदेने से उन सब अङ्गों से मतलब समझा जाता है।

[ ११ ] जैसे- एक मकान में ईंट, चूना, लकड़ी, लोहा आदि कई तरह की चीजें लगाई जाती हैं, जहां जैसा ज़ोर पड़ता हो वहां उसी मतलब की वस्तु लगाते हैं। और ऊपर से शोभा के लिये रोगन भी कर देते हैं, उसी तरह शरीर मे तरह-तरह के मसाले होते हैं- जिन्हें तत्व कहते हैं। इन्हें कोई लोग रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ऐसे सात धातुओं मे बांटते हैं। कोई पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्वों मे ही विभक्त करते हैं और कोई उसे उदजन, ओषजन, नत्रजन, कर्बन आदि गैसों, लौह, स्फुर, खटिक, आदि धातुओं तथा विद्युत, ऊष्मा आदि शक्तियों का सम्मेलन गिनते हैं।

विचार तीनों का ही सत्य है। अन्तर केवल सामानों के श्रेणी-विभाजन में है। जैसे एक प्रदर्शनी में रखी हुई चीज़ों को चाहे पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, धातुएं, सूत, रेशम आदि जिन चीज़ों से बनी हों उस हिसाब से बांट लें, चाहे गरम, ठंडी, गलने वाली, घुल जाने वाली, ठोस और उड़नशील पदार्थों के क्रम से छांटलें। चाहे बारीक, मोटे, मजबूत, कमजोर, सीधे-सादे और ग्रामीण इस प्रकार उपयोगिता के अनुसार विभक्त कर दें। इसका

सामंजस्य करने का कुछ भी प्रयास न करके जो एक दूसरे को झूठा बताने की प्रथा चल रही है, वह वास्तव में दुखजनक है।

[ १२ ] अन्योन्याश्रय संवन्ध—

इस प्रकार जड़-जगत में उदूजन आदि वायव्य-पदार्थों से लेकर लौह खटिक, नमक तक ठोस वस्तुऐं और मिट्टी आदि समस्त पृथ्वी तत्व आजाता है। उसमें जल अग्नि और वायु के अंश होते ही हैं। संपूर्ण सृष्टि का यह मूल और आधार है। इन तत्वों को पेड़ों की जड़ें ग्रहण करती हैं। कई वृक्ष ऐसी चीजें अधिक लेते हैं जो जल में घुली हुई दशा मे हों, और कई वृक्षों की जड़ें बिल्कुल सूखी मिट्टी मे से भी उसमें मिले हुए चूना, लौह, स्फुर आदि तत्वों को चुग लेती हैं। इसी के अनुसार उन पेड़ों की जड़ से जो रस बन कर ऊपर को चलता है, वह भिन्न-भिन्न भांति का होता है और उस पेड़ का आकार-प्रकार तथा उसके फल-फूलों का गन्ध-स्वाद और स्वरूप भी उसी के अनुसार अन्य जातीय पेड़ों से अलग होता है। आम की जड़ें जो तत्व- जैसी तादाद में चूसती हैं, ईख उसी प्रकार नहीं चूसती। चावल [ धान ] तीसरी तरह के ही तत्व अधिक लेते हैं। यही कारण है कि जिस भूमि में एक भांति के पेड़ नहीं होते उसी में दूसरी भांति के खूब होते हैं। जहां चूने का अंश अधिक हो वहां ईख बहुत और बढ़िया होती है और जहां जल या सील अधिक हो वहां चावल मजे में फसल देता है। जहां जल की कमी हो वहां छोटा सा चावल (धान) नहीं रह सकता, केला नहीं फलता-फूलता परन्तु इतना बड़ा बबूल, अम्ली, पीलू, गूंदी, छोंकर और करीर खूब होजाता है और बढ़िया भी होता है।

[ १३ ] इस प्रकार जड़ें एक विशेष प्रकार का रस बनाकर ऊपर को फेंकती रहती हैं। वह पेड़ की पतली-पतली नसों में होते हुए-तने के मार्ग से उसकी बड़ी शाखाओं मे पहुंचता है। वहां से छोटी डालियों और टहनियों में होता हुआ बारीक बारीक पत्तियों तक पहुंचता है। पत्तियां पेड़ों के फुफ्फुस हैं। उनमें बाहर से वायु लगती रहती ही है। उसमें से 'नत्रजन' (*Nitrogen*) ले-लेकर वे अपने रस को फल-फूलों के योग्य बना देती हैं और फिर वह रस आगे टहनी की नोक तक जाता है। वहां बौर या फूल होता है, या उनका 'फल' बन रहा होता है। वह रस उसकी पुष्टि करता है। पत्तियों से टकरा कर जो वायु लौटती है। उसमें से नत्रजन कम हो जाता है। और 'ओपजन' [*Oxygen*] अधिक होता है। पेड़ फल-फूलों के रूप में जो पदार्थ देते हैं उनमें नत्रजन खूब होता है।

[१४] अब प्राणीवर्ग इससे उलटा है। वह श्वास में हर समय जो वायु लेता है उसकी 'ओपजन' शरीर में रख लेता है। तथा कर्बनद्विओपिद गैस बाहर निकालता है। यह कार्बन का एक जलता हुआ रूप है। कार्बन वनस्पतियों का प्रधान आधार है। दूसरे-वनस्पतियां जिन नत्रजन-युक्त पदार्थ को फलों के रूप में देती हैं, वह प्राणियों के शरीर का मुख्य आधार है। हमारे शरीर की कई चीजें नत्रजन ( *Nitrogen* ) के यौगिकों से बनती हैं। इस प्रकार जो चीज हम प्राणियों को चाहिये वही वनस्पति जगत छोड़ते हैं और जो हम त्यागते हैं वह उनको चाहिये। जैसे हम घास नहीं खा सकते परन्तु दूध पी सकते हैं और गौ-माता घास खाकर हमारे लिये दूध बना देती है, वैसे ही जिन मिट्टी, चूना, लौह को हम सीधा नही खा सकते उन्हें वन-

स्पति जगत खाकर हमारे लिये उपयोगी नत्रजनीय पदार्थ और ओपजन प्रदान करते हैं।

[१५] इसके विपरीत हम तमाम खाद्य पेय पदार्थों से अपने काम की चीजें ले-लेने के बाद 'मल' रूप में जो छूंछा त्यागते हैं, वह जड़ पदार्थ होता है और उसमें पृथ्वी तत्व की अनेक चीजें और नत्रजन आदि होती हैं। उसे हम 'खाद' [*Manure*] कहते हैं। वनस्पति जगत उन्हीं पदार्थों से अपनी जीविका चलाता है। अर्थात् जड़ पदार्थों और वायु से वनस्पति हमारे काम की चीजें मुहैया कर देते हैं। और हमसे परित्यक्त-हमारे लिये बेकार और हमारे 'मल' पदार्थों से अपना काम चला लेते हैं। कितने महान उपकारी हैं ये पेड़-पौधे और प्रकृति का कैसा सुन्दर यह 'चक्र' है। हम भी जीते हैं और पेड़ भी। हमें भी अन्न चाहिए और उन्हें भी तथा जल-वायु हमारे भी आधार हैं और पेड़ों के भी। परन्तु परमात्मा की लीला, जो कार्बन हमें घातक है, वही उनको जीवन है और जो 'ओपजन' हमें चाहिए-उसी को वे प्रदान करते हैं। कहीं ये विशालकाय पेड़-पौधे भी 'ओपजन' के सहारे होते तो आज हम कहां होते? परन्तु भगवान की माया कि आज एक भी पेड़ हमारे द्वार पर हो तो हमें हर समय विशुद्ध प्राणवायु देते हैं, पोषक फल-फूल देते हैं, धूप और वर्षा में छांह देते हैं और सूखने पर भी ईंधन और इमारती सामान देते हैं। बदले में मांगते हैं हमसे केवल थोड़ा जल और वह भी न बने तो केवल 'प्रेम', कि हम उन्हें उन्हीं की लकड़ी जड़े कुल्हाड़े से काटें न कोई।

## (१६) शरीर के रासायनिक तत्व –

इस प्रकार शरीर को जिन रासायनिक तत्वों की जरूरत पड़ती है उनमें अधिकांश पेड़-पौधों से आते हैं, या उनके साथ कोई गैस मिलकर बन जाते हैं। उनका कुछ विवरण यहां समझ लेना अच्छा होगा।

रसायन के अनुसार तमाम पदार्थों के दो विभाग हैं।

१–तत्व अर्थात् ऐलीमेंट [*Elements*]
२–यौगिक अर्थात् कंपाउंड [*Compounds*]

तत्व – वे सादा पदार्थ हैं जो विभक्त नहीं होसकते। अर्थात् उन्हें कितना ही बारीक काटा-पीसा जावे उनसे वही पदार्थ निकलेगा, दूसरा नहीं। जैसे गन्धक, लोहा, चूना, स्फुर (*Phopshorus*) सोना, पारा आदि खनिज ओपजन, उद्जन (*Hydrogen*) आदि वायव्य और नमक आदि वे भी पदार्थ जो ठोस होने पर भी जल में घुल जाते हैं।

यौगिक-- वे पदार्थ हैं जो २ या अधिक ऊपर कहे तत्वों से मिल कर बने हों। परन्तु यह मिलाप इस तरह का होता है कि साधारण प्रयत्न से तोड़ने पर भी वह मिश्रण उसी दशा मे रहता है। हां, रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा उस यौगिक में मिले हुए तत्व अलग-अलग भी किये जासकते हैं।

साथ ही यौगिक जिन तत्वो से मिलकर बना हो उन्हीं के गुणों वाला वह नहीं रहता। दो ठंडी चीजों मे मिल कर बना हुआ यौगिक-उष्ण प्रकृति का भी होसकता है और दो जलने वाले तत्वों के मिलने से बना हुआ यौगिक स्वयं आग बुझाने वाला भी होसकता है। नित्य काम आने वाला 'जल' ही इसका उदाहरण है। उसे वैसे तो विभक्त नहीं किया जा सकता चाहे कितना ही बारीक बांटा जाय। परन्तु जल मे बिजली पहुंचाने से उसका विश्लेषण

## संसार का वायु-चक्र (गैसों का विनियोग)





उद्जन का मार्ग ———
ओषजन का मार्ग . . .
नत्रजन के द्रव्यों का मार्ग - - - - - -
कार्बन के द्रव्यों का मार्ग ○○○○○○○○○○ ऐसे बिंदुओं से दिखाया है। और रुख → तीरों से।

(पृ० १५२)

इस संसार चक्र का मध्यवर्ती आधार गौ (हैवानात) है जो मनुष्य (इंसान) को दूध और अन्न तथा वनस्पति (नबातात) को खाद उपजाती है।

हो जाता है तब पता चलता है कि वह उद्जन ( *Hydrogen* ) और ओषजन ( *Oxygen* ) नामक दो गैसों का यौगिक था और विचित्रता यह कि ये दोनों ही गैसें दाहक हैं। उद्जन जल उठने वाली गैस है और ओषजन जलाने वाली। परन्तु दोनों का यौगिक "जल" जलन शांत करने वाला पदार्थ बन जाता है।

३--मिश्रण--यह कोई स्वतन्त्र भेद नहीं। दो या अधिक तत्व मिलने पर भी यदि ऐसे रहें कि सहज ही अलग २ किये जासके तो उसे मिश्रण ( *Mixture* मिक्चर ) कहते हैं। उसमे उसके तमाम तत्वों के गुण भी ज्यों के त्यों रहते है। जैसे रेतीला शर्बत या सांभर का पानी। शर्बत में चीनी का मिठास, जल की ठण्डक और पतलापन तथा रेती की किरकिराहट तीनों रहते हैं। अब उसे छान लें तो रेती छूट जायगी। फिर उबालें तो जल उड़ जायगा और खांड भी रह जायगी। तीनों चीजे सहज ही अलग होगईं और उनका स्वाद-गुण वही है जो उस मिश्रण में मौजूद था। सांभरलेक का खारी पानी उबाले, तो नमक अलग रह जायगा और पानी अलग उड़ आवेगा। यह मिश्रण हुआ जिसमें सम्मिलित पदार्थ अपनी अलग-अलग सत्ता रखते हैं। इसीसे उसे तत्वों से अलग भेद नहीं माना। अन्यथा- ३ भेद हैं:—

[१] मूल तत्व- } तत्व ( *Element*
[२] मिश्रण } ,, *mixture* )
[३] यौगिक— *Compounds,*

( १८ ) अब तक ६३ तत्वों का पता चला है और मनुष्य शरीर में भी उनका थोड़ा बहुत अंश होगा ही-यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे- परन्तु यन्त्रों और परीक्षणों से अब तक उनमें से केवल कुछ ही तत्व शरीर में पाये गये हैं। यथा-ओषजन, नत्रजन उद्जन ये गैसें (वायव्य), कार्बन, गन्धक, स्फुर (फास्फोरस)लवण, हरिन(क्लोरिन), पुटास्यिम, चूना, मेग्नेशियम, लौह, सेलखड़ी, फ्लुओरिन, लिथियम और मैंगेनीज़। पारद का कुछ अंश भी शरीर में, विशेषत: मस्तिष्क में, रहता है परन्तु इतना सूक्ष्म जो अनुभव नहीं होता-केवल अनुमान से जाना जाता है।

इन तत्वों में से चार वायव्य (गैसें) बहुत महत्वपूर्ण हैं जैसे-

(१९) ओषजन ( आक्सीजन--*Oxygen*, संकेत *O* ) यह गैस वायुमण्डल मे-नाप के हिसाब से-पञ्चमांश स्थान घेरे हुए है अर्थात् ५ बोतल वायु ले तो उसमें १ बोतल भर ओषजन निकलेगी और ४ बोतल भर 'नाइट्रोजन'। इससे चीजों को जलने में मदद मिलती है और प्राणी मात्र को यह बहुत जरूरी है। फुफ्फुस के वायुकोषों मे और रुधिर में यह कुछ स्वतन्त्र ( अकेली यानी अमिश्रित-खालिस दशा ) में भी पाई जाती है। परन्तु अधिकतर यह रक्त के लाल अणुओं में किसी अन्य तत्व के साथ घुली-मिली रहती है। यह 'वायु' ही शरीर की रग-रग में पहुंच कर उसे प्राण और क्रिया-शक्ति देती है। शरीर को बनाने वाले रक्त, मांस, चर्बी आदि कई पदार्थों में भी यह थोड़ी बहुत मिली होती है।

( २० ) नत्रजन (नाइट्रोजन *Nitrogen* संकेत *N* ) यह एक जड़ गैस है ( कुछ करती-धरती नहीं ) और वायुमण्डल में-नाप के अनुसार चार-पञ्चमाश ( *4/5* ) स्थान घेरे रहती है। यह फेफड़े के अन्दर की वायु में 'ओषजन' में अलग

होकर भी रहती है और थोड़ी सी रक्त में भी घुली रहती है। अन्य तत्वो के साथ तो यह शरीर के अनेक उपादानों मे मिली रहती है। परन्तु यह न जलती है, न जलाती है न और कुछ खास क्रिया करती है।

( २१ ) उद्जन ( हाइड्रोजन *Hydrogen* संकेत *H* ) यह सबसे हलकी गैस है। ओक्सीजन से भी अधिक जल्द जलने वाली है, और जब यह वायु में जलती है ( वायोरग्ने ) तो 'ओषजन' के साथ मिलती है। मगर परमात्मा की लीला -इस संयोग से बनता है शीतल 'जल' ("अग्नेराप:")। इसलिये इसे जल-जनक गैस [ उद्जन ] कहते है। इससे यह भी समझा जा सकता है कि वायु से अग्नि तत्व और उस अग्नि से विपरीतधर्मा जल तत्व कैसे उत्पन्न हुआ। यह थोडी सी आतो मे अकेली भी रहती है। जो अपान वायु के रूप मे बाहर निकला करती है। अन्यथा यह जल आदि के यौगिक रूप में शरीर का अधिकाश छाये रहती है।

—उपरोक्त तीनों ही गैसें निर्वर्ण हैं अत. आंखो से दिखाई नहीं देतीं।

( २२ ) कर्बनद्विओषित गैस ( कार्बन डायोक्साइड -- *Carbon dioxide* ) यह कर्बन ( *Carbon* ) जब ओषजन से जलता है तब बनती है और "कार्बन एसिड गैस" भी कहलाती है। शरीर के अणु [ जिनका वर्णन आगे आवेगा ] मल रूप मे इसे त्यागते हैं और वह रक्त के साथ फेंफड़ों मे आकर, नि.श्वास के साथ बाहर निकल जाती है। कार्बन तत्व अकेला शरीर में बहुत कम मिलता है। हड्डी का कोयला धुंए की कालिख, सुरमा, ग्रेफाइट और वज्र( हीरा )कार्बन के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। कहानियां सुनने में आती हैं कि अमुक जगह कोयले गाढ़े थे और हीरे होगये, या हीरे गाढ़े थे और वे कोयले होगये। वास्तव में हीरा, कोयले से ही बनता है, परन्तु इतनी जल्दी नही, साधारणत. उसमें प्रकृति माता को सैकडों–हजारों वर्ष लग जाते हैं।

( २३ ) हमारा शरीर बहुत छोटे-छोटे जीवाणुओं से बना है। इस भवन की ईंट, कड़ियां और किवाड़ें वही जीवाणु हैं। इन सबको जीवन के लिये पोषक तत्व चाहिये और वे तत्व मिट्टी, नमक, लोह, स्फुर, सेलखड़ी आदि ही मिलते हैं। परन्तु मनुष्य या अधिकांश पशु-पक्षी भी उन तत्वों का उस मूल रूप में उपयोग नहीं कर सकते। वे उनको तब ही काम ला सकते है जब वे, वनस्पति जगत की जड़ों द्वारा चूसे गये हों और उनकी पत्तियों द्वारा खीची गई कार्बन गैस उनमे मिलाई जा चुकी हो। अर्थात् इन जड़ तत्वों को, हम चेतन प्राणियों की खुराक बनाना, 'वनस्पति-जगत' का ही काम है। इस प्रकार वनस्पतियां प्राणियों के जीवन का आधार है।

( २४ ) इस प्रकार कार्बन मिलकर बने हुए ये तमाम तत्व "कार्बन के यौगिक" ( कार्बोनिक-कंपाउण्ड्स *Carbonic Compounds* ) कहलाते है। तत्वों मे कार्बन मिलाने वाली वनस्पतियां जड़ नहीं, चेतन चीज हैं। उनकी जड़ें पृथ्वी से रस चूसती है, नसें उस रस को बहाती हैं, और उस रस से बने हुए पुष्प और फल उस पेड़ की नयी उत्पत्ति करने वाली इन्द्रियां है। अत. इन्हें इन्द्रियवान या "सेन्द्रिय" कहते हैं। इसीलिये इनसे प्राप्त होने वाले यौगिक पदार्थ 'सेन्द्रिय-यौगिक' भी कहलाते हैं।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

इंग्लिश में इन्द्रिय को *Organ* ऑर्गन कहते हैं-यह बता चुके हैं। अतः ये कार्बन वाले तत्व "ऑर्गेनिक कम्पाउंड" *Organic compounds* कहे जाते हैं। तमाम फल, फूल, बीज, जड, पत्तियां आदि और उनसे होने वाले आटा, दाल, चीनी, चावल सब्जी और रस इसी श्रेणी मे आते हैं। पशु-पक्षियों द्वारा वनस्पतियां चर कर उपजाये हुये पदार्थ—दूध की चिकनाई आदि, मधु, मोम, अण्डे की सफेदी आदि भी यही 'सेंद्रिय' कार्बन वाले यौगिक है।

इनके विपरीत खड़िया, नमक, चूना, मिट्टी, लौह आदि तत्व खनिज ( *Mineral* मिनरल ) हैं, इन्हें निर-इन्द्रिय (*In-organic* इन-ऑर्गेनिक) कहते हैं।

( २५ ) इस निर-इन्द्रिय श्रेणी के पदार्थों में मुख्य है-जल। यह २ भाग हाइड्रोजन और एक भाग ओपजन मिल कर बनता है। इसका संकेत है $H_2O$। यह शरीर के हर तन्तु में रहता है। यदि १॥ मन का तमाम शरीर हो तो उसमे १ मन भाग जल का होगा। यह ज्यादातर खाने-पीने द्वारा अंदर पहुंचता है, परन्तु थोड़ा सा शरीर के अन्दर मौजूद प्राण-( *Oxygen* ) और अपान (*Hydorgen*) वायुओं के सम्मिलन से भी बन जाता है। इसीलिये जो योगी इन वायुओं को रोक कर बैठे रहते है, उन्हें समाधि मे जल का बाधक अभाव नहीं होता। हठयोग द्वारा यह शक्ति बहुत कुछ बढ़ाई भी जा सकती है। इसी प्रकार यदि आवश्यकता आपड़े तो--योगी जनों के शरीर की बढ़ी हुई 'माया'-बिजली की शक्ति—उन्हें जल से ही पर्याप्त ओपजन और उद्जन प्रदान करती रहती है और वे भूमि के नीचे समाधि या जल-समाधि लिये रह सकते हैं।

दूसरी कर्बनद्विओषित गैस की बाबत पहिले नं० २२ मे बता ही चुके हैं।

[ २६ ] उद्हरिकाम्ल यानी हाइड्रो-क्लोरिक एसिड *Hydro-chloric Acid* इसका नुसखा (संकेत) है $HCl$। यह क्लोरिन गैस के साथ उद्जन मिल कर बनने वाला तेजाब है। आमाशय के जठर रस मे इसका बडा हलका घोल मौजूद रहता है और भोजन पर सबसे प्रमुख पाचन क्रिया करता है।

भोजन के बाद पापड़ खाने की भारत के कई प्रांतों मे प्रथा है। पापड़ में एक खास सज्जी पड़ती है जो "पापड़ाखार" कहलाती है। इसका प्रभाव यह होता है कि आमाशय में उक्त "उद्हरिकाम्ल" बढ़ जाता है। भोजन के तत्काल बाद ही उसकी जरूरत भी अधिक होती है। अत. जिन्हे पाचन ठीक न होने की शिकायत हो, वे भोजन के बाद ही उत्तम पापड़ भी खाया करे, परन्तु वह सादा सेका हुआ ही, घी या तेल में तला हुआ, उतना गुणकारी नहीं रह जाता।

[ २७ ] लवण--[ सोडियमक्लोराइड *Sodium chloride* अर्थात् सादा नमक ] सोडियम को नेट्रम ( *Natrum* ) भी कहते है, अत इसका सकेत है–( $NaCl$ ) यह रक्त मे रहता है और थोडा-थोड़ा अन्य धातुओं में भी।

(२८) चूना (चूना) यह दो रूपों में रहता है। कैल्शियम कार्बोनेट (*Calc. Corbonate*)-(संकेत $CaCO_3$), और, कैल्शियम फास्फेट *Calcium Phosphate* (संकेत–नुसखा है–$Ca_3P_2O_8$) ये दोनों ही हड्डियों के प्रधान आधार होते हैं। इसकी कमी से शरीर मे अस्थिक्षय (*Caries* केरीज) होने लगता है और हड्डियां भर्झर हो जाती हैं।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

उस कमी की पूर्ति आजकल-विलायती *Calcium Lactate* कैल्शियम लैक्टेट, *Calc. carb* कैल्केरिया कार्ब आदि देकर की जाती है। पहिले भारत में इससे कहीं सस्ता और घरेलू ढंग प्रचलित था वह तो उत्तम कली का चूना दूध में डुबाये रखना-जब वह बुझ जाय तब उसकी रत्ती भर या न्यूनाधिक मात्रा पान [*Betal leaves*] पर लगाकर कत्था और सुपारी के साथ खाना। उसमें पान का रस नसो को बल देता था, चूना अस्थियो को, सुपारी दांत साफ कर देती थी और कत्था मुख प्रदाह नहीं होने देता था। शास्त्रो में इसकी विधि और गुण गाथा भली-भांति वर्णित है। आजकल पाश्चात्य हिताहित सोचने वाले इसे 'असभ्यता' कह कर बन्द करा देते है। उस दशा में विदेशी कैल्शियम के योग सेवन करना प्राय: आवश्यक होता है।

[ २६ ] वनस्पमियों या उनको चरने वाले पशुओं से प्राप्त होने वाले पदार्थ-"सेन्द्रियतत्वो" के तीन विभाग किये गये हैं। १-पौष्टिक, २-मधुर और ३-स्निग्ध। परन्तु ये नाम विल्कुल कड़े मानी मे नहीं केवल परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त सेद्रिय तत्वों में कुछ खास 'शक्ति तत्व' भी होते हैं, जो शरीर को एक विशेष प्रकार की ताकत प्रदान करते हैं। इन्हें विटामिन *Vitamin* कहते हैं। इनके भी ए *A*, बी *B*, सी *C*, डी *D*, ई *E*, आदि २ भेद अब तक ज्ञात हो चुके हैं। इनमें से *A* ए विटामिन दिमागी और नेत्रों की शक्ति घढ़ाता है, दूध और हरे फलों में अधिक पाया जाता है। *B* वी और *C* सी विटामिन मांस मेद वढ़ाने वाले हैं। *D* डी विटामिन हड्डियां मज़बूत करता है और *E* ई विटामिन नर-नारियों मे सन्तान पैदा करने की शक्ति उपजाता है। इनका विस्तृत वर्णन आगे करेंगे।

[ ३० ] पौष्टिक पदार्थ ( *Proteid* प्रोटीड ) कहे जाते हैं अर्थात् उनमें *Protein* प्रोटीन नामक तत्व बहुत होता है। इनमें नत्रजन (*Nitrogen*) होता है जो वायु में चार-पंचमांश भरा हुआ है। परन्तु वह तमाम सेद्रिय .तत्वों में सिर्फ इन पैष्टिक-वर्ग के [ प्रोटीड ] पदार्थों में ही पाया जाता है, अतः इनका दूसरा नाम "नत्रजनीय" ( *Nitrogenous* ) भी है। अण्डे की सफेदी इसी श्रेणी की चीज़ है। दूध जमाने पर दही बनता है, उसका पानी निकाल दें तो जो थक्का ( पनीर ) बचता है, वह भी इसी 'प्रोटीड' वर्ग की चीज़ है। विलायत मे इसे दबादवा कर इसकी चकतियां बनाई जाती और चीज़ *Cheese* के नाम से खूब खाई जाती हैं। परन्तु भारत मे कोई-कोई भाग्यशाली ऐसे भी हैं जो दही खाना रूचि या स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं समझते। रक्त में इस पौष्टिक (प्रोटीड) वर्ग का तत्व बहुत रहता है, और रक्त निकाल कर थोड़ी देर भी रख दिया तो यही पदार्थ थक्का सा जम जाता है। शरीर के जीवाणुओं का निर्माण इसी मसाले से होता है। गेहूं आदि अन्न, चना, मसूर आदि दालों और दूध-मलाई आदि पदार्थों में यह बहुत होता है जो ब्योरेवार आगे आवेगा।

[ ३१ ] मधुर-पदार्थ उन्हें कहते हैं जो या तो शर्करा युक्त हैं या जिनसे अन्दर जाकर शर्करा बन जाती है जैसे निशास्ते ( मंड ) दार चीज़ें। इनमे कार्बन और जल होता है। जल का मतलब यह कि ओषजन और उद्जन उसी अनुपात में हैं जैसी वे जल में होती हैं। खांड और मांड इस श्रेणी के पदार्थ हैं। अगर शरीर में ज़रूरत हो उससे अधिक खाये जांय तो मधुर पदार्थ यकृत

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

मे जमा हो जाते हैं और जब जरूरत हो तब घुलकर काम आजाते हैं। ये शरीर में रक्त के साथ घूमते हुए जगह २ पहुँच कर जलते हैं, उससे ऊष्मा (गर्मी) उपजती है और वह गर्मी की शक्ति ही शरीर के सञ्चालन में खर्च होती है। इन्हें कार्बन और जल से बनने के कारण कार्बोहाइड्रेट (*Carbohydrates*) भी कहते हैं।

(३२) स्निग्ध-पदार्थ—ये चिकनाई-वसा-या (*Fat* फैट्) कहलाती हैं। इनमें भी वही कार्बन-उद्जन और ओपजन होती हैं। परन्तु ओपजन कुछ कम होती है। यह भी शरीर मे कुछ अवश्य रहा करती है, परन्तु किसी के कम किसी के ज्यादा। फालतू मधुर अँश जैसे जिगर में जमा होते हैं वैसे ही स्नेह (वसा) का फालतू अँश जिगर के अलावा, नितम्बों (चूतड़ों) पर, नाभि के आस-पास, कपोलों के ऊपर और ठुड्डी पर जमा होता है। इससे आदमी मोटा दीखता है। बहुत अधिक बढ़ जावे तो यह जिगर और दिल (हृदय) के कार्य मे बाधा डालता और आयु घटाता है। और भी अधिक बढ़ जाय तो अङ्गों के हिलाने-चलाने तक मे तकलीफ़ होती है। ऐसे भी मोटे कई मनुष्य देखे गये हैं जो इस चरबी की अधिकतावश चलने-फिरने और उठने-बैठने तक से लाचार हैं। विशेषत वृद्धा स्त्रियों को यह मेद-वृद्धि रोग बहुत सताता है।

(३३) इस प्रकार शरीर-रूपी मशीन इन सामग्रियों से बनती है :—

| | | |
|---|---|---|
| निरिंद्रिय यौगिक— | विद्युत | आकाशतत्व |
| | नत्रजन अग्नि | वायु तत्व |
| | ओपजन | अग्नि तत्व |
| | उद्जन | जलतत्व |
| सेंद्रिय तत्वों में— | कार्बन और नत्रजनीय यौगिक— | पृथ्वी तत्व |

(३४) इन्हें इस तरह भी बांट सकते हैं :—

निरिन्द्रिय यौगिक— और उनके उपादान—

१. जल — उद्जन २ अणु : ओपजन १ अणु

२. खनिज लवण—उद्जन के २ या अधिक अणु, और, ओपजन, कर्बन, चूना, स्फुर, पुटास, नमक, गन्धक, क्लोरिन, फ्लोरिन, मैग्नेशियम, लौह, और शैल-खड़ी, इनमे जिस किसी का १-१ अणु मिल कर बनते हैं।

सेंद्रिय यौगिक—

३. पौष्टिक (नत्रजनीय)-कर्बन, उद्जन, ओषजन नत्रजन और कुछ अँश गन्धक तथा स्फुर का भी।

४. मधुर (नत्रजन रहित)-कर्बन, उद्जन २ भाग और ओपजन १ भाग।

५. स्निग्ध (नत्रजन रहित)—कर्बन, उद्जन २ भाग और कुछ ओपजन भी।

(३५) जीवन क्या है? इसके कई पहलू और कई उत्तर हैं। दार्शनिक की दृष्टि मे-सुख-दुख, इच्छा-द्वेष, ज्ञान और प्रयत्न ये छ. कार्य जीवन का रूप हैं। मीमांसक की राय में—शरीर का किसी वस्तु को अनुभव करना, उसमें से अपने काम की वस्तु हजम कर लेना, उससे शरीर का स्वयं बढ़ना, फिर अपने जैसे ही अन्य शरीर उत्पन्न करना और बेकार पदार्थों को विसर्जित करना यह आदान, विक्षेप,

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

विसर्ग, प्रजनन तथा वर्धन ये पांच जीवन के चिन्ह हैं। वैज्ञानिक की राय मे-विद्युतगति का प्रवाह ही जीवन है और शरीर की विद्युत खतम होते ही जीवन समाप्त हो जाता है। तथा यन्त्र-विद्या-विशारद की राय मे-शरीर के अङ्गों का क्रियाशील रहना, हृदय का पंप चलते रहना और रक्तभ्रमण ही जीवन है।

रसायनशास्त्री कहते है कि--शरीर एक पञ्चतत्त्वो का पुतला मात्र है और जब तक इसमे वे पञ्चतत्त्व विधिवत जलते तथा नये तत्व ग्रहण होते रहते हैं तभी तक यह जीवित कहलाता है। नं० ३४ मे जो दो निरिंद्रिय और ३ सेंद्रिय यौगिक बताये हैं ये पांच तत्व शरीर को बनाये हुये है। रक्त के साथ गई हुई ओपजन इन तत्वो को बहुत धीरे-धीरे जलाती है, उससे ऊष्मा और शक्ति पैदा होकर शरीर नाना क्रियाये करता है। जलने पर यह सेंद्रिय तत्व भी निरिन्द्रिय सामान्य यौगिको मे बदल जाते है। वह भस्म (अवशेष) पदार्थ फेफड़े से कर्बन, गुरदे मे मूत्र और यकृत मे पित्त रूप से छन कर तथा पसीने एवं केश-नख आदि के रूप मे शरीर से बाहर निकल जाते है। उन मलों को वनस्पति जगत (खाद रूप मे) पचाकर फिर हम प्राणियो के लिये उपयोगी पदार्थ, फल-फूल, रस-पत्र आदि बना देता है। बस यह धीरे २ तत्वों का भस्म होना और उन्हीं पाच तत्वों का शरीर में-नवीन रूप में ग्रहण होते रहना यह जीवन का रासायनिक रूप है।

(३६) जलने के तीन रूप – शरीर के अन्दर तत्व जलते रहते हैं, यह कुछ विचित्र बात मालूम देगी, परन्तु दरअसल वे जलते हैं। हां, जलने के तीन रूप हैं। एक तो जैसे चूल्हे मे लकड़ी या स्टोव में आग तेजी से जले, शरीर में इस तरह ज्योति नही जलती। दूसरे जैसे कागज या काठ बाहर रखा हुआ पुराना होता है त्यों २ काला-पीला और कमजोर पड़ जाता है। यह बहुत मन्द-मन्द जलता हुआ। इतनी मन्द गति से तो शरीर जान निकल जाने के बाद अपने आप जलता है, जिसे गल जाना या विनाश कहते है। जीवित दशा का जलना इन दोनों के बीच का होता है। उसमे शरीर के प्रत्येक जीवाणु पर पहुंचे हुए वे पांच तत्व (जो नं० ३४ मे कहे हैं) अंगार की तरह मन्द २ दहकते रहते है तथा लौ बिना उठाये ही केवल गर्मी पैदा करते हुए खाक हो जाते हैं, तब वे मल-मूत्र प्रस्वेद रूप मे निकल जाते हैं और भोजन से नये तत्व शरीर में आजाते है। योग-साधन से यदि शरीर की गति रोक रखी जाय, उसे निर्जीव जैसा ही अचल रखा जाय तो अन्दर का दहन भी बहुत मन्द हो जाता है। उस दशा से नये तत्वों का आहार भी जल्दी जरूरी नहीं होता।

(३७) इसके विपरीत कोई सिद्ध योगी या एकाग्र चित्त 'सती' अगर बहुत जल्द ही शरीरांत करने पर तुल जाय तो वह 'दहन' अङ्गार से भी बढ़ कर ज्योति-स्वरूप होकर (ज्वाला पैदा कर के) जलने लगता है। जिसे जनसाधारण "सती के शरीर से ही अग्नि प्रगट होगई" कहते सुने जाते हैं। परन्तु आजकल के अशांत वातावरण में ऐसे एकाग्रचित्त सन्त या सती प्राय. दिखाई नहीं देते।

# शरीर की रूप रेखा

लेखक-श्री पं० वद्रीनारायण जी शर्मा वैद्यराज, श्री गजानन फ़ार्मेसी,
धामणगांव (वराड)



धाता के द्वारा चराचर विश्व मे ४ प्रकार की 'सृष्टि' रची गई है। स्वेदज, अण्डज, उद्‌भिज और जरायुज, इस प्रकार चतुर्विध भूत ग्राम मे केवल "पुरुष" ही को आयुर्वेद शास्त्र ने प्रधान माना है। अन्य सब इस "पुरुष" के उपकरण है। ईश्वरीय प्रेरणा के द्वारा ही चार प्रकार की "व्याधि" यानी रोग उत्पन्न होते हैं। जैसे कि आगन्तुक, शारीरिक, मानसिक, और स्वाभाविक। इनमें से आगन्तुक व्याधिये वे हैं जो अभिघात निमित्त से अर्थात् अकस्मात् कही से गिर जाने से, चोट लगने से, शस्त्र के लगने से, अथवा सर्प, बिच्छू इत्यादि के काटने से होती हैं। "शारीरिक व्याधियां" वे है जो मिथ्या आहार-विहार के कारण वात, पित्त, कफ और रक्त के दोष से-सबके बिगड़ने से होती है। "मानसिक" रोग क्रोध, शोक, भय, हर्ष विषाद, ईर्षा, निन्दा, दीनता, मत्सर, काम, लोभ, कटु भाषण इत्यादि लेकर इच्छा तथा द्वेष, रखना इत्यादि लक्षण होते हैं। "स्वाभाविक" क्षुधा, तृषा, वृद्धत्व, निद्रा, मृत्यु इत्यादि लक्षण स्वाभाविक व्याधि के होते हैं। इनका निग्रह, संशोधन, संशमन, आहार, आचार इत्यादि द्वारा ही होते हैं।

(३८) मनुष्य शरीर एक विशाल इन्जन के तुल्य है। जिसमें असख्य नाजुक पुर्जे लगे हुए हैं। इनमें से जब एक भी पुर्जा घिस अथवा व्यस्त हो जाता है। उसी समय यह शरीर रूपी मशीन भी अपना कार्य सुचारू रूप से करने मे असमर्थ हो जाती है और वह गड़बड़ी रोग रूप में प्रत्यक्ष मालूम देती है। अतः इस शरीर रूपी इन्जन के संपूर्ण पुर्जे तथा उनके पृथक २ कार्य को जानना वैद्य डाक्टर का ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य-मात्र का एक आवश्यक काम है।

(३९) नीति-शास्त्र में लिखा है-

"सर्वेषु गात्रेषु शिर प्रधानम" सब शरीर में एक मस्तक ही श्रेष्ठ माना गया है।

श्लो०-शिरोऽन्तराधिर्द्वौ बाहू सक्थिनी च समासतः ॥
षडंगमंग प्रत्यंगं, तस्याक्षिहृत्कर्णादिकम् ॥१॥

शरीर में एक मस्तक, एक मध्य भाग, दाहिने बांये, दो हाथ और दो पांव, ये ६ अङ्ग है। इन अङ्गों के आंख, हृदय, कान, नाक, पाणी, पाद, आदि प्रत्यङ्ग हैं।

अङ्गों के छोटे २ अवयवों का नाम "प्रत्यङ्ग" है।

## (४०) "पंच महाभूतों के गुण,,

क्षिति, जल, पावक, पवन
पुनि पंचम गगन विचार।
पंच-तत्व के पिण्ड को
नाम भयो संसार।

ऊपर के दोहे में शरीर का संपूर्ण वर्णन अच्छी तरह आगया है। इसमे कही हुई पृथ्वी अर्थात् मिट्टी, जल, आग, वायु और आकाश के मेल से प्रकृति और उसके भी बनाने वाले पुरुष ने जो खेल रचा उसको हम लोग संसार कहते हैं। ससार जिन चीजों से बना है, उन्ही से यह मिट्टी का - पुतला - जिसे हम अपना शरीर कहते हैं। चाम, हड्डी, मास और खून से शरीर बना है। इनमे मुख्य आधार हड्डियां हैं। इन्हीं के बल हम सीधे खड़े हो सकते हैं तथा चलते-फिरते हैं। हड्डियां शरीर के कोमल भागों की रक्षा करती है। खोपड़ी से दिमाग और पसलियों से हृदय तथा फेफड़ों की रक्षा होती है। वैज्ञानिक डाक्टरों की गिनती से सारे शरीर मे २३८ हड्डिया हैं। हड्डियो का ऊपरी भाग सख्त होता है, किन्तु भीतरी भाग पोला और नरम होता है। हड्डियां जहां एक दूसरी से जुड़ती है वहा मज्जा का परदा होता है यह मज्जा भी नरम हड्डियो में गिनी जाती है। चमड़े को छूने से वहुत जगह हमको मास का लचलचापन ज्ञात होगा, मास के इस भाग का नाम स्नायु है। हमारे ज्ञान-तन्तु इन्हीं के द्वारा अपना-अपना काम करते हैं।

(४१) अव शरीर के मुख्य अवयवों का वर्णन करते हैं। सवसे मुख्य भाग "पाकाशय" अथवा मेदा (कोठा) है। इसके आलस्य करने से हमारा सारा शरीर ढीला और शिथिल हो जाता है। मेदे पर आजकल हम जितना भार डालते हैं- उतना सहने की ताक़त बड़े-बड़े जन्तुओं में भी नहीं होती। मेदा-याने पाकाशय भोजन को पचाकर उसके द्वारा शरीर का पोषण करता है। मेदा पसलियों के नीचे अन्दर वांये भाग में होता है। इसमें अनेक क्रियाएँ होकर भिन्न-भिन्न प्रकार के रस तैयार होते हैं और भोजन का तत्व खिंचता है। वचा हुआ निकम्मा पदार्थ "मल-मूत्र" बन कर आंतों के रास्ते वाहर निकल जाता है। इसके ऊपरी हिस्से में यकृत (कलेजे) का वांयां भाग है। मेदे की वांयीं ओर-तिल्ली है। कलेजा पसलियों के नीचे दाहिनी ओर है इसका काम खून साफ करना, और पित्त पैदा करना है। यह पित्त पाचन-मिया के लिये वहुत ही उपयोगी होता है। पसलियों के बीच की खाली-जगह में हृदय (अन्त.करण) अथवा — रक्ता-शय और फेफड़े हैं। छाती मे दाहिनी और वायीं ओर की मिल कर कुल २४ हड्डियां हैं।

(४२) अन्त.करण की थैली उनके यानी दोनों फेफड़ों के बीच कुछ वायीं ओर रहती है। हमारे शरीर में दाहिनी और वायी ओर दो फेफड़े हैं, ये श्वास न[illegible] के बने हुए हैं। इनमे हवा भरी रहती है और उससे खून साफ होता है। श्वास-नली के द्वारा ही फेफड़ों में नयी हवा पहुँचती है। हवा नथनों से अन्दर जानी चाहिये। नाक से गई हुई हवा गर्म होकर फेफड़ों में पहुँचती है। वहुतेरे मनुष्य अज्ञानवश मुँह मे से सास लेते और हानि उठाते हैं। मुँह भोजन इत्यादि के लिये है। सांस हमेशा नाक से ही लेनी चाहिये। खून से हमारा पोषण होता है। वह भोजन में से पोषक भाग को अङ्गों तक पहुँचाता और निरुपयोगी भाग को लाकर मल-मूत्र के रूप मे वाहर निकाल देता है और वही

सारे शरीर को गरम रखता है । खून शरीर के अन्दर की नलियों-नसों ( धमनियों और शिराओं ) द्वारा सदा भ्रमण किया करता है। खून की गति के कारण ही हमारी नाड़ी एक मिनट में लगभग ८० बार चलती है। बच्चों की नाड़ी तेज चलती है और बूढ़ों की सुस्त चलती है ।

# शरीर के अंग-प्रत्यंगों के नाम ।

[ ले० श्री० डा० गणपतिचन्द्र जी केला ]

( ४३ ) उन्नति की ओर बढ़ते हुए-या-उन्नति की आशा से उद्‌योग करते हुए -विज्ञान-वेत्ता नित्य नये आविष्कार करते हैं-और अधिक से अधिक बारीकी भरे यन्त्र तैयार करते हैं। इञ्च भर की घड़ी का ठीक-ठीक समय गिनना--और वेर-बराबर बटन दबाते ही बड़े २ लाखों मन के इंजन दौड़ने लगना तथा इससे भी अधिक पेचीदा यन्त्रों के अद्भुत काम देख २ कर, लोग अचंभे में आजाते हैं, वे चाहते हैं कि उसकी बनावट का कुछ ज्ञान हमें भी होजाय। परन्तु अब ऐसे विचित्र यन्त्र का वर्णन होगा, जो इन सबसे अधिक पेचीदा-बारीक और उपयोगी है तथा जिस यन्त्र ने उपरोक्त विकट यन्त्रों को तो, ईजाद कर डाला है। आजकल के बारीक यन्त्र दिनों-दिन घिसते रहते हैं-परन्तु वह यन्त्र स्वयं ही अपनी वृद्धि भी कर लेता है। इन यन्त्रों की मरम्मत कोई और कारीगर करता है, परन्तु वह यन्त्र - अपनी मरम्मत भी आप ही कर लेता है।

( ४४ ) यह महा महिमा-मय शक्तिशाली यन्त्र-हमारा मनुष्य - शरीर है। यह इंजिन की तरह हाथ-पैर चलाता है, हार्मोनियम की तरह गाता और फोनोग्राफ की तरह बोलता है। इसकी आंखें कैमरे के समान फ़ोटो लेकर देखती हैं। इसका दिल घड़ी के समान नियमित रूप से धड़कता रहता है। और इसका मस्तिष्क रेडियो की तरह सदा अपने "विचार" फेकता और दूसरों के विचार ग्रहण करता रहता है। दो व्यक्ति तो प्रत्यक्ष मोटी आवाज भी सैकड़ों मील दूर तक पहुँचा देते और वहां की ब्रोडकास्ट ग्रहण कर लेते पाये गये हैं। पूरे दफ्तर की तरह याददाश्त रखना और अदालत की भांति इन्साफ करना भी इसी मानव-महायन्त्र के दिमाग की खूबी है। प्राय. सभी बारीक यन्त्रों की क्रियायें इसमें होतीं और होसकती हैं। ऐसा यह महायन्त्र--परमात्मा ने परम कृपा करके हमको दिया है, इसके लिये उसे बारम्बार प्रणाम हैं।

## बाहरी अङ्ग :-

( ४५ ) शरीर का सबसे श्रेष्ठ-सुन्दर और पेचीदा भाग सिर ( *Head* हैड ) है। इसका ऊपरी भाग घने बालों [*Hair* हैअर] से ढका रहता है-इन बालों में जब तक शक्ति और रङ्ग रहता है तब तक काले होते हैं, वृद्धावस्था मे-या कमजोरी से सफेद हो जाते हैं । सिर पर-बालों के बीचों-बीच में जहां "चोटी" (*Cocktail* ) रखी जाती है—एक ऐसा स्थान है जहां अन्दर की चार हड्डियों के खोल-

परस्पर मिलते हैं। इसे "अधिपति रन्ध्र" —या "ब्रह्मरन्ध्र" ( *Posterior fontanale* पोस्टीरियर फौंटानेल ) कहते हैं। यहां कुछ अधिक केश रखना हिफाजत की बात है।

( ४६ ) अधिपति-रन्ध्र से ४-५ इञ्च सामने की ओर, ऐसा ही एक और स्थान है जिसे 'तलुआ' कहते हैं। शरीर की स्मरण-शक्ति इसके ठीक नीचे है। क्रियाओं का मूल-स्थान भी इसी के नीचे-अन्दर है। छोटे वालक के इस स्थान पर फड़कन प्रतीत होती है; कारण कि तब तक हड्डियां इसे पूरा नहीं ढक पातीं। बड़े-बूढ़े प्राय. यहां के वाल मुडा देते हैं। इसे "पूर्व-विवरं" ( *Anterior fontanale* ऐंटीरियर फोंटानेल )या "पूर्वरन्ध्र" कहते हैं।

( ४७ ) चहरे ( *Face* फेस ) पर दोनों भौंहों के ऊपर चार-पांच अंगुल चौड़ा भाग ललाट है। इसी को "मस्तक" ( *Forehead* फोरहैड ) भी कहते हैं। बुद्धिमान का ललाट चौड़ा और तेजस्वी, प्रतापी व्यक्ति का ललाट कान्तिमान होता है। जो जरूरत से ज्यादा बेवकूफ होता है उसका ललाट आगे को ढालू होता है। ललाट पर केश नहीं होते और चिन्ता-शोक आदि में उस पर सिकुड़न पड़ना भी स्वाभाविक है। यहां चन्दन या केशर लगाने से उसकी सर्दी-गर्मी से मस्तिष्क शान्त या उत्तेजित होता है।

( ४८ ) ललाट के नीचे, बीचौ-बीच में से जो उभार उठकर मुख तक बढ़ता आता है वह "नासिका" (*Nose* नोज) है। इसे 'नासा'-या-'नाक' भी कहते हैं। चहरे की बनावट और शोभा पर इसका भारी प्रभाव है। प्राय' तीखी नासिका वाले चतुर और, मोटी नासिका वाले भोले होते हैं इसके अन्दर दो मार्ग हैं, जिनके द्वार नीचे की ओर, मुख के ऊपर होते हैं। वे "नासा द्वार" ( *Nostril* नॉस्ट्रिल )-या "नथुने" हैं। श्वास लेने और गन्ध सूँघने का कार्य इन्हीं से होता है। यदि इनके अन्दर कोई वस्तु रख कर इन्हें फुला दें तो उसमें चहरे की पहिचान में ही अन्तर पड़ने लगे। अमेरिका और योरूप के डकैत तथा जासूस इसमें अपनी आकृति बदल लेते हैं। इन नथुनों के अन्दर कुछ "रोम" ( बाल ) होते हैं-- उन्हें उखाड़ना नहीं चाहिये। श्वास की वायु में जो धूल-रोंये-या छोटे कीड़े हों उन्हें रोकने के लिये ही ये बनाये हैं।

( ४९ ) ललाट के नीचे- नासिका के दोनों ओर काले २ घने बालों की दोनों भौंएं (*Eye-brow* आई ब्रो ) हैं। इनसे शोभा तो है ही, साथ ही ललाट का पसीना आदि नीचे आंखों में बह कर, हानि नहीं पहुंचा सकता। भौंहों की "छत्रछाया" में नेत्र (आंखे *Eye*-आई) हैं। इन्हीं के द्वारा संसार की सब चीजें हमे दिखाई देती हैं। और ये बड़े ही नाजुक हैं, अत' इनकी रक्षा के लिये - इन दोनों पर दो-दो ढक्कन एक ऊपर से एक नीचे से-आ लगने को हैं। यही "पलक" (*Eye-lid* आई-लिड) हैं। पलकों के किनारे पर बालों की एक-एक कतार और है जिसे "बिरौनी" "बिनूनी" या "बरुनी" (*Eye-lash* आई लैश) कहते हैं। नेत्रों में छोटे २ धूलि-कण भी न जासके इसलिये ये बनाये हैं।

(५१) आंखों के दाहिने और बांयें किनारे (जहां दोनों पलक जुड़ते हैं ) "कोये" कहलाते हैं। इनमें नासिका की ओर वाले किनारे "भीतरले कोये" हैं। आंख में कोई धूल-कण-रोंआ या भिनगा आदि पड़ जाय तो-धीरे २ हटता २ वह इसी "भीतरले

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

कोये" पर आ रहता है और यहां से निकलना सहज है। आंख के अन्दर कोई दवा पहुंचानी हो तो इस भीतरी कोये में टपका दे, वह आंख में बड़ी अच्छी तरह पहुंच जायगी।

(५१) आंखों से ४-५ अङ्गुल पर-पीछे की ओर दोनों तरफ एक-एक अंजुली जैसी है जो "कान" "कर्ण" या "श्रोत्र" (*Ear* ईअर) कहे जाते हैं। इन अंजलियों में शब्दों की लहरे टकराकर कान में "छिद्र" है उसमे चली जाती है। और, वहां की नसों से शब्द का ज्ञान होता है। इसी प्रकार समस्त ध्वनियां इन्ही से सुनी जाती हैं। "कर्णांजली" (कान की अञ्जुली) बड़ी-लम्बी-होना बुद्धिमत्ता और दीर्घ-दर्शिता का चिन्ह है, छोटी "कर्णाञ्जलि" छिछोरा-पन बताती है। "अंजलि" (*Meatus* मीटस) का नीचे का लटकता सा भाग—"लौर" कहलाता है। लौंगें-मुरकीं—कुण्डल आदि आभूषण पहनने के लिये इन्ही मे छिद्र किया जाता है। वहां एक नस है-उसको छेदना शरीर के लिये अच्छा रहता है - परंतु बहुत से छेदने वाले उसको तो नहीं जानते। भारी शीत पड़ने पर भी ये "लौरे" बहुत ठण्डी नहीं पड़तीं और इनके अति शीतल हो जाने पर प्राय: रोगी की मृत्यु होती देखी गई है।

(५३) आंखों और कानों के बीच का - दोनों ओर का स्थान—दाहिनी या बांयी "कर्णपुटी" (*Lobule of the ear* लोब्यूल आफ दी ईअर) "कर्णपाली"—"कनपटी" कहलाती है। यहां लगी हुई चोट घातक होती है। मस्तिष्क—विकार मे यहां प्राय: दर्द या फड़कन अवश्य होती है।

(५४) कनपटी के नीचे "कपोल" – या 'गाल' हैं। ये मुख-रूपी कोठे की दीवारें हैं। तन्दुरुस्ती में इन पर हलकी लालिमा (गुलाबीपन) और कान्ति रहती है। परन्तु यदि एक ही गाल विशेषत: बांये पर कभी२ सुर्खी या 'तेज' (*Hectic flush* हैक्टिक फ्लश) दिखाई पड़े तो—जवानी में – यह "क्षयरोग" का चिन्ह है।

(५५) दोनों गालों के बीच में नासिका के नीचे जो बड़ा द्वार है वह "मुख" (*Mouth* माउथ) है।

इसके ऊपर नीचे के कपाट "ओष्ठ" (*Lip* लिप) या "ओठ" कहलाते हैं और वे कुछ अधिक लाल होते हैं। भोजन करने—शब्द बोलने तथा कभी २ श्वास छोड़ने का भी यही मार्ग है। मुख से श्वास लेनी नही चाहिये क्योंकि मुख की ली हुई श्वास की हवा बिना छनी जाती है और वे रौयें या कण अंदर भारी हानि कर सकते है। नासिका द्वारा ली जाने पर वायु—छन कर जाती है। दूसरे नासिका में ऊपर को—(अन्दर) एक यन्त्र है, जो बाहर की वायु की सर्दी-गर्मी कम करके उसे शरीर के अन्दर के ताप के अनुकूल बनाकर अन्दर भेजता है। परन्तु मुख मे यह कुछ नहीं है। वहां से गई हुई वायु - यदि वह अधिक शीतल हो-तो-अन्दर बहुत हानि पहूंचाती है, और घातक रोग भी पैदा कर सकती है। इस-लिये नाक से ही श्वास लेने की आदत रखें।

(५७) मुख के अन्दर - छोटे-छोटे सफेद, कठोर और गोलाई मे लगे हुए प्राय: १६ ऊपर और १६ नीचे- बत्तीस "दांत" (*Tooth* टूथ) होते हैं। इनमें से गालों की ओर के ३-३ ऊपरी तथा ३-३ नीचे के दाहिने और बांयें दांत बड़े और विशेष काम देने वाले है उन्हें "दाढ़े" कहते है। भोजन इन्ही से चबाते है। ये "दन्त" और 'दाढ़े' लाल-लाल

"मसूढ़ो" मे गड़े होते हैं। जो ऊपर के दांतों के ऊपर; तथा नीचे के दांतों के नीचे, एक दीवार सी है।

(५८) यदि मसूढ़े (*Gums* गम्स) फूले तो वदहजमी और वादी का चिन्ह है। वहुत सुर्ख हो जायं, तो दम घुटना, रक्त रुकना-या किसी विप का प्रभाव समझें और यदि उन पर नीली २ रेखाये पड़े तो समझें कि उस रोगी ने – "सीसा-धातु" खा-पी ली है या उसके विपैले परमाणु-धुंए आदि द्वारा अथवा नल के पानी में पाइप की कलई घुल-घुल कर अन्दर पहुंच कर विकार कर रहे हैं।

(५९) इन ओठों और दांतों की दीवारों के अन्दर "गिरा"–"जिह्वा" या "जीभ" (*Glossus* ग्लोससे *Tongue* टङ्ग) रहती है। यह मांस की पट्टी है जो आगे को कुछ नोकीली तथा-पीछे को गले तक फैली हुई मालूम देती है। कण्ठ मे आई हुई ध्वनि को-अक्षरों और शब्दों मे वदलने में, इसी का भारी हाथ होता है। समस्त स्वाद (*Taste* टेस्ट) इसी से चखे जाते है। यह रसों को "ज्ञानेन्द्रिय" है तथा वाणी को "कर्मेन्द्रिय"। मनुष्य वहुत से पाप-स्वादिष्ट भोजनों के लिये करता है और वहुत से पापों की आज्ञा या उनकी स्कीम मे दूसरों की सहायता-वाणी द्वारा ही देता-लेता है। इसीसे हत्या का हुक्म देता है और इसी से कड़ुए वचन कहता है। इसीके स्वाद के लिये-मांस चाहता-और दीन निरपराध-आश्रित जीवों के प्राण लेता है और इसी के या इस के लिये दिन भर अनेकों पाप करता है। जिसने अकेली यह जिह्वा अपने वश मे कर रखी हो-जो इसके स्वाद के लिये कोई अत्याचार न करे, जो इसके द्वारा अनुचित वात-राय-या हुक्म न दे, न अनुचित प्रार्थना करे तो एक जिह्वा के रोकने से ही उसके पापों पर पाला सा पड़ जायगा-और अनेकों अपराध उससे हो ही नहीं सकते।

(६०) जिह्वा का सफेद या पीले मैल से ढके रहना वदहजमी का चिन्ह है। मसूढ़े के समान ही इसके भी लक्षण हैं, साथ ही यदि जिह्वा वाहर निकालते समय एक ओर को टेढ़ी झुकी हो तो "लकवे" (*Facial Palsy* फैशल पाल्सी) की पहिचान है। यदि वहुत कांपे तो मस्तिष्क रोग समझें। यदि ध्यान से देखे तो और भी अनेकों रोग इससे प्रगट हो सकते है।

(६१) जिह्वा पर दो अँगुलियों से कुछ देर मालिश करके कुल्ले करने से मुख के अन्दर का मैल साफ हो जाता है तथा हाज़मा ठीक होता है। दांतों को मन्जन या वबूल आदि की दतौन से खूब स्वच्छ रखें तो मस्तिष्क अधिक प्रसन्न तथा चित्त सुखी रहता है और दात भी मजवूत रहते हैं। अन्यथा चित्त में ग्लानि सी रही आती है और दांत जल्दी गिरते हैं। दांत गिरने के वाद मृत्यु भी अधिक विलम्ब नहीं करती - क्योंकि पौष्टिक भोजन भी, विना चवाये हुये हज़म नहीं हो सकते।

(६२) १४ १५ वा १७ वर्ष की आयु के वाद पुरुषों के मुख के ऊपर केश घने–घने निकलते और वढ़ते रहते हैं। ये "मूँछे" (*Moustaches* मुस्टैशेज़) हैं। इन्हें निकलने के वाद से ही सँभाला जाय तो सुन्दर ढँग से मुख की शोभा वढ़ाते हैं अन्यथा फिर अपनी वे-तरतीवी मुश्किल से छोड़ते हैं इसके दो चार वर्ष वाद मुख के नीचे भी वाल निकलते और शीघ्रता पूर्वक वढ़ते हैं। यह "दाढ़ी" (*Beard*

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

बेयर्ड) है। बहुत से लोग इन्हें मुंड़ा देते हैं। इसी जगह को 'चिवुक' या ठुड्डी (*Chin* चिन) कहते हैं।

(६४) इसकी उल्टी ओर, अर्थात् सिर के पीछे, जो गर्दन के ऊपर कुछ गड्ढा सा है वह "मन्या" या 'गुद्दी' (*Nape of neck* नेप आफ नैक) कहलाता है। शरीर मे प्राण-सँचार करने वाला 'छोटा दिमाग' (*Cerebellum* सेरीबैलम) उसी के ऊपर (अन्दर) रहता है, अत. वहां चोट लगना घातक है, और वहां तैल आदि मलने पर उससे पहुंची हुई तरी, चिन्ता-शोक और अनिद्रा की दशामें आराम पहुं-चाती है।

(६५) यह समस्त उपयोगी और नाजुक अङ्गों से भरपूर भाग 'सिर' है इसे 'शिर' या 'मस्तक' भी कहते हैं। इससे नीचे का समस्त शरीर-विशेषत. छाती-पेट-और कमर तक 'धड़' (*Trunk* ट्रङ्क) कहलाता है। धड़ के ऊपर के जिस कोमल- घूमने वाले खम्भे पर सिर जुड़ा है वही 'ग्रीवा'-'गर्दन' या "गला" (*Neck* नैक) है। इसमे से होकर श्वास की, अन्न की और रुधिर आदि की नालियां, धड़में से सिर को, तथा ज्ञान और क्रिया कराने वाली नसें (पीछे की ओर से)-सिर में से धड़ को-जाती हैं।

(६६) गले में कौड़ी जैसा एक उभार आगे को युवावस्था में-अधिकतर पुरुषों के उठ आता है। यहां "स्वरयन्त्र" (*Larynx* लैरिंग्स) रहता है-जो अन्दर भांति-भांति की ध्वनियां उत्पन्न करता है। जिन्हें हम शब्दों और स्वरों के रूप में बाहर बोलते हैं, इसके पूर्ण उठ आने के बाद, फिर प्राय. शरीर की लम्बाई अधिक नहीं बढ़ती।

(६७) गर्दन के दाहिने-बायें-कुछ हट कर ही-दोनों ओर एक-एक भुजा है। यह जहां धड़ से जुड़ी हैं वह जोड़, ऊपर की ओर 'कंध' 'स्कंध' या 'कंधा' (*Shoulder* शुल्डर) और नीचे की ओर 'कक्षा' या 'बगल' (*Axilla* ऐग्ज़िला) कहलाता है। शरीर पर बाहर की हवा लगकर ताप घटता-बढ़ता है परन्तु बगल के स्थान में हवा अधिक न जाने के कारण, वहां शरीर का असली ताप ही रहता है, अत. 'थर्मा-मीटर' (*Thermo-meter*) लगाकर गर्मी नापने को वह स्थान अच्छा है। रक्त के अन्दर अगर ६६ डिग्री ताप हो तो बगल मे ६८ के लगभग रहता है।

(६८) इससे आगे भुजा कुछ मोटी होकर पतली होती हुई आती और फिर मुड़ती है। यहां तक का भाग 'प्रगण्ड' (*Arm* आर्म) कहलाता है। व्यायाम करने से यह दृढ़ होता है और इसकी दृढ़ता ही हाथों की शक्ति है। मोड़ पर जोड़ रहता है। उसे 'कूर्पर' या 'कोहनी' कहते हैं। वह आगे को ही मुड़ सकती है-उल्टी नहीं।

(६९) वहां से हाथ के पंजे तक का भाग 'प्रकोष्ठ' (*Fore-arm* फोर आर्म) है। उसमें जहां 'पंजा' जुड़ा है, वह स्थान 'मणिवन्ध'-'पहुँ-चा' या 'कलाई' (*Wrist* रिस्ट) कहा जाता है। हृदय की दशा-- एवं अनेकों रोग बताने वाली नाड़ी-देखने के लिये कलाई पर अँगूठे के नीचे का स्थान ही प्रधान है।

(७०) कलाई के आगे अँगुलियों तक का भाग 'हथेली' या 'करतल' (*Palm* पाम) और उसकी पीठ 'करपृष्ठ' (*Back of Palm* बैक आफ पाम) है। पांचों अँगुलियों मे सबसे मोटी और पीछे हटी हुई- 'अँगुष्ठिका' 'अँगूठा' (*Thumb* थम) या 'अँगुष्ठ' है और बाकी तर्जनी (*Index finger* इन्डैक्स फिंगर) 'मध्यमा' (बीच की

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

*Middle finger* मिडलफिंगर)'अनामिका'(*Ring finger* रिंग फिंगर ) और सबसे पतली-छोटी 'कनिष्ठिका' ( *Small finger* स्माल फिंगर ) है। अँगूठा लम्बाई में दो ही जगह से मुड़ता है, शेष अँगुलियां तीन-तीन जगह से, अर्थात् अँगूठे में दो ही पोरुए ( खण्ड ) होते हैं, बाकी चारो अंगुलियो मे तीन - तीन 'पर्व' (पोरुए) ( *Phalanx* फैलेंग्स ) होते हैं।

( ७१ ) इन सबके सिरे पर पीछे की ओर चमड़े का एक-एक अत्यन्त स्वच्छ और कठोर खण्ड हैं जिसमें रुधिर की लाली झलकती है, उन्हें 'नख' 'मुँह' या 'नाखून' ( *Finger - nail* फिंगरनेल ) कहते हैं। तन्दुरुस्ती मे वे गहरे गुलावी और रक्त की कमी मे सफेद होजाते हैं। पाण्डु या पीलिया मे पीले दिखाई देते हैं। ये बाहर को बढ़ते हुए अँगुली के सिरे से आगे को निकलते है और प्राय: कटवा दिये जाते हैं। इस प्रकार १२० दिन में ये नये हो जाते हैं।

( ७२ ) जैसी दाहिनी भुजा है वैसी ही बायी भुजा होती है, तथापि नित्य के अभ्यास के कारण दाहिनी प्राय अधिक चपल और बलवान होती है। नाड़ी भी प्राय. -स्त्रियों की बाये हाथ की तथा पुरुषों के दाहिने हाथ की देखी जाती है तो अधिक स्पष्ट मालूम देती है।

## धड़ -

( ७३ ) दोनों भुजाओं के बीच मे--गर्दन से नीचे शरीर का सबसे बड़ा और भारी भाग है। इसका ऊपरी आधा - 'छाती' ( *chest* चैस्ट- *Thorax* थोरैक्स ) और निचला आधा -- 'पेट' ( *Abdomen* ऐब्डामन ) है। 'वक्ष' ( छाती ) उसे चारो ओर से घेरे हुए २५ हड्डियों का एक किला है-- इनमें २४ को पसलियां ( *Rib* रिब ) कहते हैं जो लम्बी २--अर्ध गोलाकार मुड़ी हुई, १२ बाईं ओर, और १२ दाहिनी ओर हैं। इनमे कई एक पसलियां सामने छाती के बीच में एक चपटी हड्डी से आ मिलती हैं जिसे उरोस्थि कहते हैं, इनके सुरक्षित दुर्ग के अन्दर-- शरीर के प्राण-दाता अङ्ग--' दिल' (*Heart* हार्ट ) और दोनों 'फेफड़े' ( *Lung* लङ्ग ) है। दिल है तो छाती के बीच मे परन्तु बायीं ओर - कुछ नीचे को अधिक है।

( ७४ ) इस किले के नीचे--नरम २ प्राय: हड्डी-हीन वह बड़ा भारी कोठा है जो 'उदर' या 'पेट' कहा जाता है। इसमें भोजन हजम करने और रस बनाने वाले सब अवयव है तथा ठीक बीचौ-बीच में एक छिद्र है जिसे 'नाभि' 'सूँटी' ( *Umbilicus* अम्बिलिकस) या 'टूँड़ी' कहते हैं। बालक का गर्भ में पेट काम नहीं करता, उसका पोषण और वृद्धि का कार्य माता के ही रुधिर से होता है जो इस नाभि द्वार से जाती हुई नसों से ही, जिगर और दिल तक पहुँचता और लौटता है।

( ७५) नाभि के ठीक पीछे--चार-चार अँगुल आस-पास ( अन्दर ) २ गुर्दे ( वृक्क *Kidney* किडनी ) दाहिने और बांये है। वे रक्त में से मूत्र - विकार छानते है। 'नाभि' के ऊपर दाहिनी ओर 'जिगर' या यकृत ( *Liver* लिवर ) और बायीं ओर 'मेदा' ( आमाशय *Stomach* स्टमक) है। नाभि से कुछ ऊपर पेट का भाग साधारण बोल चाल मे 'कलेजा' ( *Epigastrium* ऐपीगैस्ट्रियम ) कहलाता है।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

(७६) छाती के दाहिने- और बायें हिस्सों में बीच में स्त्रियों के एक "स्तन" या "कुच" (*Breast* ब्रैस्ट) होता है जिनमें बालक के पीने को दूध बनता और निकलता है। पुरुषों के उस स्थान पर कुछ कालापन ही होता है और उतना उठाव नहीं होता, हां समस्त छाती- स्त्रियो की अपेक्षा कुछ अधिक दूर तक फूली होती है।

(७७) पेट का नीचे का भाग - कटोरे के समान है उसे 'श्रोणि' या 'पेड़ू' ( *Pelvis* पैल्विस ) कहते हैं। इसमे बीच मे 'मूत्राशय' (*Bladder* ब्लैडर) और 'वीर्य' रहने का स्थान ( शुक्राशय ) तथा स्त्रियों में-- 'मूत्राशय' तथा उसके पीछे गर्भ रहने का स्थान ( गर्भाशय, रहम, *Uterus* यूटॅरस ) होता है। इनका द्वार "मूत्रद्वार" कहलाता है- पुरुषों में वह आगे निकला होने के कारण 'मूत्रेन्द्रिय' ( *Penis* पेनिस ) या केवल 'इन्द्रिय' अथवा 'शिश्न' और 'उपस्थ' भी कहलाता है।

(७८) पेड़ू में बाईं ओर 'मलाशय' (*Rectum* रैक्टम) है जहां मल जमा होता है और हाजत होने पर 'मलद्वार' से निकल जाता है। मलद्वार को 'गुदा' (*Anus* ऐनस) भी कहते हैं। पेट के अन्दर २२ फीट लम्बी छोटी ( पतली ) आंत ( *Mesentery* मैसेंटरी ) तथा ७ फीट की बड़ी ( मोटी ) आंत ( *Colon* कोलन ) सिकुड़ी हुई गॅंडली मारे पड़ी हैं। उन दोनों का जोड़ 'अन्त्रसन्धि' ( *Ceacum* सीकम ) पेड़ू में दाहिनी ओर है।

(७९) पेड़ू से दाहिने, बायें दो लम्बी-लम्बी टांगें प्रारम्भ होती हैं। इनका पेड़ू के पास का बड़ा भारी जोड़ 'रान' ( *Thigh* थाइ ) है और उससे कुछ ऊपर तक का भाग दो मोटी-मोटी गोल गद्दियों में बंटा है जो 'चूतड़' या 'नितम्ब' ( *Hip* हिप *Buttock* बटक ) कहलाते हैं। इनके ही बीच में गुदा ( मलद्वार ) है। इन चूतड़ों में चर्बी जमा रहती है जो शरीर में शक्ति या गर्मी की आवश्यकता होने पर खर्च होती है, और इसी चर्बीसे ये बैठते समय नरम गद्दी का भी काम देते हैं। इनकी ऊपरी सीमा पर एक बड़ा-- आड़ा जोड़ है जिसे 'कटि' ( *Loin* लोइन ) या कमर कहते हैं। समस्त धड़ वहां से टांगों की ओर झुकता है।

(८०) टांगों की बनावट कुछ-कुछ भुजा के ही समान है। 'प्रगण्ड' की भांति इसमें 'रानों' के नीचे 'जांघ' या जंघा (मोटी) होती है। उसके बाद 'कोहनी' की भांति 'घुटने' ( *Knee* नी ) का जोड़ है। इसे 'परिया' भी कहते हैं। उससे नीचे (बांह के 'प्रकोष्ठ' की भांति) 'पिंडली' या 'जंगासा' (*Leg* लैग) है। बांह की कुहनी से विपरीत घुटने पीछे की ओर तो पैर को मोड़ सकते हैं मगर आगे को नही। अर्थात् स्वयं 'घुटने जब झुकेंगे तब आगे को ही।' ( यह एक प्रसिद्ध कहावत है जिसका अर्थ है – 'मनुष्य जब रियायत करेगा तब अपने ही कुटुम्बी की करेगा, )

(८१) जंगासा के नीचे पैर का पन्जा है। जिसका पिछला भाग 'एड़ी' ( *Heal* हील ) है। पन्जे के आगे छोटी-छोटी चार अंगुली- तथा भीतर की ओर एक-एक अंगूठा होता है। जो अंगुलियों से भी अधिक बाहर को निकला हुआ तथा मोटा होता है। इन सबके सिरे पर वैसे ही नख भी होते हैं तथा छोटे-छोटे पोर्वे भी, जैसे हाथ की अंगुलियों मे - यह तमाम पन्जा पृथ्वी पर समतल सा टिका रहता है और इसी पर टांगे और उन पर समस्त शरीर का भार रहता है। एड़ी और जंगासों के बीच का जोड़,

कलाई जैसा नहीं होता। उसमे दोनों ओर उभार निकले रहते है जो 'गुल्फ' या 'गट्टे' ( *Melliolus* मैलीओलस ) कहलाते है। जव कलाई पर मालूम न पड़े तव इनके पास 'नाड़ी' देखी जाती है। पैर के पन्जे का नीचे ( पृथ्वी की ओर ) का तला 'तलुआ' या 'तला' 'पादतल' ( *Sole* सोल ) कहलाता है। वहां पर तैल की मालिश की जाय तो उसकी तरावट ऊपर सिर के 'तलुए' तथा आंखों तक पहुँचती है।

(८२) हाथों की हथेली – पैरों के तलुए – कुछ चहरा ओष्ठ – मूत्रेन्द्रिय – नाखून – तथा उङ्गलियों के सिवाय प्राय: शरीर मे सर्वत्र छोटे-छोटे केश होते हैं जिन्हे 'रोम' या 'लोम' ( *Hair* हेअर ) कहते हैं। पुरुषों के, छाती के वीच मे – वगलों में - पेड़ू प्रदेश के नीचे तथा मुख के ऊपर-नीचे घने-घने वाल उगा करते हैं। तथा स्त्रियों के, भग के आस-पास। सिर के वाल 'केश' कहलाते हैं। इन्हें स्त्रियां प्राय: सभी देशों में थोडे वहुत वढ़ाये रखती हैं, और उनके केश पुरुषों की अपेक्षा कुछ अधिक लम्वे तथा मुलायम भी होते हैं।

## शरीर के उपादान-

( ८३ ) मकान में यदि आग लग जाय तो उसकी भीगी हुई चीजों में या रसोई के पदार्थों में जो जल होगा वह भाफ बन जायगा। लकड़ी मे से वहुत सा भाग जल जायगा और शेष की तथा ईंट और लोहे की भस्म वच रहेगी। यदि कुछ आभूषण घर में रहे होंगे तो २-४ चादी सोने के ढेले भी मिलेंगे। यदि कुछ प्राणी वन्द रह जायेंगे तो उनकी चरवी जलने की गन्ध आयेगी, रंगीन धुंआ दीखेगा और कुछ हड्डियों के कोयले भी पावेंगे। उन्हें देख भाल कर कहा जा सकता है कि मकान मे अमुक-अमुक तत्व इतना था।

इसी प्रकार अवतक जो तत्व वताये हैं, वे शरीर की सामग्री का 'जोड़' मात्र है। शरीर मे रहते तो वही तत्व हैं, परन्तु उन्हे एकत्र कर देने से ही - अपने आप - शरीर नहीं वन जाता। उसे वनाने के लिये तो–उन तत्वों के– ऐसे उपादान वने हुए होने चाहिये जैसे मकान वनाने के लिये सुघड़ ईंट, वारीक चूना, सीधा सोट, गार्डर और किवाड़ जरूरी होती है। ये सामान आगे वताये जारहे हैं। और फिर इन सामानों से किस तरह जोड़ कर मकान खड़ा कर दिया कि अव न कोई ईंट गिरती है, न छत टूटती है, न किवाड़ अड़ती है और न चूना विखरता है, यह उसका वनाने वाला कलाकार ही जाने ? इसी तरह यह शरीर कैसे वन जाता है, माता के गर्भाशय मे ठीक मनुष्य जैसे ही नाक, कान और अन्दर की वारीक नसे ठीक वन कर अपनी अपनी जगह और क्रिया क्यो कर संभाल लेती हैं ? यह जगदीश्वर ही जाने। इस विषय मे वहुत कुछ सुना-कहा जाता है। परन्तु वह ऐसा ही है, जैसा ताज-महल देख कर हमारा आज अनुमान करना कि अमुक वस्तु कारीगर ने इस तरह वनाई होगी।

( ८४ ) यह सुन कर अचम्भा न कीजियेगा कि हमारा यह शरीर वास्तव मे वहुत छोटे-छोटे अनेक शरीरों का एक 'संसार' मात्र है। जैसे-भूगोल मे पढ़ाया जाता है कि पृथ्वी के चारो ओर हवा है। और इस पर तीन चौथाई भाग मे समुद्र है। उसके तले में भी जमीन है, और कुछ समुद्र से वाहर भी। उस जमीन पर जगह २ ऊँचे पर्वत भी है, जिसमे जङ्गली प्राणी वसते है। कहीं ऊँचे २ पेड़ो के वन है, जो वास्तव मे छोटी-छोटी सजीव वनस्पतियो का भंडार है। जगह-जगह भिन्न-भिन्न देशो के रूप मे तरह-तरह के आदमी भी वसे हुए

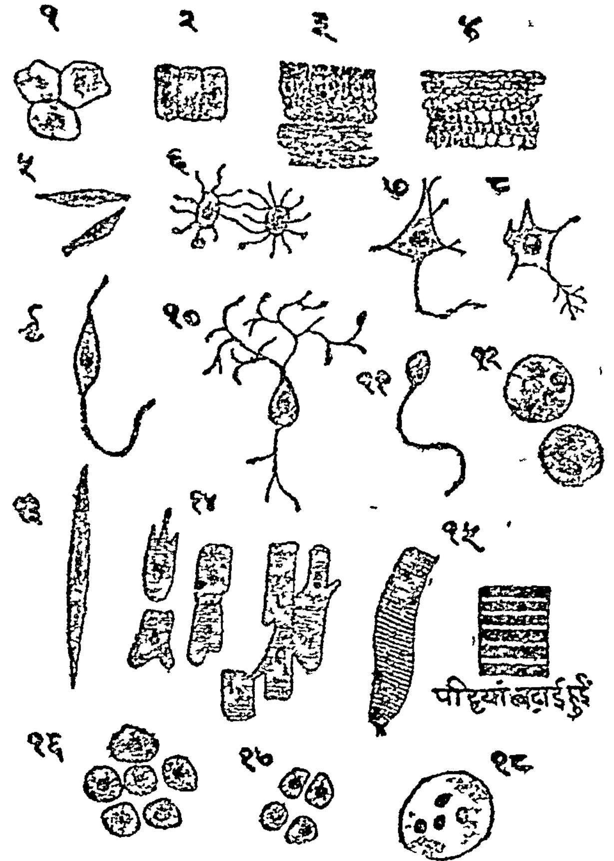
हैं, लम्बे, ठिंगने, गोरे, काले, बुद्धि-जीवी, मजदूर, उन्नत और अवनत; और कुछ तिकोने, चौकोने और गोल पशु-पक्षी भी है। इनके अलावा प्रकृति और पुरुषों की बनाई हुई नहरें, रेलें, जहाज भी कहीं २ छाई हुई हैं और कहीं योरोप की वैज्ञानिक विषैली गैसें और तोपों का धुँआ भी। इन सबसे मिल कर ही यह संसार चला जारहा है।

## -शरीर के जीवाणु-

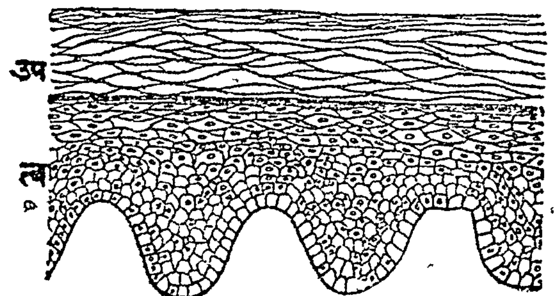
(८५) ठीक इसी तरह यह शरीर-पिंड भी उस ब्रह्माण्ड का ही छोटा रूप है। इसके चारों ओर वायु है और अन्दर अग्नि और जल जो इसका तीन चौथाई भाग ही समझिये। छोटे-छोटे, बहुत सूक्ष्म असंख्य जीवाणु, इसमें मनुष्य और पशुओं की आबादियां हैं जो कहीं बहुत सादा, कहीं विचित्राकार, कहीं चुस्त, कहीं सुस्त, कहीं छोटे, कहीं बड़े हैं। इन जीवाणुओं मे कोई बड़े मिहनती हैं और कोई ज्ञान-धारी। और शरीर में इनकी रग (शिरा-धमनी) रूपी नहरें और नस-नाड़ी रूपी रेल-तार भी हैं। उन सबको चलाने वाली सरकारें भी हैं जो उन्हीं छोटे-छोटे जीवाणुओं के मण्डल हैं और मनुष्यों की भांति ही वे परस्पर सहयोग भी ग़जब का करते हैं। इसके अन्दर अन्न नली जैसे चौड़े नाले भी हैं और दिमाग की बाल से भी बारीक रगों जैसे पतले पाइप भी। उन सबकी सुव्यवस्था ही स्वास्थ्य है और उनमें खराबी आजाना ही रोग है। इस शरीर पर एक खटमल या जूँ उसी तरह घूमता है जैसे पृथ्वी पर मनुष्य और डङ्क मारकर अपना इष्ट पदार्थ उसी तरह निकाल लेता है जैसे हम बरमा मे मिट्टी का तैल या रानीगंज में कौयला तथा कुओं से पानी लेलेते हैं।

(८६) इस शरीर-भवन की ईंटे 'जीवाणु' बता आये। 'जैसे कमरे में चौकोर, खंभे में गोल, छत पर चपटी और देहली पर आड़ी ईंटें लगानी पड़ती हैं, वैसे ही शरीर में भी जहां जैसी जरूरत है उसी के

भाँति भाँति की सेलें




अनुसार छोटी-बड़ी, गोल या लम्बी, सादा या पुछल्लोंदार भांति-भांति के जीवाणु (कोष या *Cell* सैल हैं।

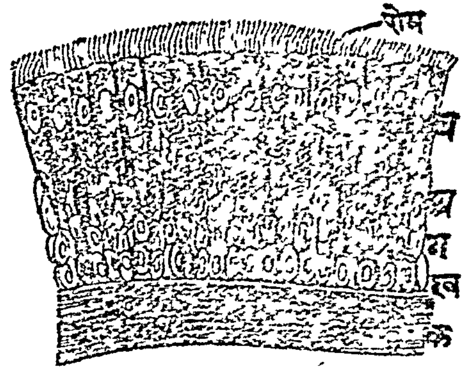



[ ऊपर 'उप' उपत्वचा (ऐपीथीलियम)

की सेलें आठ-दस तह बिछी हुई हैं। ये युवा हो चलीं, इनके अन्दर केन्द्र नहीं रहा। जो शरीर के बाहर से एक-सार चौरस दिखाई देती है। इनके नीचे थोड़ी सी सौत्रिक-तन्तु की पट्टी है। जिसमें रक्त की बाल जैसी रगें आई रहती हैं। जो 'उप' चर्म का पोषण करती हैं। यहीं नाड़ियां भी रहती हैं। इसके नीचे 'त्व' त्वचा(डर्मिस) की तहें हैं। इन जीवाणुओं के अन्दर केन्द्र मौजूद हैं। ये जीवाणु कुछ ऊंचे नीचे होते हुए, नीचली तहें बिल्कुल लहरदार होरही है। इन लहरों के नीचे चर्बी और रक्त रस भरा रहता है और फिर नीचे मांस रहता है। ]

सबसे बाहर त्वचा की सेलें चपटी, एक दूसरे पर तह की तह बिछी हुई हैं। उनके नीचे त्वचा की ही अंदरूनी सेलें क्रमश. कुछ मोटी होती जाती हैं और अन्दर की तहों में तो बिल्कुल गोल-गोल सेलो की ५-७ तहें होती हैं। ये अन्दरूनी तहें ऊंची-नीची भी होती हैं, परन्तु बाहर की बहुत कुछ हम-वार।

(८७) कुछ जीवाणु ऐसे होते हैं जिनके एक सिरे पर रेशे-रेशे से निकले होते हैं और वे भी अकसर एक ही ओर को खम खाए हुए। मुख, नाक, आखों के कोये और पलक तथा भग, इनमें अन्दर की ओर जो गुलाबी झिल्ली (पतली त्वचा) मढ़ी हुई है, उसकी ऊपरी तह में ऐसे ही जीवाणु होते हैं। उनसे नीचे की तह में लम्बे-लम्बे रस भरे खड़े कोष होते हैं और उनसे भी नीचे गोलाकार सेलें। इतने पर्तों से वह पतली सी झिल्ली बनी होती है। इसी से अंदाज कीजिये कि ये जीवाणु कितने बारीक होते होंगे ?




ये मुख के अन्दर गले, गुफा, आदि में रहने वाली रसीली झिल्ली (म्यूकस मेंब्रेन) के जीवाणु हैं। इनमें जो सबसे ऊपर रहते हैं उनकी नोक से रोवें निकलते हैं 'रोम'। उनके नीचे वे जीवाणु 'च' बड़ी लम्बाई तक रहते हैं, उनके नीचे फिर क्रमश: कुछ कम लम्बे जीवाणु 'घ' और 'ग' रहते हैं, जो थोड़ा २ रस बना कर त्वचा को तर रखते हैं उनके नीचे 'ख' सौत्रिक तन्तु की जाली तथा उसके नीचे 'क' मांस की पट्टी है।

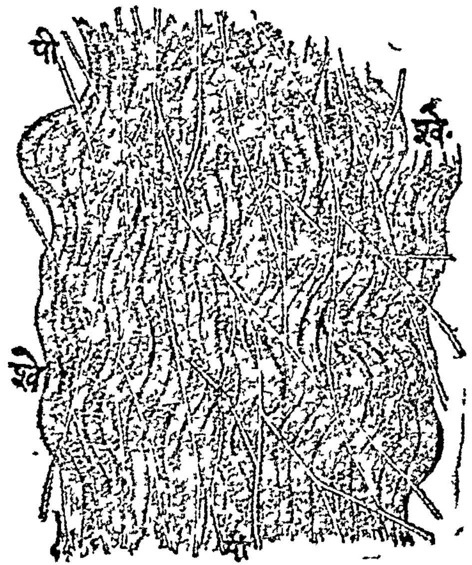
(८८) कुछ ऐसे जीवाणु होते हैं जो उनके पास पहुँचने वाले रुधिर में से अपने-अपने लिये नियत, खास तरह का रस छांट लेते है, चूस लेते हैं और फिर उसे दूसरी तरफ को निकाल देते हैं। ऐसे जीवाणु आमाशय की अन्दरूनी झिल्ली मे हैं, वे रक्त में से पाचक रस छांटतीं और आमाशय में छोड़ती हैं। यकृत मे हैं, वे रक्त मे से पित्त छांटती हैं, गुर्दों में हैं जो रक्त मे से क्षारी - विकार (मूत्र) चूस-चूस कर दूसरी ओर निकाल देते हैं, तथा त्वचा मे और भी अनेक जगह हैं जो पसीना जैसी चीजें छांटती है। ये नं. ८६, ८७, ८८ तीनों भांति के जीवाणु त्वगीय कोष ( *Epithelial cells* ऐपीथीलियल सेलें ) कहलाते हैं ये एक प्रकार की सेलें

( जीवाणु-मण्डली ) मिलाकर-एक 'तन्तु' (*Tissue*) कही जाती हैं। फिर चाहे उनमें अपनी-अपनी जगह के अनुसार चाहे कोई जीवाणु कुछ चपटा हो जाय, कोई गोल और किसी में कुछ रेशे भी निकल कर और जीवाणुओं से जा लगें।

ये सब जीवाणु और इनके बीच में भरा हुआ रस साथ रेशे मिला कर-'त्वगीय तन्तु' (ऐपीथीलियल टिश्यू *Epithelial Tissue* ) हुआ।

## सौत्रिक तंतु-

( ८६ ) दूसरी भांति के जीवाणु ऐसे होते हैं जो लम्बे-लम्बे लहरदार रेशों की लच्छी के समान टेढ़े-मेढ़े एक पर एक बिछे हुए रहते हैं और कभी एक दूसरे पर से आड़े भी होते हुए इधर-उधर निकल जाते हैं। इन्हें 'सौत्रिक-तन्तु' कहते हैं। ऐसी लच्छियों के रूप में बिछे हुए, एक-दूसरे अवयव, एक अवयव के ही आपसी खण्ड, या एक खण्ड की ही मांस-पेशियों के बीच मे गुजर-गुजर कर, ये सौत्रिक-कोष एक जाल बनाये रखते हैं। इस जाल के कारण सब अङ्ग अपने-अपने स्थान पर ही रहते हैं। सौत्रिक-तन्तु की इन लच्छियों को भी बांध रखने वाले कुछ लम्बे पतले पीले सूत्र होते हैं वे बहुत सीधे, होते हैं। रेल की दो लाइनों को मिलाने वाली तीसरी लाइन की भांति वे शाखाऐं भी छोड़ते हैं और खास बात यह है कि ये बड़े लचकीले होते हैं। इसी कारण धमनी, हृदय, फुफ्फुस, आते आदि सिकुड़ने-फैलने वाले अङ्गो के आस-पास ये सूत्र अधिक होते है और उन्हे काफी लचकने देते हैं। त्वचा का भी इतनी आसानी से सिकुड़ना-फैलना, इन लचकीले-पीले--सूत्रों से ही होता है। मास के बीच में होकर धमनी-शिरा- और नाड़ियां जहा से गुजरी हैं, वहां उनके लिये ये सूत्र ही जगह बनाये हुए हैं। गर्दन, कलाई, पैर के गट्टे आदि मे जगह २ स्नायु




इसमें जो लहरदार लच्छियां एक दूसरे पर बिछी हुई हैं वे सफेद साधारण सूत्र हैं। उनके ऊपर जो रेल की सी लाइने बिछी हुई हैं ये पीले लचकदार सूत्र हैं जिनके जाल मे श्वेत सूत्र बंधे रहते हैं।

बंधे हुए हैं और जिगर वगैरः अङ्ग भी अन्य अङ्गों से ऐसे बंधे हुए हैं जैसे 'शामियाना' (तम्बू ) छत से बंधा हुआ हो। ये बन्धन उपरोक्त सौत्रिक कोषों से ही बने होते हैं। अतः इन्हें संयोजक-तन्तु (*connective Tissue* कनैक्टिव टिश्यू ) भी कहते हैं। इसमें-चार चीजें होती हैं।

१--श्वेत सूत्र ( *White fibrous Tissue* व्हाइट फाइब्रूस टिश्यू)

२--पीले 'लचकीले सूत्र'(*Elastic Tissue* इलेस्टिक टिश्यू)

३--सौत्रिक जीवाणु ( *Fibrous Tissue cells* फाइब्रूस टिश्शू सेलें ) जो इन सूत्रों के बीच में फँसी रहती है।

४--इन सूत्रों की सेलों का पालन करने को थोड़ा रस।

( ६० ) अब तक 'जीवाणु' शब्द कई वार आचुका है अत, ये क्या होते है और कैसे कार्य करते हैं यह भी जान लेना रोचक होगा, तमाम प्राणी और वनस्पतियां, अगर मकान समझे जांय तो उनकी ईटे यही जीवाणु है। ईटे ही क्या, उन्हे जकड़ रखने वाले लकड़ी और लोहे के सामान तथा चूना भी भिन्न-भिन्न भांति के जीवाणु या उनसे निकले हुए रेशे ही होते हैं।

इन जीवाणुओं का सबसे सादा और बहुत छोटा नमूना 'अमीबा' आजकल बहुत प्रसिद्ध है। स्कूल के कई विद्यार्थी भी उससे परिचित होंगे। किसी तालाब मे कीचड़ के पास पानी की एक बूँद उठाली जाय तो उसमे अनेकों अमीबा मिलेंगे। मगर वे खुली आंखों नजर नहीं आते, उन्हें देखने के लिये उस बूँद को कांच की पट्टी पर रख कर उस पर दूसरी पट्टी दवा कर उसे ऊँची शक्ति के अणुदर्शक यन्त्र ( *Micro-scope* माइक्रोस्कोप ) से देखना चाहिये।

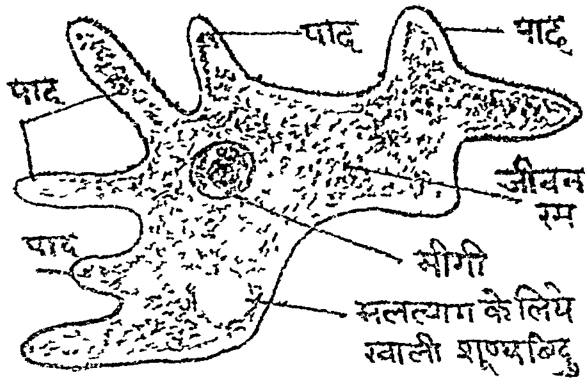
उस यन्त्र से यह पानी में कुछ 'तैल की बूँद' जैसी चीज दिखाई देगी जो क्षण-क्षण मे शकल वदलेगी। वह आड़ी-टेढ़ी-गोल होगी तो थोड़ी देर में एक ओर को लम्बी होजायगी और फिर पीछे से सिकुड़ कर उस नई जगह पर पहुँच कर गोल हो जायगी। इसी तरह खिसक कर यह विना पैर का प्राणी खूब चलता-फिरता है।

चलते-चलते, जहां इसके मार्ग मे कोई रुचिकर खाद्य पदार्थ का कण आजाय, ( वह बहुत ही सूक्ष्म होना चाहिये ) तो इस बूंद का एक सिरा बढ़ कर उस कण को चारों ओर से घेर लेता है और फिर वह उसी बूंद के अन्दर समा जाता है। इस तरह यह मजे मे खाता भी है।

इसके अन्दर क्या होता है? सिर्फ एक पसीना सा पतला रस--जिसमें पानी के साथ कुछ पौष्टिक और कुछ 'मधुर' पदार्थ घुले रहते हैं। परन्तु इन्हीं चीजों को घोल कर, उसे हम लोग नहीं वना सकते। यह रस गजब की चीज है। यह सदा चञ्चल रहता है और प्राण इसीमें ओत-प्रोत है। इसका नाम भी है 'जीवन-रस' ( *Protoplasm* प्रोटोप्लाज़्म )।

इस रस के बीच में एक गोली सी तैरती रहती है। वह आस-पास के रस की अपेक्षा अधिक गाढ़ी चीज होती है। इसे जीवाणु का वीज--या संक्षेप मे 'अणु-बीज' ( *Nucleas* न्यूक्लीअस ) कहते है। इस अणु-बीज का बीच का अंश बहुत घना गाढ़ा होता है। उसे 'अणुमींगी' (*Nucleolus* न्यूक्लीओलस ) कहते हैं।

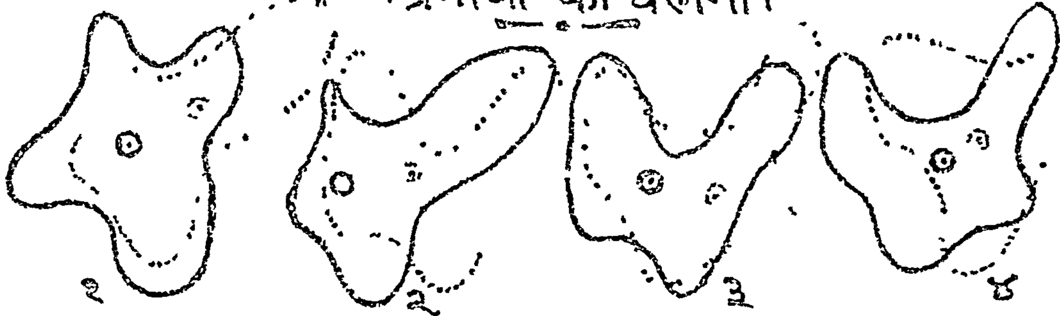
इस जीवन-रस के बीच में कुछ गोल जगह बिल्कुल ख़ाली भी पाई जाती है। अभी यह नहीं जाना जासका कि उस स्थान मे ज़ीवन-रस कैसे नहीं बहता, वहां कोई वायु-कण बन्द रहता है या जीवन-रस को रोकने वाली और भी कुछ अति सूक्ष्म दीवारे है। परन्तु वह ख़ाली जगह प्रायः पाई जाती है। और वनस्पतियों के जीवाणुओं में तो ऐसी--३-३, ४-४ खाली जगहें भी देखी गई हैं। इसे 'अणु-




## अमीबा जीवाणु

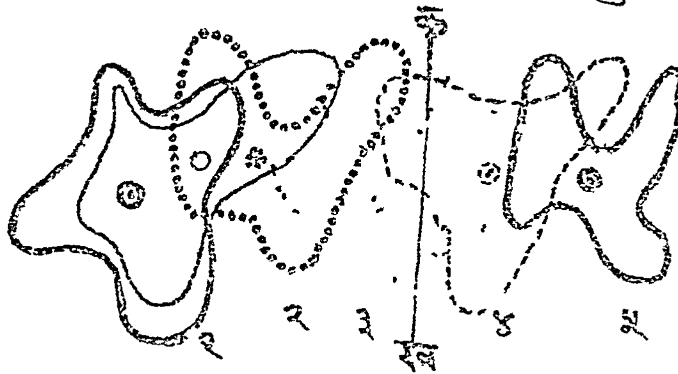
बहुत सूक्ष्म थैली में जीवन-रस भरा हुआ उसमें मींगी तैरती है। रस-(किसी उत्तेजना या आकर्षण से) जिधर को जोर मारता है, उधर ही 'पाद' बन-जाते है और फिर उधर ही शेष शरीरांश भी पहुंचकर 'पाद' लुप्त होजाते है।

## अमीबा का चलना।




शरीर मोटी रेखा जैसा था वह बिंदीदार रेखा जैसा आकार बदलता गया .. इससे वह 'क'-'ख' रेखा के उस ओर सरक पहुंचा।

पहिले प्रपाद निकला फिर इसी ओर तमाम खिंच गया।




इसी तरह यह प्राणी हर ओर चलता या लौटता है।

## अमीबा का भोजन पाना—

जिधर उसके खाद्य का कण (गंध या आकर्षण से) मालूम देता है, उधर को ही प्रपाद बढ़ जाता है, कण को घेर लेता है, फिर अपने शरीर में धंसा लेता है। वह कण जीवनरस में घुल जाता है और अंत में उसका छूछा शून्य बिंदु में जमा होकर बाहर को-निकल जाता है।



* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

गुहा" या जीव ाणु का शून्यस्थल ( *Vacuole* वैकुओल ) कहा जा सकता है।

और यह है क्या ? यह है—इस जीवाणु का मलाशय। इसके रसमय-शरीर में भी अनेक नालियां हैं। उन नालियों की दीवारें न जाने कितने सूक्ष्म तन्तु की बनी होंगी। वे नालियां आकर इसी खाली क्षेत्र में खुलतीं हैं और अमीवा ने जो कुछ 'खाया' हो उसमें से बचा हुआ निरुपयोगी पदार्थ, तथा इसके जीवन रस में से छंटा हुआ बेकार तत्व - मल रूप में—इस 'अणु-गुहा' में आ आकर संचित होता रहता है। धीरे-धीरे यह गुहा हटकर अमीवा-वृन्द के एक किनारे आलगती है और वहां से उसकी 'चहार - दीवारी' फट कर मलांश बाहर होजाता है। फिर वह 'गुहा' अमीवा में भीतर को हो जाती है।

ऊपर कही 'चहार - दीवारी' 'अमीवा' में इतनी सूक्ष्म होती है कि कतई मालूम नहीं देती, मानों वह तैल की बूँद जैसा ही हो जो - बिना किसी घेरे के अपने आप ही सीमित हो। परन्तु वह कुछ होती जरूर है। वनस्पतियों के जीवाणुओं मे वह अधिक मोटी और स्पष्ट होती है।

एक और भी विचित्र वस्तु इस 'अमीवा' में होती है। वह है 'आकर्षण चक्र'। जैसा सूक्ष्म यह प्राणी है- उसको सोचिये। १५०-२०० अमीवा एक कतार में बिछा दिये जायँ तो मुश्किल से १ इञ्च लम्बी कतार होगी और उसका भी शतांश भाग यह 'आकर्षण चक्र' होता है। फिर भी इस चक्र में एक केन्द्रीय मिंगी होती है उसके ऊपर गोल खोल होता है और उस खोल पर भी * पहिये के अरों या आरी के दांतों के समान लकीरें दिखाई देती हैं। यह गोला क्या कुछ करता होगा पता नहीं, परन्तु जीवन-रस ( प्रोटोप्लाज्म ) की लहरें जैसे अणु-बीज (न्यूक्लीअस ) से उठ-उठ कर चलती हैं, वैसे ही कुछ बिजली की सी लहरें, इस आकर्षण-चक्र में से आती जाती मालूम हुई हैं। इस शतांश इञ्च से भी आधे जीव में ये-ये चीजें हैं।

[ ६१ ] 'अपाणि-पादो – जवनोगृहीता' यह प्राणी हाथ-पैर बिना चलता-फिरता, पकड़ता-खाता और मल-विसर्जन तो करता ही है, अपना वंश भी बढ़ाता है। प्रजा भी पैदा कर लेता है। आत्मज भी उत्पन्न करता है जो सच्चे अर्थ में 'अङ्गादङ्गाद् संभवति हृदयादधि जायते,, होता है। सो, कैसे - सुनिये- पुष्ट होने पर इसका रसमय शरीर लम्बा होने लगता है। वह डमरू या डंबल की भांति खूब लम्बा, दोनों सिरों पर मोटा और बीच में पतला हो जाता है। और बीच में से टूट कर दोनों ओर दो अलग बूँद बन जाती हैं। विशेषता यह कि टूटते वक्त मध्य मे आये हुए अणु-बीज और मींगी भी बीच से कट कर दोनों भागों में बट जाते है। वे जहां से टूटे थे, वहीं से-- सम्भवत. कुछ वायु दाखिल होकर, अणु के शून्य स्थल भी दोनो मे हो जाते हैं और फिर शीघ्र ही उनमें अलग-अलग 'आकर्षण-चक्र' भी बन कर काम करने लगता है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि अमीवा के दो खण्ड होने से पहिले ही उसकी देह में 'अणु-बीज' 'अणु-मींगी' और 'आकर्षणचक्र' दो-दो बन चुकते हैं और फिर वे एक दूसरे से दूर-दूर हटने लगते हैं। इसी कारण अमीवा लम्बा बढ़ता जाता है, और यहां टूट कर दो हो जाता है।

ऐसी ही चीज़। हम लोग अभी तक इसके सम्बन्ध में पूर्ण वृत्त जान ही नही पाये और न हमारे पास अभी तक ऐसा कोई यांन्त्रिक साधन ही है कि हम इसे पूर्णतः समझ सकें। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र अभी इस योग्य नही कि वे इसका पूरा हाल मालूम करने में सहायता दे। सम्भवतः यही कारण है कि प्राणि-तत्व के आचार्यों ने इसके सम्बन्ध में अपने पृथक्-पृथक् विचार प्रकट किये हैं। किसी ने इसकी दानेदार ( *Granular* ग्रेन्यूलर ) किसी ने ( *Hemogeneous* हीमोजिनियस )। एक प्रसिद्ध जीव-शास्त्रज्ञ ने इसे फेनिल की संज्ञा दी है। योरप के प्रसिद्ध प्राणि-तत्व-वेत्ता प्रोफेसर बुचली(*Prof. Butchly* ) ने एक वार कृत्रिम कोष तैयार करने का प्रयत्न किया था और अङ्गारकीय पोटास (*Potass. carbonate*) को जैतून के तेल(*Olive oil*) के साथ कुछ अन्य यौगिकों के मिश्रण सहित उबाला तो कुछ सादृश्य पाने मे समर्थ हुआ।

(६१ च) इसमे जो कुछ देखने और समझने की बात है, वह इसके भीतर का 'जीवन-मूल' (*Protoplasm* प्रोटोप्लाज्म) है। यह उज्वल गाढ़ा पदार्थ है, जो फेनदार तो है ही, माइक्रोस्कोप से, दानेदार भी दिखाई देता है; किन्तु वह कुल किन २ चीजों से वना है और इसमें किन २ तत्वों का समावेश है, यह पूर्ण रूप से जाना ही नहीं जासका, क्योंकि इसकी बनावट इतनी विचित्र और रहस्यमय है कि जीव-तत्व के धुरन्धर विद्वान भी तत्सम्बन्धी पूर्ण अनुसन्धान करने में अब तक असमर्थ रहे हैं।

(६१ छ) योरप की एक अतीव प्रसिद्ध प्रयोगशाला ( *Laboratory* ) में कई आचार्यो ने एक साथ मिलकर इस गाढ़े रस ( *Jelly* ) सदृश विलक्षण पदार्थ को रासायनिक परीक्षा (*Analysis*) की और उन्होंने अपने परीक्षण के परिणाम की जो घोषणा की, उसका सारांश यह है कि इस 'जीवन-रस' मे गन्धक( *Sulphur* ) अङ्गार ( *Corbon* ) ओपजन ( *Oxygen* ) हाइड्रोजन (*Hydrogen*) और नत्रजन (*Nitrogen*) एवं फास्फोरस (*Phosphorus*) का समावेश है और यह विचित्र पदार्थ इन सब प्राकृतिक पदार्थों के विलक्षण संयोग से ही वना है, इन सूक्ष्म यौगिकों के अनुशीलन से हमारे प्राचीन आचार्यों के त्रिदोष-सिद्धान्त (वात, पित्त,कफ) की व्यापकता भी स्पष्ट सिद्ध होजाती है, किन्तु योरोपीय आचार्य अभी तक निश्चयात्मक रूप से कहने में असमर्थ हैं कि कोष में केवल इतने ही पदार्थ हैं।

(६१ ज) हां, सूक्ष्मदर्शक हमे दिखाता है कि कोष के भीत (*Wall* ) नहीं होतीं। ऊपर एक पतला गिलाफ ( *Membrane* ) चढ़ा हुआ होता है। यह वहुत लचीला (*Flexible*) होता है। इतना लचीला कि दवाने पर मुड़ जाता है और फिर अपने आप अपनी पहली शक्ल मे आजाता है। तारीफ यह है– प्रकृति ने इसका इस प्रकार से निर्माण किया है – कि किसी जलीय अंश को यह भीतर जाने मे कोई रुकावट नही डालता। यही कारण है कि वाहर की खुराक मिलते रहने और भीतर का विषैला द्रव निकलते रहने के कारण कोष का अस्तित्व वना रहता है और यह मर नहीं जाता। साथ ही ऐसा भी प्रवन्ध किया गया है कि कोई दूषित पदार्थ उसके भीतर प्रवेश न करा सके। केवल वे ही चीजे भीतर जा पाती है, जिनसे भीतर का 'जीवन-मूल' वना रहता है।

[ ६१ झ ] कोष और अच्छी तरह समझने के लिये हमे एक गोला या ऐसी ही कोठरी का अनु-

## अमीबा की वंश वृद्धि—

वह १ से २ क्यों होता है ?

बालक अमीबा — अंदर जीवनरस पासलेनेको खाली

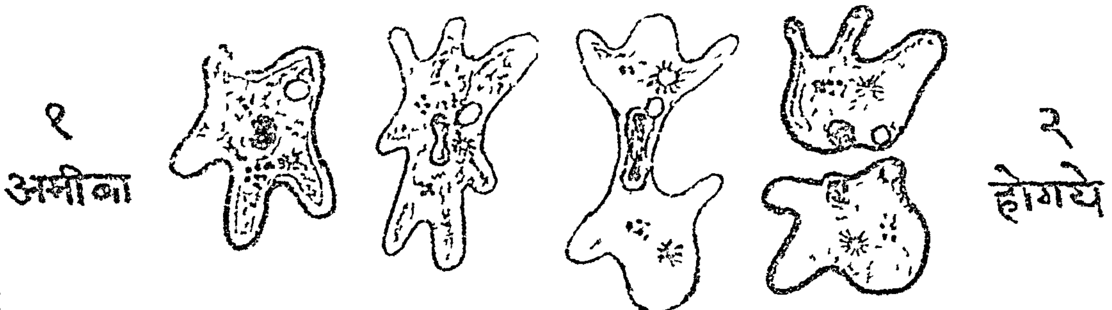
युवा अमीबा — यह तब दूना होगया — यह १॥गुनाही बढ़ी

प्रौढ़ या वृद्ध अमीबा — जीवनरस चौगुना होगया — त्वचा २। गुनी ही बढ़ी

एक वृद्ध से — दो बालक अमीबा बनगये. — अब त्वचा का घेरा भी बढ़गया।

जीवनरस को हवा चाहिये, वह त्वचा देती है। मगर जीवनरस दूना होजाय तब बाहरी घेरा (त्वचा) डेवौढ़ी होती है। उसेभी बढ़ालेने की प्रेरणासे अमीबा दो भागो मे बंट जाता है।

वह १ से २ किस तरह होता है ?



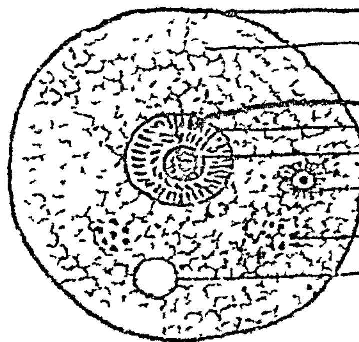

एक ओर को पाद बढ़े · बीचके मिंगी भी लंबी हुई · आकर्षणचक्र तो २ होगये, मींगीटूटनेको · मींगी भी टूटी २ अलगभाग।

टूटते समय मींगी के अंदर स्थित क्रोमोसोम (ओजाणु) भी दोनों भागों में बंटगये। मलत्याग को शून्य - बिंदु भी दोनो भागो में बनगये। (वाल्कर ६१)

## मनुष्य का जीवाणु—

साधारणत: मनुष्य-शरीर ऐसे जीवाणुओं से बना है।

विशेष स्थानोंपर प्रयोजन के अनुसार ही पृ. १७८ जैसी तरह तरह की जीवाणुमाला भी लगी है। जो लंबे या टेढ़े-मेढ़े होते हैं।




कई जीवाणुओ के इस अंग के उपरांत पूंछ भी होती हैं।

मान कर लेना चाहिये, जिसके चारों तरफ एक प्रकार की पतली झिल्ली है। बीच में एक गोला है; जिसे *Nucleus* कहते हैं। और बारीक नजर से देखने पर इसके भीतर कई बारीक २ धब्बे दिखलाई देते हैं। ये एक प्रकार के दाने हैं, जो रङ्ग वाले दाने (*Chromatic Granules*) हैं, ये कोष के मुख्य अंश हैं। अब भीतर और बाहर दो हिस्से रहे, जिनमें से भीतर के अंश को न्यूक्लिओप्लाज्म (*Nucleoplasm*) और बाहरी अंश को साइटो-प्लाज्म (*Cytoplasm*) कहते हैं। इन्हीं दोनों का सम्मिलित नाम प्रोटोप्लाज्म (*Protoplasm*) अर्थात् 'जीवनरस' है।

मजा यह कि इतना सूक्ष्म यह कोष-खाता है, सांस लेता है और मल त्याग भी करता है। कोष की झिल्लियां इनके प्रतिक्षण के कार्य्यों में सहायता प्रदान करती हैं।

संक्षेप में यह कोष का वर्णन हुआ, किन्तु यह इतना विस्तृत विषय है कि इस पर बहुत कुछ लिखा और कहा जा सकता है। बल्कि यह कहना भी कोई अतिशयोक्ति नहीं कि अभी तक हम विज्ञान द्वारा इस कोष के सम्बन्ध में जो कुछ जान पाये हैं, वह नही के बराबर है और यह विषय बहुत मनन करने योग्य है।

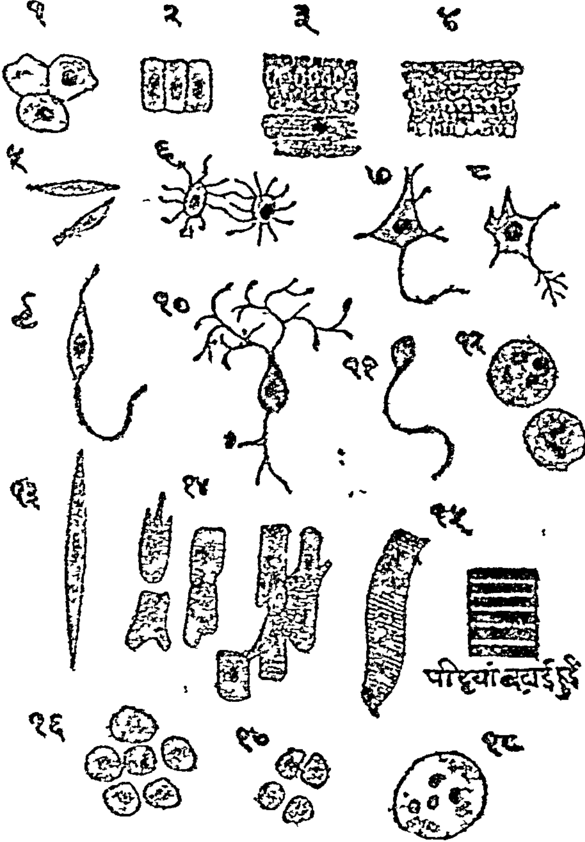
## लेखक-श्री० डा० गणपतिचन्द्र जी केला।



(६२) जैसे 'अमीबा' नामक जीवाणु है उसी तरह इस शरीर में असंख्य जीवाणु हैं और वे भिन्न २ आकृतियों के हैं। परन्तु घर मे एक ही आदमी हो तो उसे खुद कमाना पड़ता है, रोटी भी बनानी पड़ती है, झाड़ू भी देनी होती है और बर्तन भी मांजने होते हैं। परन्तु जिस घर मे दो-चार नर-नारी या उनके नौकर-चाकर हों, उसमे एक को सिर्फ धन उपार्जन के लिये घूमना पड़ता है। एक को बैठे-बैठे रसोई बनानी पड़ती है और तीसरे चौथे को भी अपना खास काम करना होता है। इसी के अनुसार उनके कपड़े भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किसी के मैले होंगे, किसी के उजले ही रहेंगे और आगे चलकर कोई अधिक मिहनती हो जायगा और कोई कुशल कारीगर। या, यह भी हो सकता है कि उस परिवार में कारीगरी का काम शुरू से ही कारीगर को सौंपा जाय, और दौड़-धूप उसे दी जाय जो अधिक मिहनती हो।

बस इसी तरह इस शरीर में भी हर काम के लिये अलग २ तरह के जीवाणु है और एक-एक काम पर अनेकों जीवाणु हैं। वे अपने काम के अनुकूल ही आकृति और प्रकृति के होते हैं तथा अपनी जगह ही डटे रहते है। उन्हें अपने भोजन के लिये अमीबा की तरह कही जाना आना नही पड़ता बल्कि "रक्त की रेल द्वारा"-वह उनके पास ही पहुंचता रहता है। उन्हें उसके घेरने के लिये अपना अङ्ग भी बढ़ाना-घुमाना नहीं पड़ता-बल्कि रक्त में से निकलता हुआ पोषक रस, उन जीवाणुओं के चारों ओर भरा रहता है। वे उसमें से जब जितना आहार चाहें, लेते रहे। वे उसमें अपना मल-विसर्जन अमीबा की भांति ही करते रहते हैं। वह मल कार्बन गैस के रूप

में होता है और रक्त की रेल उसे शोधक अङ्गों तक वापिस ले आती है। शरीर की जरूरत के अनुसार




[ नं० १–चपटी सेलें, २–ईंट जैसी सेलें-३–रसत्वचा की रोंयेदार सेलें, ४-गोला सेलें जो इधर उधर की सेलों के दवाव से तरह तरह की दीखती हैं, जैसे त्वचा या यकृत की सेले। ५–यवाकार(अनैच्छिक मांस की) सेले, ६–मर्कड़ीवत् (हड्डी) की सेलें। ७–८ ९–१०–सूत छोड़ने वाली वल्लम जैसी सेले (दिमाग़ और सुषुम्ना मे रहती हैं। ) ११-सर्पाकार (शुक्र की) सेलें ११-मींगीदार गोल (रक्त की) सेले १३-तर्क्वाकार(ऐच्छिक मास की) सेले, १४-मिश्रित (हृदय की)सेलें १५-पट्टीदार (पेशियों की सेले), १६-१७ उपास्थि (तरुणास्थि) की मींगीदार सेलें, १८–वहुत मींगियों वाली(मज्जा)की सेलें।]

ये जीवाणु 'एक के दो' भी होते हैं और पुराने जीवाणु नष्ट होकर उनकी जगह नये वदलते रहते हैं। पर अपनी जगह से इधर-उधर नहीं होते। उसी से हमारे शरीर की वनावट एक समान रहती है और हर अङ्ग वढ़ते हुये भी अपनी आकृति वैसी ही वनाये रखता है।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

# शारीर विवरण-

ले०-'वैद्य विशारद पं० कृष्णलाल जी मिश्र, वैद्यशास्त्री ( गोल्डमैडलिस्ट )
झालरापाटन ।

—*—

(६२ क) मनुष्य शरीर ईश्वर की बड़ी विचित्र कलापूर्ण, पेचीदा और उत्तम कृति है। और चिकित्सक की साधारण सी भूल से वह खतरे में पड़ जाती है। विना शारीर ज्ञान के इस प्रकार की सैकड़ों भूलें होना संभव है। क्योंकि किसी यन्त्र की ठीक जानकारी के विना उसे व्यवस्थित रूप से जमा देना और उपयोग मे लाना बड़ा कठिन है। फिर भला शरीर जैसे पेचीदा यन्त्र को विना जाने उसे स्वस्थ करने की धुन मे संलग्न होजाना कहां तक श्रेयस्कर होसकता है। इस कारण भगवान आत्रेय का कहना है कि 'शरीर विचय: शरीरोपकारार्थमिष्यते भिषक् विद्येयम् ज्ञातेहि शरीर तत्वे शरीरोपकारेपु भावेपु ज्ञानमुत्पद्यते,तस्मात् शरीर विचये प्रशंसति कुशला.' अर्थात् शरीर की रक्षा के लिये शरीर का ज्ञान होना आवश्यक है कारण शरीर का ज्ञान होने पर ही शरीर के लिये हितकारी पदार्थों का ज्ञान हो सकता है, इसलिये विद्वान लोगों ने शरीर ज्ञान की अधिक प्रशंसा की है।

शरीर-शास्त्र विज्ञान की एक महान विस्तृत शाखा है। इसके दो विभाग हैं। एक शरीर-रचना-शास्त्र (*Anatomy* एनाटोमी ) और दूसरा शरीर-क्रिया शास्त्र (*Physiology* फिज़ियोलौजी), शरीर-रचना शास्त्र से हमें शरीर के भिन्न २ अङ्गों की स्थिति और रचना का ज्ञान होता है किन्तु इससे उसके कर्मों का ज्ञान नही हो सकता। फुप्फुस कहां स्थित है, उनका आकार कैसा है, उनकी आन्तरिक रचना कैसी है ये सब वातें शरीर-रचना शास्त्र से जानी जाती हैं। किन्तु फुफ्फुस किस प्रकार कार्य करते हैं, इनमें रक्त कैसे शुद्ध होता है, ये प्राण-वायु को किस प्रकार ग्रहण करते हैं इत्यादि विपय शरीर-क्रिया-विज्ञान के हैं। इन दोनों शाखाओं का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। आयुर्वेद में इनका प्रथक् २ न होकर समन्वय रूप से वर्णन किया गया है।

(६२ ख) शुक्र ( *Semen* सीमन ) और रज ( *Ovum* ओवम् ) के संयोग से बना हुआ यह शरीर 'पडङ्ग' कहलाता है। 'शाखाश्चतस्रोमध्य पंचमं पष्टं शिरश्चेति' ( चार हाथ-पैर, पांचवां धड़ और छठा सिर ये छ. शरीर के अङ्ग हैं। ) त्वक, कला, पेशी, स्नायु, शिरादि तथा दोपादिक सब इस पडङ्ग के उपादान हैं, इस पडङ्ग के सम्पूर्ण ज्ञान का नाम ही शारीर है।

"अङ्ग-प्रत्यङ्ग, जीवाशय, धमनि,
शिरा, स्नायुभि:, कंडराभि;
पेश्यास्थी त्वक्लाभि: निज-
मलसहितैर्धातुभि संधिभिश्च।
वातैर्पित्तैर्बलासै प्रकृतिभि--
रखिलै मर्म रंध्रोपधातु:,
स्रोत्र श्रेणी गुणैरप्य मलतर--
धियैसाभि शारीर माहू॥

जो वैद्य सम्पूर्ण शरीर का पूर्ण रूप से ज्ञान रखता है वही वास्तविक चिकित्सक है। किन्तु बिना शवच्छेद के शरीर का ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। आधुनिक समय में पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार शवच्छेद की क्रिया होती है। यद्यपि यह नवीन प्रणाली त्रुटि पूर्ण नहीं है, किन्तु सुश्रुतोक्त शवच्छेदन इससे कहीं अधिक सुबोध, स्पष्ट और सुलभ है। सुश्रुत से स्पष्ट प्रकट होता है कि प्राचीन आचार्यों का शारीर ज्ञान कितना वृद्धिगत था।

( ६२ ग ) शवच्छेदन में सर्व-प्रथम त्वचा दृष्टि-गोचर होती है यह शरीर का आवरण है इसको प्रथक करने के पश्चात् ही देह के अन्य अवयवों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस कारण सर्व-प्रथम त्वचा का वर्णन किया गया है।

त्वचा ( *Dermis* डार्मस ) :-

( ६२ घ ) त्वचा शरीर का आवरण है और स्पर्शेन्द्रिय की अधिष्ठान भूमि है। स्थूल दृष्टि से इसके दो स्तर ( पर्त्त ) ही कहे जाते हैं परन्तु प्राचीन आचार्य-गण दूध की मलाई की भांति इसकी सात स्तर बता गये हैं। त्वचा की प्रथम स्तर के नीचे अनेक संज्ञा और चेष्टा वहन करने वाली नाड़ियें फैली हुई हैं, जिनके द्वारा हमें स्पर्श-ज्ञान होता है यह कार्य पैसीयनीयन कणों ( *Penceanian corpuscles* ) का है। बाह्य वस्तुओं से शरीर की रक्षा करने के अतिरिक्त त्वचा स्वेद और वाष्प के रूप में शरीरस्थ दूषित मलों तथा अन्य सैकड़ों विजातीय पदार्थों को बाहर निकालता रहता है, जो हमारे स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

कला ( *Membrane* मेम्ब्रेन ) :-

( ६२ च ) त्वचा के पश्चात् कला का स्थान है, सातों धातुओं को एक दूसरे से प्रथक करने वाली ये सात झिल्लियां हैं। ये पतले सूत्रों से बनी हुई तर्पक श्लेष्मा ( म्यूकस *Mucous*) से आवेष्ठित पतले रेशम के समान झिल्लियां होती हैं।

पेशी:- ( मसल्स *Muscles* ):-

( ६२ छ ) त्वचा और मासधरा-कला को प्रथक कर लेने के पश्चात् हमें जमी हुई पेशियां दिखाई देती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं - एक ऐच्छिक ( *Voluntary* ) और दूसरी अनैच्छिक ( *Involuntary*)। ये ही दोनों प्रकार की पेशियां प्राणियों की सम्पूर्ण चेष्टाओं का साधन होती हैं। इनकी रचना मास के सौत्रिक तन्तुओं द्वारा अत्यन्त दृढ़ होती है। इनमें कोई २ पेशी चद्दर के समान फैली हुई होती हैं जैसे 'ललाट सकोचनी पेशी'। कोई रस्सी के समान आड़ी होती हैं। पेशी का ही दूसरा नाम मांस है। इन्हीं मांस-पेशियों के द्वारा शरीर सुन्दर और सुडौल दिखाई देता है। साधारण स्थिति में मनुष्य की पेशियों का संकोच १० से १२ बार तक हो सकता है। परन्तु पशु-पक्षियों की मांस-पेशियां इससे भी अधिक कार्य कर सकती हैं। पेशियों का संकोच जैसा नाड़ियों से होता है वैसा ही विद्युत अथवा रासायनिक क्रिया के द्वारा भी होता है। अधिक परिश्रम के कारण पेशियों में सारकोलेक्टिक अम्ल ( *Sarcolactic Acid* ) उत्पन्न हो जाता है जिससे थकावट उत्पन्न होजाती हैं। मृत्यु के पश्चात् भी यही अम्ल उत्पन्न होकर पेशियों को संकुचित और कठोर बना देता है इसे मृत्यु तर संकोच ( *Rigormortis* ) कहते हैं।

बन्धन-स्नायु. ( *Ligaments* लिगामेंटस )

(६२ ज) ठोस, चिकने, सन के सूत्रों के आकार

वाले, रस्सियों के समान सन्धियों को बांधने वाले बन्धन स्नायु कहलाते हैं। "स्नायवः बन्धना प्रोक्ता देहे मांसास्थि मेदसाम्" स्नायु चार प्रकार के होते हैं। एक लम्बी शाखा वाले, दूसरे गोल, तीसरे चपटे, और चौथे पोले। शरीर में मेद के स्निग्ध भाग को लेकर पित्त के जोर से, वायु उसे पचाता है, जिससे शिरा और स्नायुओं की उत्पत्ति होती है, ऐसा आचार्यों का मत है। जिनका मृदु-पाक होता है वे शिरायें और खर-पाक वाली स्नायुएं कहलाती हैं। सन्धियों की दृढ़ता शिरा और स्नायुओं पर ही निर्भर रहती है।

शिरा ( *Vein* वीन ) :-

(६२ झ) शिरा, धमनी, रसायनी, नाड़ी इत्यादि शब्दों का हमारे ग्रन्थों मे यथेष्ट उपयोग हुआ है जिसके कारण कई स्थानों पर भ्रम उत्पन्न हो जाता है, किन्तु मनोयोग पूर्वक आयुर्वेद का मनन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन प्रणालियों द्वारा रक्त हृदय की ओर जाता है उन्हें 'शिरा' करते हैं।

"सक्थ्नोरुदर वस्थ्योर्वा वस्थिदेशे च संगता।
भित्वा वक्षस्थले पेशी नयत्यश्रं हृदालयम्॥
शिराभिर्निखिलाभिश्च शिरा संगम जातयोः।
द्वयह तोर्मयो. शिरयोरर्प्यते शोणितं सदा॥
हृदयात् शोणितं शुद्धं माश्रित्य धमनीपथम्।
गुण विश्राणतादेहं वीर्यं पुष्णांति नित्यश.।
एवं त्यक्त गुणं कृष्णं देह नाश गुणान्वितं॥
शिराभिश्च पुनर्याति दक्षिण हृदयालयम्।
तत्र प्रश्वास वातेन वीतदोष गुणान्वितम्।
सुरक्तं धमनीभीश्च पुनर्भ्रमति वर्ष्मतत्॥
एकैकस्याधमन्यश्च कुत्रचित पार्श्वयो द्वयो।
विद्यमाने शिरे द्वे द्वे वहतो दुष्ट शोणितम्॥

स्पष्ट शब्दों मे शिरा उन प्रणालियों को कहते हैं जिनके द्वारा शरीर का अशुद्ध रक्त हृदय मे जाता है। इनका रङ्ग ( रक्त की अशुद्धि के कारण ) नीला दिखाई देता है।

धमनी ( आर्टरी *Artery* ):-

(६२ ट) शरीर में शुद्ध रक्त वहाने वाली प्रणालियों को धमनियां कहते हैं, इनका मूल स्थान 'हृदय' है।

हृदयात् शोणितम् शुद्धं निर्मलम् प्राण धारणम्।
सुलोहितम् सुखोष्णं च वाहयंती समन्ततः॥

रक्तवेग के अनुसार धमनी फैल जाती है तथा रक्त की लहर हलकी होने पर फिर सिकुड़ जाती है यह इसकी वनावट का गुण है।

रसायनी ( *Lymph-vessels* - लिंफ वैसल्स या लिंफेटिक्स )—

(६२ ठ) शरीर में स्थित स्वच्छ तरल रस को बहानेवाली प्रणाली 'रसायनी' कहलाती है, ये प्रणालियां भी स्नायु और धमनियों की भांति सारे शरीर में फैली हुई हैं। और इनमें स्थान-स्थान पर घूंघची तथा नीमफल के समान ग्रंथियां हैं, जो कक्षा, वंक्षण, ग्रीवा आदि में स्पष्ट प्रतीत होती हैं।

नाड़ी ( नर्व *Nerve* )—

(६२ ड) आधुनिक लेखक नाड़ी के स्थान में स्नायु शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु स्नायु (*Ligaments*) और नाड़ी (*Nerve*) के कार्य विल्कुल प्रथक हैं। विना छिद्र वाले (ठोस) सूक्ष्म कोमल तन्तुओं को नाड़ी कहते है। इनके दो भेद हैं, 'संज्ञावहा' (*Sensory*) और 'चेष्टावहा' (*Motor*)। ये सारे

शरीर मे प्रत्येक स्थान पर व्याप्त हैं और टैलीग्राम के तार की भांति मस्तिष्क में सूचना ले जाती हैं। तथा मस्तिष्क की आज्ञानुसार शरीर से कार्य करवाती है। इनके सम्पूर्ण कार्य सर्व-शरीर-गत 'व्यान' वायु की प्रेरणा से होते है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सब बाह्य पदार्थों का ज्ञान हमे इन्हीं नाड़ी सूत्रो के द्वारा होता है और शरीर की सब क्रियाये भी इन्ही के द्वारा होती है। नाड़ी-शृंखला ( *Nervous System* नर्वस सिस्टम) और आयुर्वेदोक्त वात-संस्थान मे कुछ भी पार्थक्य नही हैं। प्राय. जो व्याधिया वात की विकृति के कारण उत्पन्न होती हैं वे ही ( *Nervous diseases* नर्वस डिजीजेज ) कहलाती है। इन सब नाड़ियों का मूलस्थान सुषुम्ना, उसका शीर्ष ( *Medulla oblongata* ) और मस्तिष्क ( *Brain* ब्रेन ) है।

स्रोत (*Duct* डक्ट )–

(६२ ढ ) प्राचीन आचार्यों का कहना है कि प्राण, अन्न, जल, रस, रुधिर, मास, मेद, पुरीष,मूत्र, शुक्र, आर्तव,स्वेदादिक मलो और धातुओं को वहाने वाले मार्गों को स्रोत. कहते है। मुख्य स्रोत २२ हैं फिर उनके असंख्य भेद हैं।

धातु–

(६२ त)धातु शरीर को जीवन और पुष्टि देने वाले है। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र और वात, पित्त, कफ इत्यादि सब देह को धारण करते हैं इस कारण धातु कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त स्नायु नाड़ी आदि का भी धातुओं मे समावेश है।

रस ( *Chyle* काइल )–

(६२ थ) भोजन का सम्यक परिपाक होने पर जो सारभूत पदार्थ उत्पन्न होता है उसे रस कहते हैं यह आमाशय में तथा पंकाशय मे बनता है। यही रस अन्नप्रणाली की नलियों में खींचा जाकर यकृत, प्लीहा और फुफ्फुस मे शुद्ध होकर शुद्ध रक्त की संज्ञा को प्राप्त होता है। रक्त बनने के पहिले अन्न-प्रणाली मे रस का ३ तरह का विपाक होता है। मधुर, अम्ल और कटु; और इन्ही के द्वारा क्रमशः कफ, पित्त और वात की उत्पत्ति होती है। इन दोषों का आगे वर्णन किया जायगा।

रक्त ( ब्लड *Blood* )–

(६२ द) शरीरस्थ रंजक-पित्त के द्वारा जब रस रंगा जाता है तब वह रक्त बन जाता है। यह सम्पूर्ण शरीर मे भ्रमण करने वाला तथा सब धातुओं को पुष्ट करने वाला लाल रंग का द्रव पदार्थ होता है, यह हृदय से धमनियों में पहुंच कर सम्पूर्ण शरीर को पुष्ट करता, बढ़ाता और जीवन देता है। साधारण शरीर मे प्रायः ८ सेर के लगभग रक्त रहता है और हृदय एक बार में एक छटांक रक्त धमनियो के द्वारा शरीर को भेजता है। इस प्रकार दिन भर में हमारे शरीर का रक्त एक मील [ हमारी सम्मति में ३ मील -सं० ] की यात्रा समाप्त करता है। रक्त ३ चीजों से मिल कर बनता है। १-प्लाज्मा *Plasma* यह हल्के पीले रंग की लसीका होती है तथा २-रक्तकण ( *Red corpuscles* ) और ३-श्वेत कण ( *White corpuscles* )। रक्त की एक बूंद में ५०००००० रक्त-कण और ६००० से १२००० श्वेत-कण होते हैं। ये रक्तकण ही प्राण-वायु को ग्रहण करते हैं। जितने लाल कण अधिक होते हैं उतना ही रक्त अधिक बलवान होता है। श्वेत कण हमारे शरीर के रक्षक हैं यदि

कोई विजातीय पदार्थ (*Foreign matter*) हमारे शरीर में प्रवेश कर जाय तो ये चट उसे घेर कर भक्षण कर जाते हैं। इस प्रकार ये हमारे शरीर की रोगों से रक्षा करते रहते हैं। परन्तु यदि ये निर्बल हुए तो विजातीय पदार्थ तथा रोग के कीटाणु शरीर पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। 'श्वेत-कण' आवश्यकतानुसार बढ़ते-घटते रहते हैं।

लसीका (*Lymph* लिंफ - श्लेष्म) :-

( ६२ ध ) रक्त के पतले, स्वच्छ और द्रव भाग का नाम लसीका है यह वही पदार्थ है जो रसायनियों में रहता है।

मेद (वसा-*Fat* फैट)-

(६२ न) मेद और वसा में प्रायः कुछ भी अन्तर नहीं है केवल स्थान भेद से इनके नाम प्रथक् प्रथक् हैं। उदर की कला के भीतर और त्वचा के नीचे की झिल्लियों में जो स्निग्ध भाग रहता है वह 'मेद' कहलाता है। इन झिल्लियों को अङ्गरेजी में क्रमश (*Omentum* ओमेंटम और *Superfical Fascia* सुपरफीशियल फेशिया) कहते हैं। और जो स्नेह का भाग मास मे रहता है, वह वसा कहलाता है। 'शुद्ध मांसस्य यः स्नेह सा वसा परिकीर्तिता।' मेद और वसा दोनों का उपादान एक ही है।

अस्थि ( *Bone* बोन )—

(६२ प) जिस प्रकार वृक्ष अपने सार भाग ( तने के ) काष्ट के द्वारा स्थिर रह सकता है उसी प्रकार हमारे शरीर को स्थिर रखने के लिये विधि ने अस्थियों की रचना की है। अस्थियां हलकी से हलकी होते हुए भी कठोर से कठोर लकड़ी से भी अधिक दृढ़ होती हैं। इसके उपादान धातु केवल दो ही हैं। कोमल स्नायु तन्तु ( *Legaments* लिगामेंट्स) और चूना ( *Calcium* कैल्सियम ) स्नायु-तन्तु-जाल के भीतर चूना भरा हुआ होने से ये अत्यन्त कठोर होगई हैं। इनकी रचना ऊपर घनी और अन्दर से सुषिर ( झिरझिरी ) होती है। ऊपर का आवरण अस्थि-धरा कला(*Periosteum* पैरीओस्टीअम ) कहलाता है और भीतर की ओर मज्जा-धरा-कला स्थित है। यदि हड्डी कहीं से टूट या झड़ जाय परन्तु वहां की अस्थिधराकला नष्ट न हुई हो तो वह हड्डी को फिर बना लेती है।

अस्थियां स्थान तथा बनावट के अनुसार पांच प्रकार की होती हैं। जैसे-

१-कपाल में रहने वाली चपटी अस्थियां; और-

२-रुचकास्थि ( दांत )।

३-तरुणास्थि ( *Cartilage* कार्टिलेज ) जैसे-नाक तथा वाह्य कर्ण की अस्थियां। (किन्तु अर्वाचीन चिकित्सकगण इन्हें अस्थियों में नहीं गिनते हैं। ) बचपन में बहुत सी अस्थियां कार्टिलेज के रूप में रहती हैं फिर समय पाकर युवावस्था में कठोर अस्थियों के रूप में आजाती हैं।

४-'वलय' नामक अस्थियां-रीढ़ की हड्डी तथा पशुकाओं में होती हैं। और-

५-'नलकास्थियां'- जो भीतर से नल के समान पोली होती हैं, ये शाखाओं में रहती हैं।

मज्जा- ( *Bone-marrow* - बोन-मैरो ) -

[ ६२ फ ] अस्थियों में रहने वाली स्नेहमय धातु का नाम मज्जा है। नलकास्थियों में इसका रङ्ग पीला होता है और इनके दोनों सिरों पर तथा अन्य

अस्थियों में इसका रङ्ग लाल रहता है। यह वीर्य की उपादान छटी धातु है।

शुक्र– ( *Semen* वीर्य-सीमन ) –

( ६२ व ) देह का आधार शरीर की सातवीं धातु शुक्र है यह सन्तानोत्पत्ति का भी साधन है। जिस प्रकार दुग्ध में घृत रहता है उसी प्रकार यह समस्त देह मे व्याप्त है। किन्तु फिर भी मस्तिष्क और अंड ( टेस्टीज़ *Testes* ) इसके प्रधान स्थान हैं। शुद्ध शुक्र स्फटिक के समान उज्वल, द्रव, स्निग्ध और मधुर गन्ध-युक्त होता है। यह मैथुन के समय शुक्र-प्रणाली ( *Ductus deferens* डक्टस डिफरेस ) में होता हुआ शिश्न ( लिंगेन्द्रिय ) में आजाता है। अंड-कोष के पीछे उपांड (*Epididymis* ऐपीडीडाइमस ) नामक एक ग्रन्थि है, यहां पर शुक्राणु ( *Sperms* स्पर्म ) वनते हैं और इसी स्थान से वीर्य, शुक्र-प्रणाली मे आता है। इस शुक्र-प्रणाली से चल कर वीर्य वस्ति-प्रदेश के पीछे शुक्राशय ( *Seminal Vesicles* ) में आकर इकट्ठा होजाता है और इसी स्थान से चलकर मूत्र मार्ग से बाहर निकलता है। शुक्राणु से रहित शुक्र स्वच्छ, तरल और पारदर्शक होता है। शुक्राणुओं के कारण ही वीर्य का रङ्ग अपारदर्शक श्वेत होता है। प्रत्येक प्राणि के शुक्राणु प्रथक २ आकार वाले होते हैं।

रज – ( *Ovum* ओवम ) –

( ६२ भ ) स्त्रियों के शुक्र के स्थान में रज, शुक्राणुओं के स्थान में डिब *Ovum*, और अंड-कोषों के स्थान में डिवकोष *Ovary* होते हैं, जो प्राय अप्रकट रहते हैं। मैथुन के समय शुक्राणु और डिंब के सयोग से ही सन्तानोत्पत्ति होती है।

## आशय :–

( ६२ म ) आशय तीन प्रकार के होते हैं। सगर्भ यथा आमाशय, अगर्भ यथा यकृत और ईषत्-गर्भ यथा मस्तिष्क। सब आशय तीन स्थानों में हैं। जो शिरोगुहा, उरोगुहा और उदर-गुहा कहलाते हैं।

शिरोगुहा में–मस्तिष्क, लघु-मस्तिष्क और सुषुम्ना शीर्षक हैं। ये शरीर की सम्पूर्ण चेष्टाओं के मूल-स्थान हैं।

उरोगुहा–इसमें दोनों फुफ्फुस और हृदय मुख्य हैं। फुफ्फुस श्वास-क्रिया संपादन करते हैं और हृदय शरीर मे शुद्ध रक्त का संचार करता है।

उदरगुहा में–नाभि से ऊपर, खायी हुई वस्तुओं का आधार वतख ( या मशक ) के आकार का आमाशय (*Stomach* स्टमक-मेदा ) है। इसके वाद पचने वाला रस जिस जगह जाकर ठहरता है वह स्थान है। इसे पक्वाशय और आंत ( *Duodenum, Intestines* ड्योडीनम और इंटेस्टाइन ) कहते हैं। इसके वाद वृहद् आंत्र (*Colon* कोलन) है। इसमें पके हुए अन्न के रस का शोषण होता है और मल प्रथक होकर वृहदंत्र के नीचे के भाग में ही मलाशय ( *Rectum* रैक्टम ) मे आजाता है।

( ६२ य) इनके अतिरिक्त उदर गुहा में यकृत (*Liver* लिवर), प्लीहा ( *Spleen* स्प्लीन ), पित्ताशय ( *Gall bladder* गाल-ब्लाडर ), अग्न्याशय (क्लोम-पैंक्रियस *Pancreas*), वृक्काशय (*Kidney* किडनी-गुर्दे) और मूत्राशय (*Urinary bladder* यूरीनरी-ब्लैडर-मसाना ) होता है।

रंजक-पित्त प्लीहा में उत्पन्न होकर पित्ताशय मे एकत्रित होता है और यकृत मे पाचक-पित्त उत्पन्न होता है। यकृत और प्लीहा आमाशय के वाम और दक्षिण मे अवस्थित हैं। आमाशय के दक्षिण मे बड़े शहतूत जैसी आकृति वाला अग्न्याशय है। इसी में से पित्त का अग्निरस (*Insulin* इन्सुलिन) आकर भोजन को पचाता है। इसके उद्रेचन को-पित्ताशय रस ( *Pancreatic Juice* पैंक्रियेटिन ) भी कहते हैं।

(६२ र) वृक्कों का कार्य रक्त में मिले हुए दूषित मल, क्षार और अम्लो को प्रथक करके गवीनी (मूत्रनलिकाओं-यूरेटर्स *Ureters*) के द्वारा मूत्राशय में भेजना है। यहां से यह समय पर मूत्रमार्ग (लिंग) के द्वारा बाहर आता है। मूत्राशय के पास ही पुरुषों के शुक्राशय तथा स्त्रियो के गर्भाशय होता है जोकि बिजली के 'बल्व' ( कुप्पी ) के आकार का, अधोमुख, योनि के ऊर्ध्व मुख से लगा रहता है। इसके दोनों ओर दो डिम्बकोष(*Ovaries*)होते हैं जिनमे से डिंब आकर गर्भाशय में स्थित गर्भ की उत्पत्ति का कारण होता है। ये ही तीनों गुहायें सब आशयों का आधार है।

इन्द्रिया ( *Organs* आर्गन्स )-

(६२ ल) इनके अतिरिक्त शरीर में, शरीर को वाहरी वस्तुओं का ज्ञान कराने वाली और कार्यकर्ता दश इन्द्रियां हैं। इनमें ५ ज्ञानेन्द्रिय (*Organs of Sense*) और ५ कर्मेन्द्रिय (*Organs of work*)। ज्ञानेन्द्रिय मे कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण हैं।

कर्ण ( *Ear* ईअर ) :- श्रवणेन्द्रिय का आश्रय स्थान है इसका वाह्य अवयव, कर्णशुष्कली फिर कर्ण कुहर (गढ़ा) और फिर श्रुतिपटह (*Ear-drum*) या 'पर्दा' होता है इस स्थान पर शब्द का प्रथक्करण होता है।

नेत्र (*Eye* आई) :- नेत्र, चक्षु इंद्रिय का अधिष्ठान है इसके वीच में कैमरे के लेन्स की भांति कनीनिका है जो वाह्य वस्तुओं का प्रतिविम्ब, दर्शक नाड़ी के द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचा कर रूप का ज्ञान कराती है।

रसना-जीभ ( *Tongue* टङ्ग ) :- यह पेशियों की बनी हुई स्वाद-वाहिनी नाड़ियों से—आवेष्ठित स्वादेन्द्रिय की अधिष्ठान भूमि है। इसके ऊपर स्वाद के अंकुर फैले हुए हैं जो स्वादों का प्रथक २ ज्ञान कराते हैं। साथ ही यह वागेन्द्रिय का साधन भी है। इसी के द्वारा हम शब्दों और आवाजों में भिन्नता उत्पन्न करते हैं।

घ्राणेन्द्रिय (*Nose* नोज़) :-

इस इन्द्री का आधार नाक है। नाक के अन्दर घ्राण कला (झिल्ली) में गन्धवाहिनी नाड़ियों का जाल फैला हुआ है, जो भिन्न २ प्रकार की सुगन्ध और दुर्गन्ध का ज्ञान कराता है।

(६२ श) ज्ञानेन्द्रियों की भांति ही वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं।

वागेन्द्रिय :- कंठस्थ स्वरयन्त्र और जिह्वा इस इन्द्रिय की अधिष्ठान भूमि है। स्वरयन्त्र में उत्तेजना उत्पन्न होकर आवाज निकलती है जिसका जिव्हा के द्वारा भिन्न २ प्रकार के शब्दों में प्रथकरण होता है।

पाणि और पाद :-

( शाखायें, हाथ-पैर-*Limbs* लिम्ब्स या *Extremities* ऐक्सट्रीमिटीज़ ) :- ये शरीर की

शाखायें हैं। इनके द्वारा उठाने, लड़ने, चलने, पकड़ने आदि का कार्य होता है।

उपस्थ (*Genitals* जैनीटल्स) :– पुरुष में मेढ़् (*Penis* पेनिस) और स्त्री में योनि (*Valva* वल्वा) होती है ये जननेन्द्रिय के अधिष्ठान हैं। उपस्थ डंडे जैसी ३ मांस-पेशियों का बना हुआ होता है इसमें अस्थि नहीं होती। मैथुन के समय इसकी रक्त प्रणालियों में रक्त का अधिक संचार होने से यह लम्बा और दृढ़ होजाता है।

पायु (गुदा–*Anus* ऐनस) :– यह त्रिवलियुक्त मल विसर्जन करने वाली इन्द्री है; इसका ऊपरी मुंह बृहदन्त्र का अन्तिम भाग होता है और अधोमुख बाहर की ओर स्पष्ट दिखाई देता है।

(६२ स) रंध्र :–

शरीर में स्वेद विसर्जक रोम कूपों के अतिरिक्त नौ द्वार और होते हैं। पुरुष के शरीर में ६ और स्त्रियों के शरीर में १२ रंध्र होते हैं। पुरुष के दो आंख, दो नाक, दो कान, एक मुख, एक गुदा और एक मेढ़् होते हैं। स्त्रियों के मेढ़् के स्थान में भग नासा (*Clitoris* क्लिटोरिस) होती है। तथा १ अपत्य-पथ (योनि) और २ स्तन छिद्र स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक होते हैं।

(६२ ह) उपाङ्ग :–

उपरोक्त अङ्गों के अतिरिक्त शरीर में अन्य जो कार्य-कर्ता अङ्ग हैं उन्हें उपाङ्ग कहते हैं। उपाङ्ग बृहदङ्गों के आश्रित रहते हैं तथा बृहदङ्गों के सम्पूर्ण कार्य इन्हीं के द्वारा सम्पादित होते हैं।

ऊर्ध्वाङ्ग के उपाङ्ग :– ललाट, भ्रू, शंख (कनपटी), गंड, ऊर्ध्वहनु, अधोहनु, ओष्ठ (ऊपर का होठ), अधर (नीचे का होठ), चिबुक और ग्रीवा ये ऊर्ध्वाङ्ग के उपाङ्ग हैं।

मध्य भाग के उपाङ्ग :– दोनों स्तन, वक्षस्थल, पीठ, उदर, नाभि-प्रदेश, वस्ति-प्रदेश, पृष्ठवंश और त्रिक ये मध्यभाग के उपाङ्ग हैं।

शाखाओं के उपाङ्ग :– (ऊर्ध्वशाखा के)-अंस (कंधा), कक्षा, प्रगंड (भुजा), कफोणी (कोहनी), प्रकोष्ठ, मणिबन्ध, करतल और कर-पृष्ठ (करभ) हैं।

अधोशाखा (सक्थि) के उपाङ्ग:–जघन (नितम्ब), वंक्षण, ऊरु, जानु, जंघा, गुल्फ, पादसन्धि, पार्ष्णि, पादतल, पादपृष्ठ (तलुआ), प्रपद और अंगुलि हैं।

(६२ क्ष) दोष :—

उपरोक्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग, धातु इन्द्रियादिक जीवित अथवा मृत देह में भली प्रकार देखे जा सकते हैं तथा इनका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु इन सबके अतिरिक्त एक वस्तु और है जिनका ज्ञान आधुनिक समय में केवल लक्षणों के द्वारा ही हो सकता है। ये आयुर्वेद के स्तम्भ 'त्रिदोष' हैं। आधुनिक साइन्स इस विषय में अभी अन्धकार में है क्योंकि मृत शरीर में, निश्चेष्ट अवस्था में ये निष्क्रिय होकर लुप्त प्राय. हो जाते हैं तथा इनके विकार मात्र शेष रह जाते हैं। इनका पता प्राचीन-काल में दिव्य दृष्टि धारी आर्य महर्षियों ने जीवित देह का निरीक्षण करके लगाया था। ये तीनों प्रथक् २ वात, पित्त, कफ, दो मिलकर द्वन्द्व और तीनों सम्मिलित त्रिदोष के नाम से विख्यात हैं। इनके साम्यावस्था में रहने से आरोग्य और विकृत होने से देह में रोग रूपी अनेक विकार उत्पन्न हो

जाते हैं। ये दोष आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर भी कसे जा सकते हैं। परन्तु यथेष्ट श्रद्धा और लगन के साथ मनन करने पर समझने में आते हैं। [ जो आगे विवेचित होंगे—सं० ] जैसे दिव्य-दृष्टि से दीप्त महर्षियों को ही आत्मा के दर्शन होते हैं। वैज्ञानिक लाख यन्त्रों से भी अभी उसे नहीं देख सकते। त्रिदोष भी इसी प्रकार अभी पार्थिव ज्ञान के बहुत बाहर की वस्तु हैं। मूर्छना ( हिप्नाटिज्म ) के बाद की अवस्था क्लेयर-वोएन्स *Clairvoyance* है इसके साधक को दिव्य-दृष्टि का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। ऐसे साधक ही आत्मा तथा त्रिदोष जैसे सूक्ष्म विषय को कुछ प्रत्यक्ष देख सकते हैं। श्वास - प्रश्वास के साथ आने जाने वाला वायु, वमन से बाहर आने वाले कड़वे नीले - पीले पित्त तथा फेफड़ों से निकलने वाला श्लेष्म मात्र ही वास्तविक वात, पित्त और श्लेष्म नहीं हैं ये तो कतिपय दोष जन्य स्थूल विकार मात्र हैं जो शरीर में अक्षम होने से देह के द्वारा बाहर निकाले जाते हैं। जिस प्रकार वीर्य के सार-तत्व ओज का हीनाधिक्य केवल आकृति-निदान से स्पष्ट हो सकता है उसी प्रकार देहस्थित दोषों की स्थिति - साम्य-असाम्यावस्था — केवल लक्षणों से तथा नाड़ी आदि परीक्षाओं से ज्ञात हो सकती है। त्रिदोष के तत्व से अनभिज्ञ दक्षतर बन्धुओं से त्यक्त सैकड़ों रोगी यदि वैद्यों से जीवन लाभ करते हैं तो इसका श्रेय एक मात्र त्रिदोष--विज्ञान को ही है। इसी कारण बिना त्रिदोष-ज्ञान के शारीर अधूरा रह जाता है। त्रिदोष - युक्त शारीर का ज्ञान रख कर चिकित्सा करने वाले की चिकित्सा ही पूर्ण फलवती होती है। उक्तंच-

शरीर संख्याम् यो वेद सवावयवशो भिषक्।
तद् ज्ञान निमित्तेन मोहेन स न युज्यते ॥

---

## [ ले० श्री० डा० गणपतिचन्द्र जी केला ]

(६३) हर अङ्ग एक काम करता है। आंख देखती है, कान सुनते हैं। कोई २ अङ्ग दो-तीन काम करता है। जीभ भोजन मुख मे चलाती है, उसका स्वाद चखती है और ध्वनि भी बनाती है। परन्तु कोई २ एक ही काम अनेक अङ्ग मिलकर करते हैं। जैसे-आमाशय, आंत, जिगर आदि मिलकर अन्न पाचन का एक काम करते हैं। स्वरयन्त्र, गला, तालु, जिव्हा और मुख मिलकर 'वाणी' बोलते हैं। मुख, कण्ठ, टेंटुआ और फुफ्फुस मिलकर श्वास लेते हैं। यह प्रत्येक काम के प्रत्येक अङ्गों का १-१ सैट एक संस्थान (*System* सिस्टम ) या मण्डल कहलाता है। ऐसे १० प्रधान मण्डल हैं।

| | |
|---|---|
| १—अस्थि मण्डल | ६-पाचन संस्थान |
| २-सन्धि मण्डल | ७-रक्त संस्थान |
| ३-मांस मण्डल | ८-श्वास संस्थान |
| ४-नाड़ी मण्डल | ९-मूत्र संस्थान |
| ५-ज्ञानेन्द्रिय मण्डल | १०-जनन संस्थान |

अब इन संस्थानों और मण्डलों का वर्णन करेंगे।

# अस्थि पंजर या कंकाल

## [ Skeleton स्केलीटन ]

(६४) शरीर को उसके ढङ्ग-ढांचे में ही खड़े रख सकना हड्डियों का काम है। किसी प्राणी के शरीर की तमाम हड्डियां, जीवित दशा में जैसे लगी रहती है- उस ढांचे को कङ्काल या अस्थि-पंजर (*Skeleton* स्केलीटन) कहते हैं। मरने पर त्वचा और मांस तो कुछ समय में ही खतम हो जाते हैं। वे या तो उसी समय जला दिये जाते हैं या कब्र में गड़े-गड़े गल जाते है अथवा पारसीयों की भांति मुर्दे ऊंचे पर रख दिये जायं तो पक्षीगण और सूर्य की धूप के द्वारा भी मांस और त्वचा खतम हो जाते हैं। परन्तु हड्डियां बहुत दिन तक रहती हैं। कई बार तो हजारों-लाखों वर्ष बाद भी अस्थिकंकाल पाकर यह अन्दाज लगाया जाता है कि यहां कौन प्राणी रहते थे।

(६५) मनुष्य शरीर में छोटी-बड़ी २०६ हड्डियां तो सभी मानते है, परन्तु आयुर्वेदिक मतानुसार वे ३०० या ३६० गिनी जाती हैं। इनमें संख्या का अन्तर कोई बाधा नहीं डालता क्योंकि वह सिर्फ वर्गीकरण और गिनने के ढङ्ग का भेद है जो आगे स्पष्ट कर दिया जायगा। ये हड्डियां परस्पर एक-दूसरे से जहा मिलती है वहा अनेक तरह के जोड़ और छपके बन जाते हे। इनका भी आगे वर्णन आवेगा।

### अस्थियों का महत्व-

(६६) हड्डिया कड़ी और एक ही आकार की रहने वाली होने के कारण शरीर में एक नहीं ५-६ काम करती हैं। यथा—

१-अस्थियों से शरीर की आकृति एक समान रही आती है, जहां बोझ पड़े, वहां पिचक नहीं जाती।

२-नरम अङ्गों को इनके आधार का सहारा मिलता है।

३-महत्वपूर्ण कोमल अङ्ग हिफाजत से रहते हैं, जैसे खोपड़ी के बक्स में दिमाग, छाती के किले मे हृदय तथा फुफ्फुस एवं पेड़ू के कोठे में नारी-जननेन्द्रियां हर तरह की चोट-चपेट से बची रहती हैं। ऐसे ही रीढ़ की हड्डी में तमाम शरीर चलाने वाली नस सुषुम्ना मौज से रहती है।

४-शरीर का मांस अर्थात् पेशियां (पट्ठे) इन हड्डियों से जुड़ी और इन्हीं के सहारे टिकी रहती हैं।

५-जब हम किसी चीज को उठाने, हटाने, खींचने या फैंकने, फैलाने या सिकोड़ने के लिये जोर करते हैं, तो हमारे पट्ठे (पेशियां) इन हड्डियों के सहारे से ही जोर करती हैं।

### अस्थि की रचना-

(६७) शरीर की हड्डी कोई जड़ और दृढ पदार्थ मात्र नही, सजीव सृष्टि का अद्भुत संग्रह

## कोषों (जीवाणुओं) का एक पुंज— (बढ़ाये हुए आकार में)

हर कोष में देखिये

चारों ओर खोल (यह प्राय नहीं के बराबर होता है)

बीच में मींगी

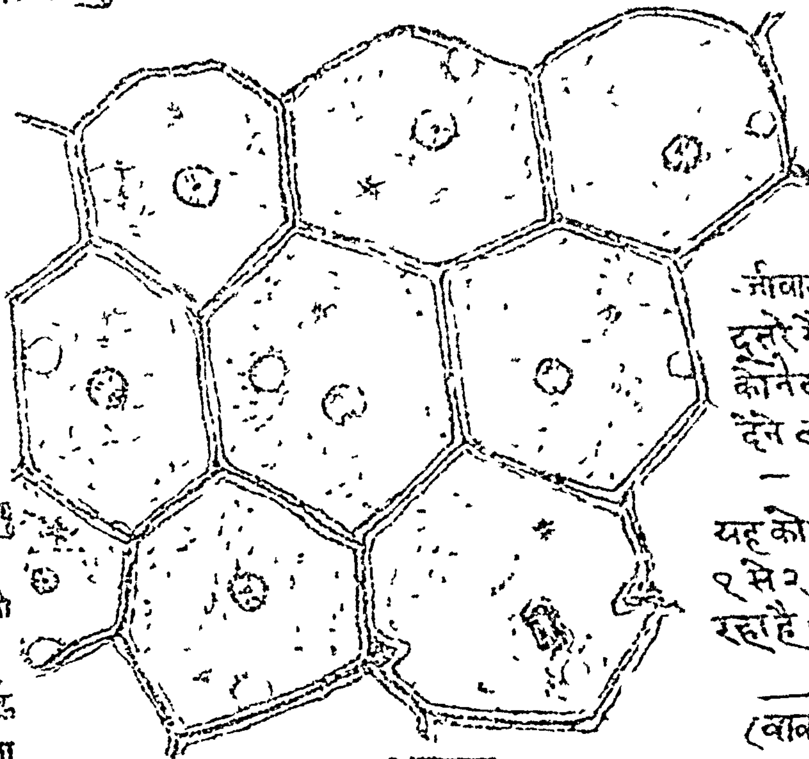
मींगी में ओजाणु (क्रोमोसोम)

अंदर अणुमींगी

१ शून्यबिंदु

१ आकर्षण चक्र

और कुछ कण



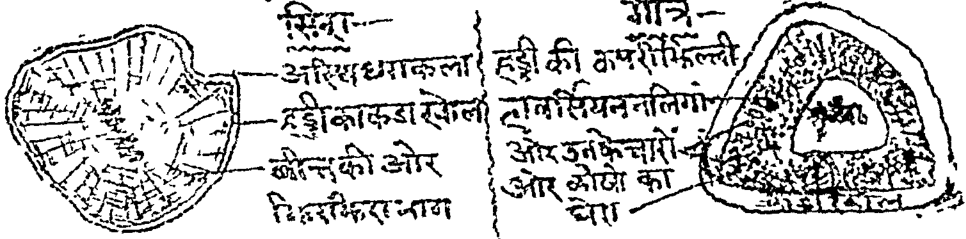
जीवाणु एक दूसरे से दबकर कोनेदार दिखाई देने लगे हैं।

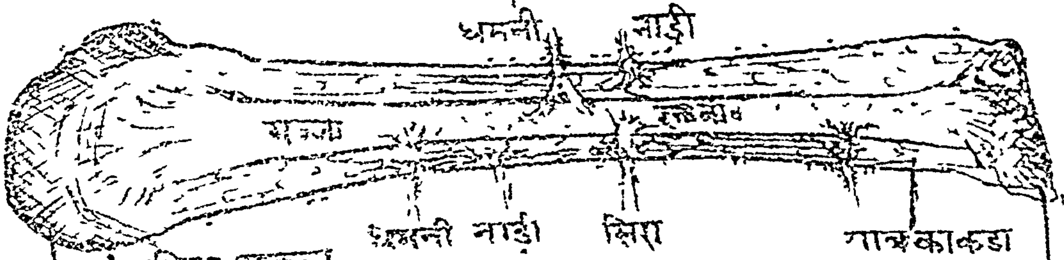
यह कोष बढ़कर १ से २ होने जा रहा है।

(वाक्य ८१)

## अस्थियों की आंतरिक रचना

(गोलाई से काट कर दिखाई हुई)




हड्डी लंबाई में चिरी हुई—

दोनों सिरे ठोस हैं मगर झिरझिरे। बीच का गात्र मध्य में पोला होता है, उस में मज्जा रहती है, मगर किनारे के खोल कड़े होते हैं और उनके अंदर हार्वेसियन नलिका और कोषों के पर्त होते हैं। रक्त मज्जा से छूटकर हड्डी का पोषण करता है।

(पृ० १८-९)

होती है। ये बहुत छोटे २ अस्थि-जीवाणु (*Bone Cells* बोन सैल्स) से बनी होती हैं। इन जीवाणुओं के बहुत सूक्ष्म घरोंदे होते हैं। उन घरों (कोष्ठों) तक रक्त-रस पहुंचाने के लिये चारों ओर से पतली नलियां होती हैं जिससे वह 'चक्र' जैसा बन जाता है। इन कोष्ठों से हड्डी की दीवारें बनी होती हैं जो बहुत कड़ी और मजबूत घिच - पिच होती है। और उन दीवारों के बीच में घिरी हुई जगह - हड्डी का भीतरी भाग—खोखला होता है,उसमें मज्जा (*Bone-marrow* बोनमैरो ) भरी रहती है। कशेरुका (पीठ के मुहरे) पसलियां (*Ribs* रिब्स) आदि की हड्डियों में सिर्फ जीवाणु-कोष्ठों का जाल रहता है, बीच में खोखला स्थान और मज्जा बिल्कुल नहीं होती।

किसी हाल के मरे मनुष्य या खरगोश की जांघ ले लीजिये। यहां की अस्थि शरीर की सब अस्थियों से बड़ी होती है। उसके ऊपर का मांस वगैर. हटाने पर अन्दर कुछ सुर्खी माइल सफेद बड़ी कड़ी चीज निकलेगी। यही ऊरु-फलक या ऊर्वस्थि (*Femur* फीमर) है। इसके ऊपर पतली झिल्ली मिलेगी, यह हड्डियों को ढके रहती हैं और अस्थि-वेस्ट (*Periosteum* पैरीओष्टियम) कहलाती है। अधिक रगड़ खाने वाले जोड़ घुटना, कुहनी आदि पर इस झिल्ली की दोहरी तह होकर थैली सी बन जाती है जिसमे रक्त-रस भरा रहता है और वह हड्डियों को घिसने से बचाता है।

इस झिल्ली की दीवार मे बारीक-बारीक रक्त नालियां होती हैं जो उसमें से हड्डी की दीवार में आती जाती हैं। जब इस झिल्ली को हड्डी पर से खुरच दे तो उन रक्त-नालियों के कट जाने से वहां २ रक्त झलक आता है। हड्डी के दोनों छोरों पर दो मोटे सिरे और उनके बीच का भाग डंडे जैसा होता है। उस डण्डे के भी बीच में एक बड़ी शुद्ध रक्त की नली "धमनी" हड्डी में प्रवेश करती है तथा एक सिरा (अशुद्ध रक्त की नली) निकलती है।

हड्डी को आरी से काट कर दो टुकड़े करें तो वह बांस की नली की भांति अन्दर से पोली होती है। उस पोले भाग में कोमल जमे हुए घी जैसा पीला सा सुर्खी-मायल तत्व भरा रहता है जो कि मज्जा (*Bone-marrow* मैरो ) है। बड़ी धमनी इसी तत्व में रक्त पहुंचाती है और यह तमाम अस्थि को उसे रक्त के तत्व देती है। तथा तमाम हड्डी से मल संग्रह होकर इस मज्जा में आमिलते हैं और उसमे से उन्हें लेकर अशुद्ध रुधिर वाहिनी 'सिरा' हड्डी से पार होती हुई बाहर आजाती है।

अब हड्डी को लम्बाई के रुख आड़ा काटें तो वह मज्जा की नाली बीच के डण्डे में ही मिलेगी। हड्डी के सिरों पर वह नली नहीं होती। वे ठोस होते हैं परन्तु उनकी बनावट बड़ी जालीदार होती है। वह बर्र के छत्ते की भांति अनेक आड़े टेढ़े सूक्ष्म- पर्दों से बने होते हैं। जिनमें कुछ छड़े हड्डी को लगने वाले धक्के झेलतीं और उस पर पड़ने वाला भार सहन करती हैं तथा कुछ उन छडों को जोड़े रहते है। इसको अस्थि की जाली (*Cancellous* कैंसीलस) कह सकते है। रीढ़ के मुहरों और पसलियों में तमाम यह जाली ही होती है बीच की पोली नली और मज्जा बिल्कुल नहीं होती।

इस जाली के आस-पास चारों ओर ठोस अस्थितत्व का पर्त्त होता है, यह सिरों पर कम मोटा और बीच दण्ड में बहुत मोटा होता है। यह भी असल मे एक ठोस चीज नही बल्कि कई पतले रेशों का सम्मिलन होता है। जैसे बांस मे अनेक खड़े २ रेशे होते हैं, ठीक वही हाल अस्थि का सम-

गढ़े को और भी गहरा करने वाली - किनारे २ इसी उपास्थि की पट्टी चढ़ी होती है। ऐसा ही कूल्हे ( चूतड़ ) के जोड़ में भी होता है।

सूत्रीय-तरुणास्थि-



सफेद या पीले सूत्रोंकी तरुणास्थि

[ इसकी सेलें तो सादा तरुणास्थि के समान ही हैं, परन्तु उनके आस-पास केवल 'जीवनरस' ही नहीं, बल्कि पतले-पतले सफेद या पीले सूत्र भी हैं। इन्हीं से यह लचकदार रहती है। ]

३-पीत सूत्रीय उपास्थि-( *Yellow fibro-Cartilage* यलो फाइब्रोकार्टीलेज ) में लचकदार पीले सूत्रों की आड़ी-टेढ़ी तहें जमी होती हैं और उनके बीच में उपास्थि की सेलें फंसी होती हैं। यह तरुणास्थि औरों की अपेक्षा अधिक लचकीली होती है और जीभ के पीछे और उपजिह्वा ( *Epiglottis* ऐपीग्लौटिस ), स्वर-यन्त्र ( *Larynx* लैरिंग्स ) के कुछ हिस्से, कान से कण्ठ तक आने वाली नली तथा कान के बाहरी भाग आदि स्थानों पर लगी होती है।

## तरुणास्थि की जीवनी-

तरुणास्थि बड़े काम की चीज है। प्रारम्भ में तो बालक के शरीर की सभी हड्डियां प्रायः ऐसी ही होती हैं परन्तु धीरे २ क्रमशः इनकी जगह पक्की हड्डी बनती जाती है। इसीलिये आयुर्वेद में इनकी गणना भी अस्थियों में ही की गई है। कड़ी अस्थियों के बीच में रह कर उनकी रगड़ बचाती है, और उनके ढांचे को हिल - जुल तथा सिकुड़- फैल सकने योग्य बनाती है। स्वरनली जैसे कोमल मार्गों को अपनी गोल - नलिकाकार आकृति बनाये रखने में इसी के छल्ले मदद देते हैं।

तरुणास्थि से जब अस्थि बनने लगती है तब पहिले तरुणास्थि में एक जगह "अस्थिकेन्द्र" बनता है, अर्थात् ज़रा से स्थान में चूने के तत्व आ-आकर अधिक जमा होने लगते हैं, इनसे वहां की रचना दृढ़तर होती जाती है और उपास्थि के जीवाणुओं की जगह भी नयी तरह के अस्थि-जीवाणु बनते जाते हैं। यह अस्थिकेन्द्र प्रायः हड्डी के गात्र के मध्य भाग में ( डंडे में ) कायम होता है। वहां से धीरे २ फैलते अर्थात् हड्डी बनते हुए यह सिरों तक पहुंचता है। बड़ी हड्डियों में हर सिरे पर भी एक-एक "अस्थिकेन्द्र" बन कर अपना काम करने लगता है। जिन हड्डियों में अलग उभार, घुंडियां या प्रवर्धन होते हैं, उनमें उन प्रवर्धनों के बीच में भी एक-एक अस्थिकेंद्र बन जाता है। फिर जब गात्र और सिरों में अस्थि बन चुकती है - उसके बाद उनके बीच में रही हुई तरुणास्थि की शेष चकती भी अस्थि हो जाती है। उससे पहिले यदि चोट लग जाय तो हड्डी का सिरा-उसके गात्र से कुछ हट जाता या इधर-उधर हो जाता है। ऐसा

** * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * **

होती है। ये बहुत छोटे २ अस्थि-जीवाणु (*Bone Cells* बोन सैल्स) से बनी होती हैं। इन जीवाणुओं के बहुत सूक्ष्म घरोंदे होते हैं। उन घरों (कोष्ठों) तक रक्त-रस पहुंचाने के लिये चारों ओर से पतली नालियां होती हैं जिससे वह 'चक्र' जैसा बन जाता है। इन कोष्ठों से हड्डी की दीवारें बनी होती हैं जो बहुत कड़ी और मजबूत चिच-पिच होती हैं। और उन दीवारों के बीच में घिरी हुई जगह-हड्डी का भीतरी भाग—खोखला होता है, उसमें मज्जा (*Bone-marrow* बोनमैरो ) भरी रहती है। कशेरुका (पीठ के मुहरे) पसलियां (*Ribs* रिब्स) आदि की हड्डियों में सिर्फ जीवाणु-कोष्ठों का जाल रहता है, बीच में खोखला स्थान और मज्जा बिल्कुल नहीं होती।

किसी हाल के मरे मनुष्य या खरगोश की जांघ ले लीजिये। यहां की अस्थि शरीर की सब अस्थियों से बडी होती है। उसके ऊपर का मांस वगैर. हटाने पर अन्दर कुछ सुर्खी माइल सफेद बड़ी कडी चीज निकलेगी। यही ऊरु-फलक या ऊर्वस्थि (*Femur* फीमर) है। इसके ऊपर पतली झिल्ली मिलेगी, यह हड्डियों को ढके रहती है और अस्थि-वेस्ट (*Periosteum* पैरीओस्ट्रियम) कहलाती है। अधिक रगड़ खाने वाले जोड घुटना, कुहनी आदि पर इस झिल्ली की दोहरी तह होकर थैली सी बन जाती है जिसमें रक्त-रस भरा रहता है और वह हड्डियों को घिसने से बचाता है।

इस झिल्ली की दीवार मे बारीक-बारीक रक्त नालियां होती है जो उसमे से हड्डी की दीवार में आती जाती है। जब इस झिल्ली को हड्डी पर से खुरच दे तो उन रक्त-नालियों के कट जाने से वहां २ रक्त झलक आता है। हड्डी के दोनों छोरों पर दो मोटे सिरे और उनके बीच का भाग डंडे जैसा होता है। उस डण्डे के भी बीच में एक बड़ी शुद्ध रक्त की नली "धमनी" हड्डी में प्रवेश करती है तथा एक सिरा (अशुद्ध रक्त की नली) निकलती है।

हड्डी को आरी से काट कर दो टुकड़े करें तो वह बांस की नली की भाति अन्दर से पोली होती है। उस पोले भाग में कोमल जमे हुए घी जैसा पीला सा सुर्खी-मायल तत्व भरा रहता है जो कि मज्जा (*Bone-marrow* मैरो ) है। बड़ी धमनी इसी तत्व मे रक्त पहुंचाती है और यह तमाम अस्थि को उसे रक्त के तत्व देती है। तथा तमाम हड्डी से मल संग्रह होकर इस मज्जा में आमिलते हैं और उसमें से उन्हें लेकर अशुद्ध रुधिर वाहिनी 'सिरा' हड्डी से पार होती हुई बाहर आजाती है।

अब हड्डी को लम्बाई के रुख आड़ा काटे तो वह मज्जा की नाली बीच के डण्डे में ही मिलेगी। हड्डी के सिरों पर वह नली नही होती। वे ठोस होते हैं परन्तु उनकी बनावट बड़ी जालीदार होती है। वह बर्र के छत्ते की भांति अनेक आड़े टेढ़े सूक्ष्म पर्दों से बने होते है। जिनमे कुछ छड़ें हड्डी को लगने वाले धक्के झेलतीं और उस पर पड़ने वाला भार सहन करती है तथा कुछ उन छड़ों को जोडे रहते हैं। इसको अस्थि की जाली (*Cancellous* कैंसीलस) कह सकते हैं। रीढ़ के मुहरो और पसलियों में तमाम यह जाली ही होती है बीच की पोली नली और मज्जा बिल्कुल नही होती।

इस जाली के आस-पास चारो ओर ठोस अस्थितत्व का पर्त्त होता है, यह सिरों पर कम मोटा और बीच दण्ड मे बहुत मोटा होता है। यह भी असल मे एक ठोस चीज नही बलिक कई पतले रेशों का सम्मिलिन होता है। जैसे बास में अनेक खड़े २ रेशे होते हैं, ठीक वही हाल अस्थि का सम-

गढ़े को और भी गहरा करने वाली – किनारे २ इसी उपास्थि की पट्टी चढ़ी होती है। ऐसा ही कूल्हे ( चूतड़ ) के जोड़ मे भी होता है।

सूत्रीय-तरुणास्थि–



सफेद या पीले सूत्रोंकी तरुणास्थि

[ इसकी सेलें तो सादा तरुणास्थि के समान ही है, परन्तु उनके आस-पास केवल 'जीवनरस' ही नहीं, बल्कि पतले-पतले सफेद या पीले सूत्र भी हैं। इन्हीं से यह लचकदार रहती है। ]

३–पीत सूत्रीय उपास्थि–( *Yellow fibro-Cartilage* यलो फाइब्रोकार्टीलेज ) मे लचकदार पीले सूत्रों की आडी-टेढ़ी तहें जमी होती हैं और उनके बीच मे उपास्थि की सेले फंसी होती है। यह तरुणास्थि औरों की अपेक्षा अधिक लचकीली होती है और जीभ के पीछे और उपजिह्वा ( *Epiglottis* ऐपीग्लौटिस ), स्वर-यन्त्र ( *Larynx* लैरिंग्स ) के कुछ हिस्से, कान से कण्ठ तक आने वाली नली तथा कान के बाहरी भाग आदि स्थानो पर लगी होती है।

## तरुणास्थि की जीवनी–

तरुणास्थि बड़े काम की चीज है। प्रारम्भ में तो बालक के शरीर की सभी हड्डियां प्रायः ऐसी ही होती हैं परन्तु धीरे २ क्रमशः उनकी जगह पक्की हड्डी बनती जाती है। इसीलिये आयुर्वेद मे इनकी गणना भी अस्थियो मे ही की गई है। कड़ी अस्थियों के बीच मे रह कर उनकी रगड़ बचाती है, और उनके ढांचे को हिल - जुल तथा सिकुड़- फैल सकने योग्य बनाती है। स्वरनली जैसे कोमल मार्गों को अपनी गोल- नलिकाकार आकृति बनाये रखने में इसी के छल्ले मदद देते हैं।

तरुणास्थि से जब अस्थि बनने लगती है तब पहिले तरुणास्थि में एक जगह "अस्थिकेन्द्र" बनता है, अर्थात् ज़रा से स्थान में चूने के तत्व आ-आकर अधिक जमा होने लगते हैं, इससे वहां की रचना दृढ़तर होती जाती है और उपास्थि के जीवाणुओं की जगह भी नयी तरह के अस्थि-जीवाणु बनते जाते हैं। यह अस्थिकेन्द्र प्रायः हड्डी के गात्र के मध्य भाग मे ( दंडे मे ) कायम होता है। वहां से धीरे २ फैलते अर्थात् हड्डी बनते हुए यह सिरों तक पहुंचता है। बड़ी हड्डियों में हर सिरे पर भी एक-एक "अस्थिकेन्द्र" बन कर अपना काम करने लगता है। जिन हड्डियों में अलग उभार, घुंडियां या प्रवर्धन होते हैं, उनमें उन प्रवर्धनों के बीच मे भी एक-एक अस्थिकेंद्र बन जाता है। फिर जब गात्र और सिरों मे अस्थि बन चुकती है – उसके बाद उनके बीच मे रही हुई तरुणास्थि की शेष चकती भी अस्थि हो जाती है। उससे पहिले यदि चोट लग जाय तो हड्डी का सिरा-उसके गात्र से कुछ हट जाता या इधर-उधर हो जाता है। ऐसा

बाल्यावस्था के प्रथम दो वर्षों में अधिक हुआ करता है।

परन्तु कई बड़ी-बड़ी हड्डिआं ४-६-१०-१५ और २० वें वर्ष की आयु तक पूरी अस्थि बन पाती हैं। जैसे- ऊरु-अस्थि (फेमुर); यह १॥ मास का गर्भ होता है तभी- उपास्थि की एक सलाई जैसी बन चुकती है। उस सलाई की आकृति तो पूरी उमर की जान्वस्थि जैसी ही होती है, परन्तु वह होती है बहुत छोटी और कोमल कार्टिलेज की। इसके बाद ही उसके दंडे के बीच से "अस्थिकेंद्र" बन कर कठोरता आना शुरू होता है, और गर्भ का नवम मास पूरा होने तक उसका कुल गात्र अस्थि बन चुकता है। परन्तु उसके सिरे बहुत बरसों तक कार्टीलेज के रहते हैं। प्रथम वर्ष में निचला सिरा अस्थि बन जाता है। ऊपर के सिरे में कई उभार होते हैं उनमें क्रमशः पहले, चौथे और चौदहवें वर्ष मे हड्डी बनती है। १७-१८ वर्ष तक ऊपर का सिरा, उसका बड़ा उभार, छोटा उभार, अस्थि का गात्र और नीचे का सिरा ये पांचों उबालने से अलग-अगल हो सकते हैं। २० वें वर्ष में वे सब जुड़ कर एक अस्थि बन चुकती है।

(६८) शरीर के अस्थि-पंजर में ७ प्रधान भाग हैं—

१—पीठ की रीढ़ और उससे मिला हुआ,
२—छाती का क़िला,
३—खोपड़ी,
४--कन्धे और हाथ की हड्डियां,
५--कूल्हा और पेड़ू का अस्थि कोटर,
६--पैरों की अस्थियां, और—
७--कण्ठ और जबड़े की अस्थियां।

शरीर की मशीन किस ढर्रे पर चलती है उस पर गौर करने से ये सातों भाग बहुत कुछ स्वयं समझ में आजाते हैं।

## रीढ़ (Spine स्पाइन)

जिसे पृष्ठवंश या बांसा भी कहते हैं एक बांस जैसा गांठदार खम्भा होता है जिसमें एक के ऊपर एक ३३ छल्ले रखे होते हैं। ये छल्ले अँगूठी जैसे होते हैं, अर्थात् इनका एक सिरा नगीने की भांति मोटा होता है। और शेष घेरे में से ७ आड़ी-टेढ़ी सुर्रियां निकली होती हैं। इनको 'कशेरुका' या 'मुहरे' (*Vertebra* वर्टेब्र्) कहते हैं। इसका बहुवचन *Vertebrae* वर्टेब्री होता है।

(६६) ये सिर से लेकर कमर के नीचे त्रिक की हड्डी (गुदास्थि) तक जाते हैं, जिसमे गर्दन, छाती, कमर और त्रिक के अनुसार ही उनके नाम रख दिये गये हैं। ७ मुहरे गर्दन के पीछे पड़ते हैं उन्हें 'ग्रैव-कशेरुका' कहते हैं। लैटिन मे गर्दन को *Cervix* सर्विक्स कहते हैं अतः डाक्टर इन्हें *Cervical vertebrae* सर्वाइकल वर्टेब्री बोलते हैं। इनके बाद ८ वें से १६ वे तक १२ छाती के पीछे पड़ते हैं अतः वे वक्ष-कशेरुका (*Dorsal vertebrae* डोर्सल वर्टेब्री या *Thoracic* थोरेसिक वर्टेब्री) कहलाते है। *Thorax* थोरेक्स और *Dorsum* डोर्सम ये छाती के नाम हैं।

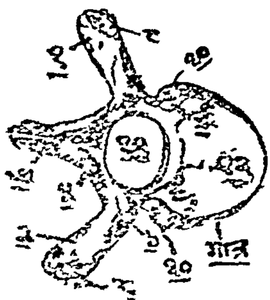
इनके बाद २० वें से २४ वे तक ५ मुहरे पीठ के कटि-भाग में रहने के कारण कटी-कशेरुका (*Lumbar vertebrae* लम्बर वर्टेब्री) कहलाते हैं। उसके बाद भी ६ मुहरे होते हैं, परन्तु वे

युवावस्था में सिर्फ अस्थिखण्ड बने पाये जाते हैं। ऊपर त्रिक-अस्थि होती है जो असल में ५ मुहरों के जुड़ जाने से बनी दिखाई देती है और उन पांचों के ४ सन्धि स्थलों पर बायें-दायें दोनों ओर १-१ छेद होता है जिनसे होकर नसे और रगें आती-जाती है। अन्त में ४ मुहरों से जुड़ कर बनी हुई "गुदास्थि" होती है। इसका अन्तिम भाग वास्तव मे एक तिकोना मुहरा होता है जिसकी नोक आगे चोंच जैसी गुदा के पास टटोली जासकती है। पशुओं मे यह ४ मुहरो से बनी हुई 'गुदास्थि' लम्बी पूँछ के रूप में होती है और 'पुच्छास्थि' कहलाती है।

## मुहरों की रचना–

(१००) इन मुहरों में तीसरे से लेकर २४ वें तक सबकी बनावट लगभग एक नक्शे पर होती है। हर एक में एक ऐसी चकती होती हैं जैसी ईख की गडेलियां, जिसे मुहरे का 'गात्र' (*Body* बौडी) कहते हैं। यह अँगूठी का नगीने वाला भाग हुआ। इसके एक ओर को एक गोल घेरा होता है जो नस-वाही घेरा (न्यूरल आर्क *Neural arch*) कहलाता है इसमे तीन बडे प्रवर्धन (*Process* प्रोसेस) निकले होते हैं। एक तो पीछे को ठीक पीठ की ओर (जो टटोलने से मालूम देता है) वंश-प्रवर्धन' (*Spinal* स्पाइनल-प्रोसेस)

## सुषुम्ना (रीढ़) का मोहरा




[नं.१-२-मुहरे के दो पार्श्व प्रवर्धन,

८-यहां पसली का एक अर्बुद जुड़ा रहता है। "अर्बुद सन्धि-स्थल है।"

९-१०-"पर्शु कामूल" यहां पसली जुड़ती है।

३-४-ऊपर के मुहरे से जुड़ने वाले उभार।

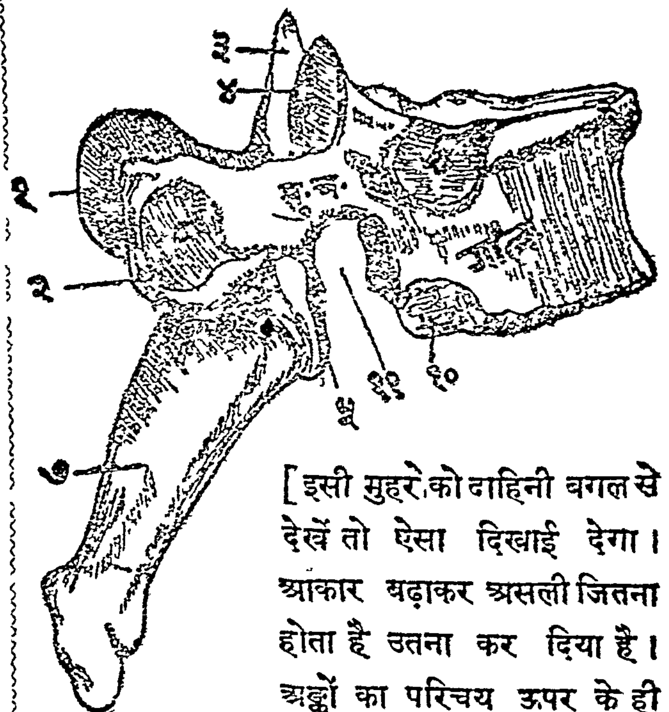
५-सुषुम्ना की नाड़ियां निकलने का पिछला द्वार,

११- ,, ,, ,, ,, अगला द्वार, जिसमें उभार ३ व ४ रहते हैं।

७-पिछला प्रवर्धन, नीचे को जाता हुआ, "वंश प्रवर्धन"

११-मुहरे के बीच का छिद्र, इसमे सुषुम्ना रहती है, "सुषुम्ना चक्र"

१२-मुहरे का "गात्र" इसके नीचे-ऊपर तरुणास्थि की चकती रहती है और इसी पर ऊपर का मुहरा टिकता है। ]




[इसी मुहरे को दाहिनी बगल से देखें तो ऐसा दिखाई देगा। आकार बढ़ाकर असली जितना होता है उतना कर दिया है। अङ्कों का परिचय ऊपर के ही अनुसार है। सु०च०सुषुम्ना का चक्र है जो ऊपर नं. ११ कहा है।]

है। यह तिरछा होकर नीचे को झुका रहता है और नीचे के मुहरे में जा फँसता है, इसी तरह हर एक मुहरा अपने से नीचे वाले मोहरे को रोके रहता है। दूसरे २ प्रवर्धन इसकी दाहिनी और बाईं ओर होते हैं। वे पार्श्व-प्रवर्धन ( *Lateral* लेटरल-प्रोसैस ) हैं। इनसे कई पेशियां और वन्धन वॅधे रहते हैं। छाती के कशेरुकाओं में तो इन पार्श्व-प्रवर्धनों और मुहरों के गात्रों से -- दोनों ओर एक-एक पसली भी जुड़ी रहती है।

इनके अलावा मुहरों में ४ प्रवर्धन ऊपर-नीचे २-२ ऐसे और होते हैं जिनमे ऊपर के मुहरे, नीचे के मुहरे से ठीक फंस जाते हैं।

(१०१) इन कशेरुकाओं के बीच-बीच मे नरम गद्दिया लगी रहती हैं जो नरम हड्डी की होती हैं। वह मास से कुछ कड़ी और हड्डी की अपेक्षा कुछ कोमल चीज होती है। उसे तरुण-अस्थि ( *Cartilage* कार्टीलेज ) कहते हैं। आयुर्वेदकारों ने इसे अस्थि मे ही गिना है परन्तु डाक्टरी मे यह एक अलग चीज़ गिनी जाती है। कशेरुकाओं के बीच बीच मे ये रहने से ही हम रीढ़ और पीठ को आगे-पीछे, दायें-बायें आराम से मोड़ लेते हैं- सिर्फ कड़ी हड्डियों के मुहरे होते तो ऐसा करना सरल न होता। इन गद्दियों को कशेरुकान्तर-तरुणास्थि ( *Inter-vertebral cartilage* इन्टर-वर्टेब्रल कार्टीलेज ) कहते हैं। ये मुहरों को एक-दूसरे से जुड़े रखते हैं और झटके-धक्के झेलते रहते हैं।

प्रत्येक मुहरे के गात्र और प्रवर्धनों से ऊपर-नीचे के मुहरों तक कुछ सूत्र या वन्धन लगे होते हैं और कुछ नसे - और रगें ऊपर से नीचे तक जाती हैं, इस कारण रीढ़ का यह तमाम सिलसिला एक खम्भे की शक्ल में बंधा हुआ खड़ा रहता है। यह गर्दन और कमर पर आगे को झुका रहता है तथा छाती पर पीछे को मुड़ा रहता है। अन्तिम त्रिक की की हड्डी भी कुछ पीछे को जाकर आगे को मुड़ आती है।

## पृष्ठवंश ( रीढ़ )



नं० १ से ७ तक- ग्रीवा के मुहरे।

१. से १२. तक- छाती के मुहरे

१' से ५' तक-कमर के मुहरे

त्रिक- त्रिक नामक ५ मुहरों की हड्डी

गुदास्थि- चंचु जैसी अन्तिम अस्थि

छि०-सुषुम्ना से नाड़ियां आने-जाने के लिये छिद्र

प० मू०-पशु कामूल- यहां पसली जुड़ती है

अ०स०-अर्बुदसंधिस्थल यहां पसली का एक अर्बुद जुड़ता है।

त-मुहरों के वीच २ की तरुणास्थियां

वंश-प्रवर्धन-पीछे की ओर नीचे को झुके हुए प्रवर्धन।

नं० १-शीर्षाधार-
नं० २-शीर्षधुरी } -इनकी रचना और कार्य औरों से वहुत भिन्न होते हैं।

इन मुहरों में गात्र के पीछे से हर एक में जो खाली घेरा रहता है - उससे, ऊपर से नीचे तक एक

लम्बी नाली बन जाती है। इस नली में शरीर की सबसे बड़ी नस– महानाड़ी 'सुषुम्ना' रहती है। यही पैर से गर्दन तक प्रायः सब अङ्गों को चलाती है।

## शीर्षाधार और शीर्षधुरी

(१०२) सबसे ऊपर का मुहरा नं० १ ऐसा बना होता है कि उस पर सिर बखूबी टिक जाय तथा आगे पीछे, बांये दाहिने झुकाया जा सके। इसमें मुहरे का गात्र नहीं होता, सिर्फ घेरा होता है जिसमें बांये-दाहिने प्रवर्धनों की जगह मोटी २ हड्डियां होती हैं। जिनमें दो गड्ढे होते हैं। इन गढ़ों में सिर के दो प्रवर्धन अटके रहते हैं। इस मुहरे को शीर्षाधार (*Atlas* ऐटलस) कहते हैं।

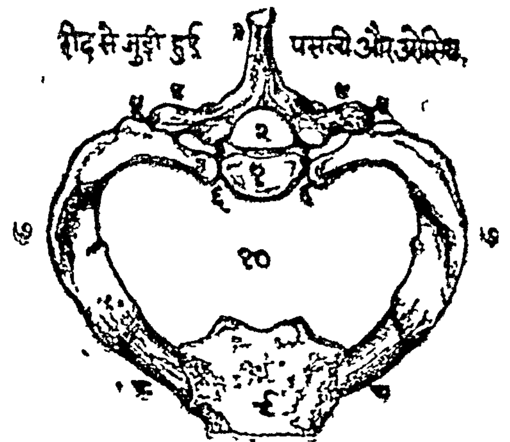
(१०३) इसके नीचे दूसरे मुहरे के गात्र की जगह एक शिखर उठा रहता है जिसे "शीर्षधुरी" (*Odontoid Peg* ओडोन्टोइड पेग) कहते हैं। इस पर रखा हुआ सिर सहित पहला मुहरा अपने लगभग चारों ओर घूम सकता है। इन मुहरों के ऊपर सिर रखा रहता और अनेक बन्धनों से बंधा रहता है। जब हम सिर या चहरा दांये-बांये घुमाते हैं, तब तमाम माथा और पहला मुहरा, इसी दूसरे मुहरे की "शीर्षधुरी" पर घूमता है, वहां एक स्नायु बन्धन ऐसा लगा रहता है जिसके कारण सिर अलग नहीं जाने पाता–परन्तु उसका इधर-उधर घूम सकना भी कुछ सीमित हो जाता है।

## पर्शुकायें (पशुलियां *Ribs* रिब्स)

(१०४) रीढ़ के स्तम्भ में जो छाती के १२ मोहरे हैं, उनमें प्रत्येक की दाहिने–बांये और एक एक पसली जुड़ी होती है। पसली हड्डी का ऐसा डंडा समझिये जो कुछ गोल घूमता हुआ-पीठ से छाती तक आता है ये हर ओर १२-१२ हैं, और-ऊपर से गिनती करके ही इनके नाम भी डाले हुये हैं, जैसे पहली पसली, दूसरी पसली आदि। परन्तु ये सभी

## पसली नं० १ का घेरा–

(और पसलियों का घेरा इससे क्रमशः बड़ा होता जाता है।)




१-मुहरा नं० छाती १ का गात्र
२- " " सुषुम्ना चक्र
३- " " वंशप्रवर्धन
४-४ पसली के अर्बुद से जुड़ने वाले पार्श्व प्रवर्धन (आयुर्वेद इन्हें मुहरों से अलग भी गिनता है।

५-५ पसली का अर्बुद तथा 'अर्बुद संधिस्थल'
६-६ असली पसली और रीढ़ के मुहरों का संगम।

७-७ (न० ५ और ८ के बीच का भाग दोनों ओर) "प्रथम पर्शुका"

८-८-पहली पसली की तरुणास्थियां
९-उरोस्थि का ऊपरी खण्ड जिसमें पहली पसली जुड़ी है। ]

शरीर के गह्वर (गुहायें)

शिरोगुहा
नासागुहा
मुखगुहा
स्तन
उरो गुहा
कोठी
उदर गुहा
नाभि
सुषुम्ना
त्रिकास्थि
वस्ति गुहा
भग
गुदास्थि

शरीर के प्रदेश-

१ ललाट
२ गंडस्थल
३ हनु
४ स्कंध
५ स्तन
६ वक्ष
७ चूचुक
८ कोठीदेश
९ यकृत्देश
१० नाभिदेश
११ पार्श्व
कटि-
१२ कटि
श्रोणि
अंगुष्ठ
तर्जनी
मध्यमा
अनामिका
कनिष्ठा
जांघ
जानु
जंघा
टांग
पादांगुलियां
गुल्फ
पादांगुष्ठ

२१ कर्णपुटी
२२ कपोल
२३ ग्रीवा
२४ अंस
२५ पार्श्वदेश
२६ कुहनी
२७ हृद्देश
२८ उदरदेश
२९ क्लोम
३० प्लीहा
३१ वृक्क
३२ वामकटि
३३ वामपुट्ठा
३४ भग या
लिंगप्रदेश

रीढ़ के मुहरे :—

नं० १ शीर्षाधार—
(पश्चात्)
नस-प्रवर्धन
धमनी कोछिद्र
दाहिना प्रवर्धन
बायां प्रवर्धन
धमनी कोछिद्र
सुषुम्नाकोछिद्र
(लंगर)
इस छिद्र में
शीर्षकशेरु घूमती है
कशेरुपिंड
इन गढ़ों में खोपड़ी
कपालास्थि के पेंदे की दो घुंडी
फंसी रहती हैं, जिनपर सिर जुड़ता है।

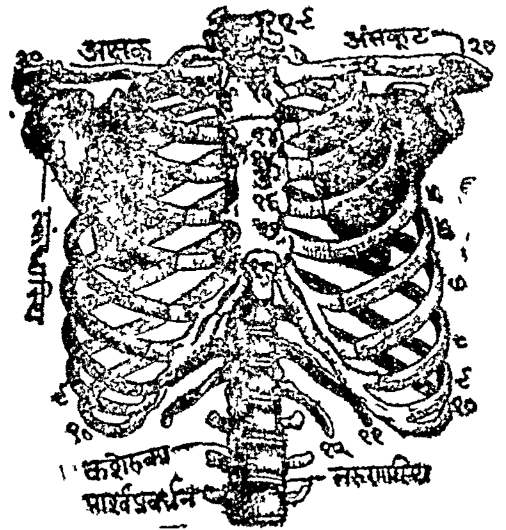
नं० २ शीर्षधुरी
धुरी
ऊर्ध्वतल
पिछलापृष्ठ
अधःकशेरुका को जोड़
वंशाग्रवर्धन
कशेरुपिंड
ओर का पार्श्व
निम्नवर्ती प्रवर्धन
नं० ६ ... प्रवर्धन
नं० ७ ... मुहरे ...

पसलियां सामने छाती तक नहीं आतीं। यदि तरुणास्थि (कार्टिलेज)को अस्थि का ही एक भेद न गिनें तब तो कोई भी पसली छाती तक नहीं आती। परन्तु तरुणास्थि को कच्ची हड्डी ही माना जाय तो (ऊपर से) पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी और पांचवीं पसलियां छाती तक आती है। अर्थात्-उनका कठोर भाग छाती से क्रमशः १-२-३-४ और ५ अंगुल पर रह जाता है और वहां से तरुणास्थि लग कर छाती के बीच की हड्डी में आ-जुड़ती है। यह हड्डी उरोस्थि (*Sternum* स्टरनम) कहलाती है।

## उपपर्शुकाओं का मेल-

(१०५) छठी और सातवीं पसलियों से जो तरुणास्थि चलती है वह बीच में मिलकर एक होजाती और- फिर ५ अङ्गुल और चल कर उरोस्थि के निचले भाग में आ मिलती है।

आठवीं पसली में से तरुणास्थि २ अंगुल चलने पर, उस तरुणास्थि से मिलती है जो नवीं और दसवीं पसली से आती है। और आगे टेढ़ी-मेढ़ी चलती हुई इनकी एकीभूत छड़-उरोस्थि मे सबसे नीचे जा जुड़ती है। उससे पहिले वह सातवीं पसली की तरुणास्थि से भी एक जगह कुछ जुड़ चुकती है और एक जगह सातवी के साथ छठी की तरुणास्थि मिलकर जो टुकड़ा चला था उससे भी-जुड़ती है, परन्तु फिर अलग हो हो जाती है। इससे स्पष्ट ही है कि नवीं और दसवीं पसली की तरुणास्थि बहुत लम्बी आती हैं। ये तो लगभग आधी पसली के बराबर होती हैं और बायीं ओर, तिल्ली तथा दाहिनी ओर जिगर के पास ऐन पसवाड़े में इनका कड़ी पसलियों से सङ्गम होता है।




## छाती का पंजर-

(पसलियां पीठ से छाती की ओर कुछ झुकती हुई आती हैं।)

[नं० १ से १२ तक दोनों ओर १२-१२ पसलियां– (नं० ११–१२ अधूरी ही हैं।)
नं०-१'- २'- ३'- ४'- ५' इन्हीं नम्बरों की पसलियों को उरोस्थि से जोड़ने वाली तरुणास्थियां।
नं.६'- ७'-तरुणास्थियां जो एक होजाती हैं।
नं०-८'- ९'- १०' ,, ,, ,,
नं० १३ उरोस्थि का माथा
१४ से १७ तक उरोस्थि के ४ खण्ड जो यौवन में एक हो जाते हैं।
१८-उरोस्थि की पूँछ- तरुणास्थि। बुढ़ापे में यह भी अस्थि होजाती है।

१६-गर्दन का सातवां कशेरुका
२०-२० स्कन्धास्थि का ऊपरी उभार (अंसकूट)
२१-२१-अक्षक (हंसली)

तरुणास्थि- मुहरों के बीच मे रहने वाला कार्टीलेज
पार्श्व प्रवर्धन- मुहरों के बांये-दाहिने प्रवर्धन
स्कंधास्थि-खवे की तिकोनी हड्डी ]

आगे रही ११ वीं और १२ वीं पसलियां - वे तो रीढ़ से कुछ दूर चलकर वैसे ही झूलती रह जाती है। ११ वीं हर व्यक्ति के अपने ही ११ अँगुल और १२ वी ६-७ अगुल के लगभग होती है।

## उरःफलक

(१०६) छाती के बीच की हड्डी -- उरोस्थि-- लगभग ६-७ इंच की एक चपटी हड्डी होती है। यह ऊपर गले के पास चौड़ी, नीचे को कुछ कम चौड़ी, अन्त मे तनिक सी चोंच रूप होती है। वीच-बीच मे कुछ गांठें होती है। इनसे इसकी शकल छुरे या फन उठाये हुये सर्प जैसी दीखती है। वाल्यावस्था में ये गांठें अलग-अलग ६ खण्ड (जुड़े हुये) होते है। जवानी मे एक ऊपर का खण्ड अलग रहता है एक नीचे का (छठा) वाकी चारों खण्ड मिलकर एक हो जाते है। इनमे नीचे का खण्ड तरुण-अस्थि ही होता है। परन्तु वृद्धावस्था मे यह निचला खण्ड भी कड़ी हड्डी वन जाता है। वीच छाती के कुछ ऊपर टटोलें तो एक आड़ी हड्डी सी मालूम देगी। यह उरोस्थि के प्रथम और द्वितीय खण्ड का संधिस्थल है।

(१०७) पसलियों से इस उरोस्थि तक आने-वाली तरुणास्थि की पर्शुकाऐ–उप-पर्शुकायें भी कही जाती हैं। इन १२ पसलियों के वीच-बीच मे जो ११ मास-पेशियां रहती है, उन्हें पर्शुकान्तर पेशियां (*Intercostal Muscles* इन्टर कोस्टल मसल्स) कहते है, जिनका वर्णन पेशियों में आवेगा।

## पसलियों का पिंजड़ा

(१०८) इन १२-१२ पसलियों से जो पिंजड़ा वनता है वह नीचे को चौड़ा और ऊपर कम चौड़ा होता है। ऊपर-ऊपर वाली पसलियां छोटी होती जाती है और उनका घेरा भी संकुचित। पहली पसलियां तो रीढ़ के मुहरे से उरोस्थि तक कुल दस वारह अँगुल की ही होती हैं। और उनका घेरा भी हथेली के वरावर ही होता है।

(१०६) पहली पसली से भी ऊपर उरोस्थि में २ हड्डियों के टुकड़े जुड़े होते हैं जो प्रायः सीधे ही-दोनों ओर के कंधों तक जाते है। इन्हें हंसली या अक्षक (*Clavicle* क्लाविकल) कहते हैं। कँधे पर एक ढाल जैसी लगभग ५ अँगुल चौड़ी और ७ अँगुल लम्वी तिकोनी हड्डी होती है जिसे 'अँसास्थि'-'स्कन्धास्थि' या 'खवा' कहते है। उसके तीन किनारों में से जो वाहर वगल की ओर होता है, वह सवसे मोटा होता है, अन्दर रीढ़ की ओर होता है वह सवसे पतला परन्तु लम्वा होता है। और ऊपर कन्धे की ओर का किनारा वहुत ऊवड़-खावड़ होता है। उसमे वाहरी कोने की ओर एक चोटी सी निकली होती है, जिसे "अँसकूट" (*Acromion Process* ऐक्रोमियन प्रोसैस) कहते है। इसी से "अक्षक" आकर मिलती है। इस तरह १२ मुहरे रीढ़ के, १२ दाहिनी पसलिया, ७ उनकी तरुणास्थियां, १२ वायीं पसलियां, ७ उनकी तरुणास्थियां, १ उरोस्थि, २ अक्षक-अस्थिया और २ खवे– कुल ५५ अस्थि-उपास्थियों से यह छाती का किला वनता है। इस

किले में दोनों फुफ्फुस, एक हृदय, और एक थाइमस-ग्रन्थि खूब सुरक्षित रहे आते हैं। आगे उरोस्थि इसे पूरा नहीं ढकती। नीचे पिंजड़े के द्वार की भांति कुछ भाग खुला रहता है, जो टटोलने से खाली और नरम सा दीखता है। यही "कौड़ी-प्रदेश" है। यहां पसलियां क महराव-जैसी वनाये हुए हैं। इस किले के नीचे की दीवार एक पेशी ने वनाई होती है जिसे उर और उदर के मध्य में रहने के कारण उरोदरा-पेशी (*Diafragm* डायाफ्राम) कहते हैं।

## श्वास क्रिया-

(११०) जब हम सांस लेते हैं तब छाती फूलती है – अर्थात् वढ़ जाती है। वह इस तरह कि- पसलियां सामने को तन आती हैं और उरोदरा पेशी नीचे को दव जाती है। इससे पेट के अङ्ग भिंचकर उसे आगे को फुला देते हैं और छाती में फेफड़ों के फूलने को खूब जगह होजाती है। वे सांस की शुद्ध हवा भरकर फूल उठते हैं।

(१११) जब हम सांस निकालते हैं तब पसलियों का घेरा कुछ नीचे को झुक जाता है। फलतः उसकी समाई घट जाती है। उधर उरोदरा-पेशी भी ऊपर को उठ आती है, और पेट के अङ्ग ठीक हालत में आजाते हैं। इससे छाती की समाई घटकर फेफड़े भिंच जाते हैं और उनमें से मलिन हवा वाहर निकल जाती है।

# शीर्ष या सिर

( ११५ ) गले के ऊपर का गोल भाग सिर है और उसका अस्थि-पंजर ( *Skull* स्कल ) रीढ़ के पहले मुहरे शीर्षाधार (*Atlas*) पर टिका रहता है। वह उस पर इधर-उधर घूम भी सकता है। इस पंजर के दो भाग हैं। एक तो ऊपर "खोपड़ी", दूसरा-नीचे चहरा। खोपड़ी तो वह हड्डियों का बक्स है जिसमें मस्तिष्क रहता है। उसके नीचे आंख, नाक, मुख, जबड़ा आदि 'चहरे' के अन्तर्गत हैं।

( ११६ ) खोपड़ी ( *Cranium* क्रेनियम ) में आठ हड्डियां होती हैं, जो सब 'आरी' के दांतों जैसी सीवन से जुड़ी होती हैं। वे आठ हैं—

१--ललाटास्थि ( *Frontal bone* फ्रंटल वोन) जो खोपड़ी में मस्तक ( लिलार ) और अगला भाग बनाती है।

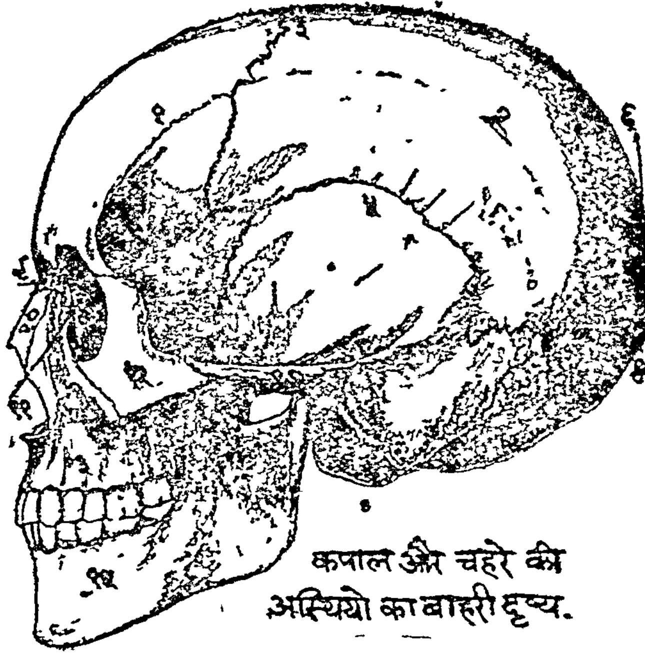
यह भोंहो तक उतर कर फिर पीछे को मुड़ जाती है और थोड़ी दूर तक खोपड़ी की नली तथा चहरे की छत वनाती है।

२-दो पार्श्विक-अस्थियां (*Parietal bones* पैरीटल वोन्स) ये कानों से ऊपर खोपड़ी में दोनों ओर होती हैं और उसी की गोलाई की भांति घूमती हुई ऊपर बीच में जाकर मिलती हैं।

३--दो शंखास्थियां -- ( *Temporal bones* टैंपोरल वोन्स ) ये भी कानों से ऊपर और कुछ उनके दाहिने वायें - कनपटी के प्रदेश की अस्थियां हैं एक दाहिनी और एक वाईं ओर। इनसे जबड़े की निचली हड्डी आकर जुड़ी होती है।

४--पश्चादस्थि (*Occipital bone* औक्सी-पीटल वोन ) यह खोपड़ी की पीठ बनाती है और नीचे को मुड़ कर उसकी तली का भी अधिकांश वनाती है। उसमें नीचे तली की ओर मुड़ आने के बाद सिर के बीच में आकर लगभग २ इञ्च चौड़ा एक तिरछा छिद्र है। यह ऐसी जगह है कि सिर चारों

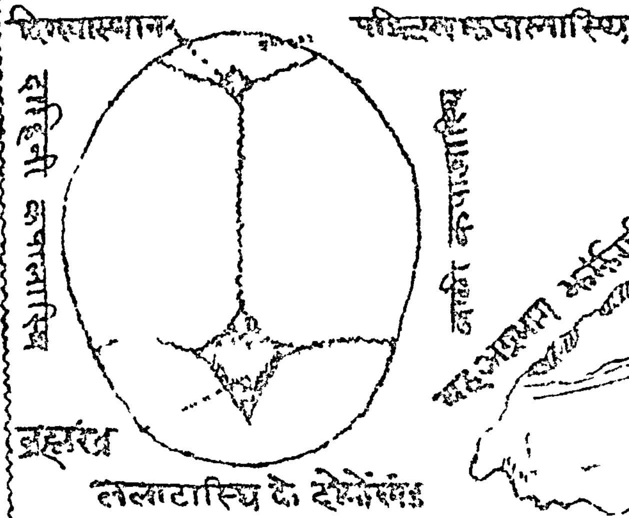
## कपाल और चेहरे की अस्थियों का बाहरी दृश्य-



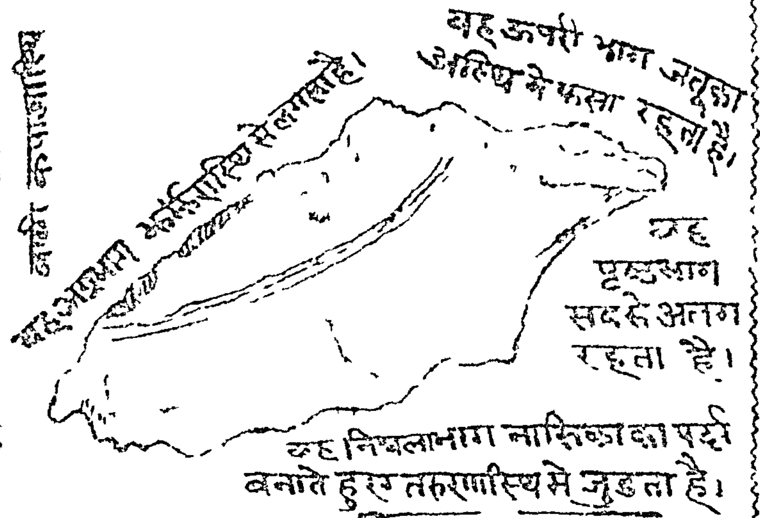

## खोपड़ी का परिचय-

नं० १-ललाटास्थि, २-पार्श्विक अस्थि (वायीं), ३-इन दोनों की सन्धि 'पूर्वरन्ध्र' वालक के यहां झिल्ली रहती है। ४-पश्चादस्थि, ५-शङ्खास्थि, ६-पार्श्विक और पश्चात्-अस्थि का जोड़ 'अधिपति रन्ध्र' या शिखा का स्थान। ७-जतूकास्थि का बायां वड़ा पङ्ख, 8-यहां सिर शीर्पाधार पर टिकता है। ९-वायीं नासास्थि (नाक का पुल)। १०-नासा-फलकास्थि। ११-अश्रु-अस्थि, १२-गण्डास्थि का ऊपर वाली हन्वस्थि से जोड़। १३-ऊर्ध्व हनु-अस्थि, १५-अधो हन्वस्थि, १६-अधोहन्वस्थि का ऊपर को मुड़ा (उद्गामी) भाग, १७-गण्डास्थि की महराव, १८-शङ्खास्थि का वह जङ्कशन जहां अधोहन्वस्थि की वाई घुंडी अटकी हुई है।

## कपाल की ६ अस्थियां




## नासा फलकास्थि

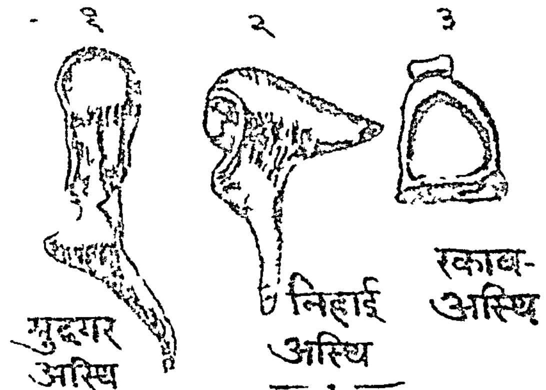



## अधःशीपास्थि —




इधर का लीन्व में उठा हुआ पृष्ठ कठोर तालु के ऊपर रहता है

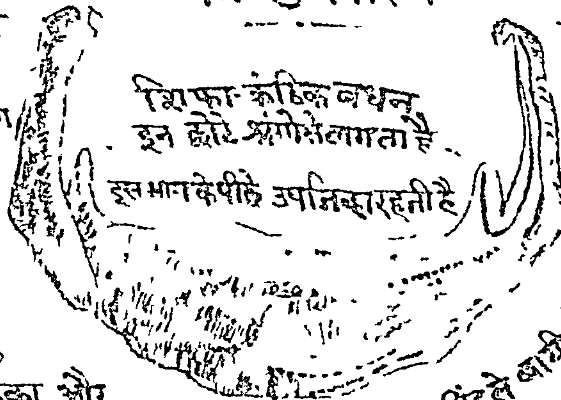
## कान की ३ अस्थियां




## कण्ठिकास्थि

यहां एक एक बंधन शंखास्थि से आकर लगता है। यह बड़ा श्रृंग है

१. चिबुक कंठिका,
२. अंस कंठिका,
३. अंस कंठिका,
४ शिफा कंठिका,
५ मुख-भूमि कंठिका, और
६. चिबुक-जिव्हा कंठिका.




— बायां बड़ा श्रृंग
इस भाग से ३ पेशी लगी हैं
१ कंठसंकोचनी मध्या
२ जिव्हा कंठिका और
३ शुल्लिकण्ठिका पेशी

इस कण्ठिकापिंड के बांयी और दाहिनी हर ओर ६-६ पेशियां लगी रहती हैं। जिनके नाम इधर लिखे हैं।

ओर घूमते हुए भी - यही छिद्र- रीढ़ के पहले मुहरे- शीर्षाधार के ऊपर ही रहा आता है और रीढ़ की नली से मिल कर उससे दिमाग तक पूरा रास्ता बना देता है। तमाम धड़ और हाथ-पैरों को चलाने वाली महानाड़ी – सुषुम्ना – इसी द्वार मे होकर गुज़रती है अतः इस छिद्र को महाद्वार (*Foramen Magnum* फोरामेन मैगनम) कहते हैं। इस छिद्र के दोनों ओर हड्डी की दो घुंडियां निकली होती हैं जो 'शीर्षाधार' के दोनों ओर बनी हुई दो नलियों में ठीक बैठी होती हैं। बस यह किवाड़ के छपकों की भांति बन जाता है जिस-धुरी पर सिर आगे पीछे-झुकाया या हिलाया जा सकता है, जैसा हम 'हां' कहते समय हिलाते हैं।

'नहीं' कहते समय सिर का घूमना और तरह से होता है। उस समय सिर और शीर्षाधार दोनों ही-- दूसरे मुहरे "शीर्षधुरी" पर घूमते है।

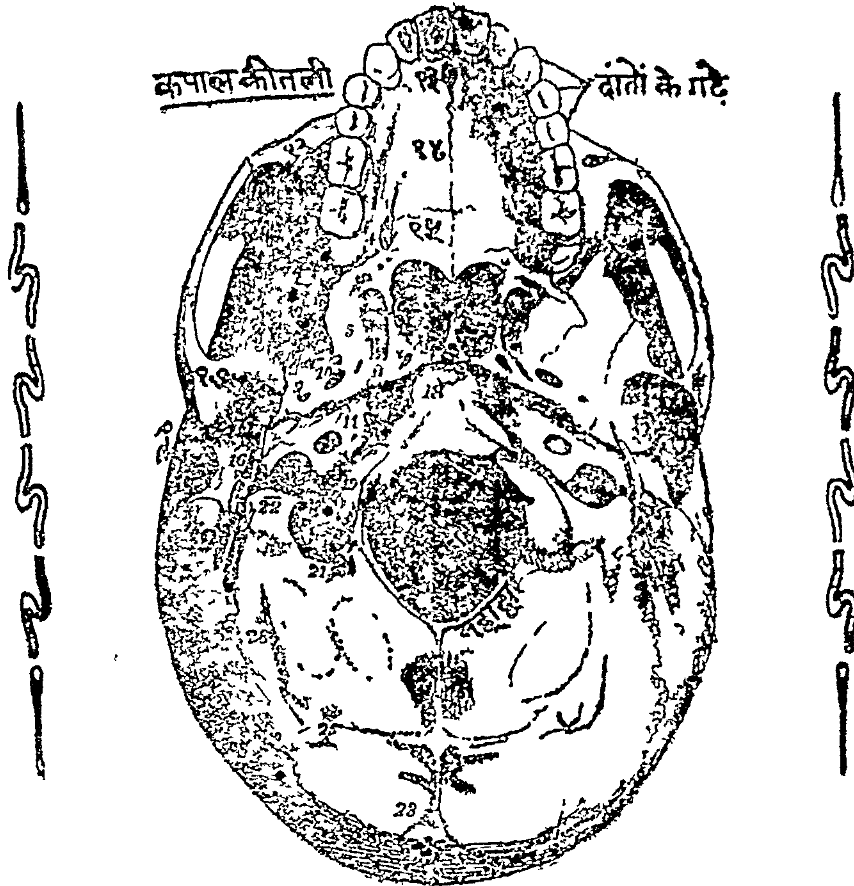
## सिर के महत्वपूर्ण रंध्र-

इस प्रकार ललाट और सिर का अग्रभाग ललाटास्थि ने बनाया, दाहिनी ओर बांई छत क्रमश. दोनो पार्श्वास्थियों ने बनाई और पीछे की छत तथा दीवार पश्चादस्थि से बन गई। ललाटास्थि जहां पार्श्वास्थियों से मिलती है वहां बाल्यावस्था मे कुछ बीच खाली रह जाता है वह लगभग २ अंगुल चौड़ा-तिरछा द्वार होता है। जिस पर मोटी झिल्ली मढ़ी होनी है। इसके ठीक विपरीत ओर नीचे और पीछे को सुषुम्ना वाला महाद्वार भी इतना ही बड़ा होता है। सिर के ऊपर का यह भाग 'ब्रह्मरंध्र' या 'पूर्वरन्ध्र' (*Anterior* ऐन्टीरियरफोंटानेल) कहलाता है। उङ्गली स्पर्श करने से यहा अन्दर रक्त की रगे फड़कती मालूम होती हैं। २ वर्ष बाद यहां हड्डी पूरी बन जाती हैं। इससे अधिक देर तक हड्डी न बने तो वह रोग समझा जाता है। मरते समय यदि यही मार्ग फूट कर दम निकले तो उसे योगीगणों को प्राप्त होने वाली अति श्रेष्ठ मृत्यु मानी जाती है।

इस छिद्र के सामने बालक की ललाटास्थि भी नासिका के ऊपर तक दो टुकड़ों में बंटी रहती है। इन टुकड़ो के बीच की दरार पर दृढ़ झिल्ली लगी होती है। यह खड़ा 'तिलक' लगाने का स्थान है। गाय के कुछ बछड़ों मे ठीक इस जोड़ के ऊपर त्वचा मे सफेद रङ्ग का तिलक देखा भी जाता है। पहिले वर्ष के बाद ये दोनो खण्ड जुड़ कर तमाम ललाटास्थि एक होजाती है।

(११८) दोनों पार्श्विक अस्थियां पीछे की अस्थि से जहां मिलती हैं वहां भी एक चौकोर छोटा छिद्र २–३ वर्ष की आयु तक बिना हड्डी का रहा आता है। यहां हिंदू लोग 'शिखा' अर्थात् चोटी नामक बालों का झब्बा रखते हैं। वे यहां के बाल कटाना महापाप मानते हैं। वास्तव में इस स्थान के अन्दर कई महत्वपूर्ण नाड़ियों का विकास और रक्त-वाहिनियो का अन्त है अतः यहां घने केश रखना बड़ी हिफाजत करता है। मुसलमानो की तुर्की टोपी मे इसी जगह के ऊपर 'फैज़' नामक सूतों का झब्बा लगा रहता है, परन्तु खास सिर में बाल न रखने से, वह बे-फायदा दिखावट मात्र है। इस स्थान को 'शिखा-स्थान या अधिपति रन्ध्र (*Posterior fontanale* पोस्टीरियर फोंटानेल) कहते हैं। मरणासन्न रोगी के सिर में सर्प-विष से बना हुआ 'सूच्याभरण' रस इसी जगह कोंच कर प्रविष्ट किया जाता है।

## कपाल की तली-

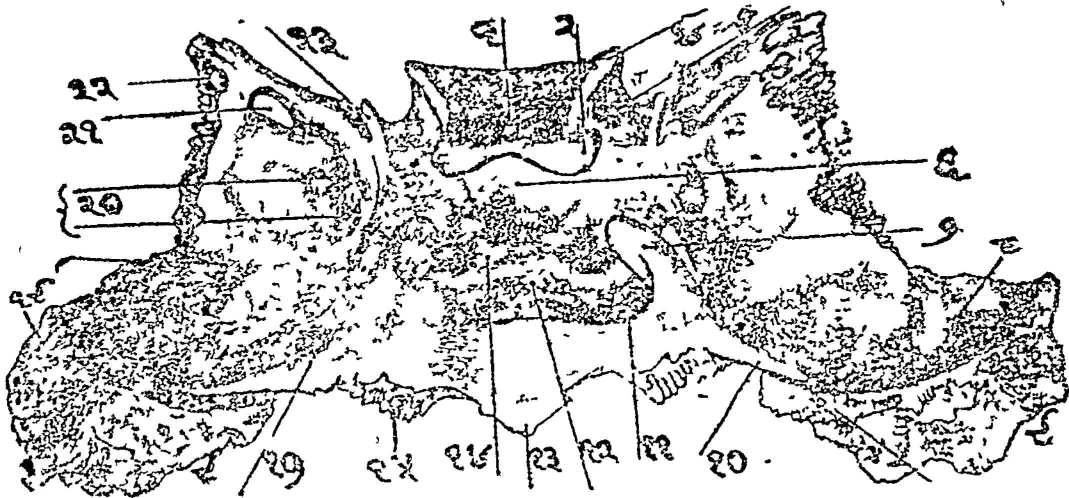



नं. ४-कपाल की पिछली अस्थि, ७-शंखास्थि, १०-नासाफलकास्थि, १२-गंडास्थि और ऊर्ध्व-हनु का जोड़, १३-ऊर्ध्वहन्वस्थि, १४-नरम तालु, १५-कड़ा तालु (ताल्वस्थि *L* का तला)। १७-गंडास्थि और शंखास्थि का जोड़, १८-कान का द्वार।

इंगलिश के नं० *5, 9, 10*-ललाटास्थि का भौंह की सीध में मुड़ कर कपाल की तली बनाने वाला भाग। *9--6* आदि झर्झरास्थि का एक भाग; *8-11-16* जतूकास्थि, *12*-ऊपर से महासिरा उतरने का छिद्र, *15*-हनुमुंड खात (जहां शंखास्थि के गढ़े मे निचली हन्वस्थि लटकी रहती है) *16*--जतूकास्थि का अग्रभाग, *19*--पश्चादस्थियों की घुंडियां जो रीढ़ के पहिले मुहरे शीर्षाधार में अटकी रहती हैं। *20*-महाद्वार (सुषुम्ना का मार्ग), *21-22-23-25-26* पार्श्वास्थि के अन्दर गहराइयां जिनमे रक्त की रगें और पेशियां रहती हैं।

(११६) खोपड़ी की तली का कुछ भाग ललाटास्थि से बन गया और उससे भी अधिक पीछे की ओर पार्श्विकास्थि से बन गया। इन दोनों के बीच (कनपटी वाली) शंखास्थि में फंसे होते हैं और बीच का भाग बहुत मोटा तथा मजबूत ऐसा होता है जैसे किसी चिड़िया का पेट। जो खोपड़ी की तली

## जतूकास्थि ( तितली स्वरूप शिरोस्थि )



नं० १—सुषुम्ना का छिद्र, २ पिछली गुलिका ४-मातृका (कैरोटिड) परिखा, ५-शंखास्थि से जुड़ने का स्थान, ६-पोषण कर्त्ता धमनी का गढ़ा, ७-अगली गुलिका, ८-जतूकास्थि के बड़े पंख का ऊपरी तल, ६-६-बड़ा पंख, १०-छोटा पङ्ख ६१-दृष्टिनाड़ी आने का छिद्र १२-दृष्टि नाड़ी की परिखा (दरार) १३-त्रिकोण कंटक, १४-मध्य गुलिका १७-दोनों पङ्खों का अन्तर, १८-ललाटास्थि से जोड़, इसी के ऊपर-पार्श्वास्थि से जोड़, १६-बड़े पङ्ख का ऊपरी तल, २०-वृत्त विवर, २१-जाम्बर विवर और २२-कोष विवर ये नं० २१-२२ दोनों शंखास्थि से मिलने के स्थान पर बनते हैं।

का भाग एक विचित्र आकार की अस्थि बनाती है। वह पंख फैलाये हुये चमगादड़ या तितली जैसी होती है और उसे तित्तल्यास्थि या जतूक (चमगादड़) अस्थि कह सकते हैं। उस के आगे (ललाट की ओर) २ छोटे-छोटे पङ्ख से होते हैं। पीछे दो बडे-बड़े पङ्ख दाहिने-बांये को फैले होते हैं जो उस-उस तरफ की में आगे से पीछे को लम्बा-लम्बा पड़ा होता है। यह पेट अन्दर से पोला होता है और उसमें 'उदान' वायु भरी रहती है। इस जतूकास्थि को 'स्फेनोइड बोन' (*Sphenoid bone*) कहते हैं।

(१२०) इन ७ अस्थियों के बाद भी खोपड़ी की तली का कुछ भाग बाकी रह जाता है। उसे एक

बड़ी ऊबड़खाबड़ हड्डी पूरा करती है। वह वास्तव में खोपड़ी की तली मे तो सिर्फ फँसी रहती है, बाकी नीचे का बहुत-सा भाग बनाती है। उसमें अनेक छिद्र होते है अतः उसे "बहुछिद्रास्थि" (*Ethmoid* ऐथमोइड बोन) कहा जाता है।

बाल्यावस्था में ललाटास्थि नासिका के ऊपर तक जैसे दो खण्ड होते है- वैसे ही भौंहों पर मुड़ने के बाद जो आड़ा भाग होता है उसके बीच मे भी एक दरार होती है। यह दरार सदा रही आती है और इस दरार मे-उक्त बहुछिद्रास्थि की एक पतली धारा फँसी रहती है। उस धारा के आगे बहुछिद्रास्थि मे जो छोटे-बड़े अनेक छिद्र होते हैं वे प्रायः दिमाग की १२ जोड़ा नाड़ियो के निकलने के लिये होते है और कुछ छिद्रो से खास २ सिरा और धमनी रक्त-वाहिनियां खोपड़ी मे आती जाती है।

## महाविकारी नज़ला-

(१२१) खोपड़ी के अन्दर कहीं रक्त-रस बेकार निकल-निकल कर जमा होजाय तो वह दूषित होने लगता है। उसे 'नजला' कहते हैं। उसके सिर से उतरने के लिये इन अनेक छिद्रों में से कोई खास नियत नहीं है। प्रकृति की इच्छा है कि वह शोषक प्रयोगों द्वारा फिर उन रक्त की रगों मे ही चूस लिया जाय जो ललाटास्थि वगैरः की आंतरिक दीवारो से लगी रहती है और खोपड़ी के बीच मे फैलकर वहां के जीवाणुओं को पालती हैं, परन्तु यदि वैसा न हो और वह दूषित रक्त-रस बहता हुआ इन छिद्रों में से किसी के द्वारा खोपड़ी के बाहर उतरे वो जिस अङ्ग में पहुंचता है उसी को हानि करता है। यदि वह नासिका को आने वाले छिद्र मे उतरे तो 'पीनस' कर देता है। सिराओं के सहारे-सहारे कण्ठ में उतर जाय तो कण्ठ प्रदाह आदि; फुस्फुस को जाने वाली इन्द्रा-नाड़ी (न्यूमोगैस्ट्रिक नर्व) के संस्पर्श मे आवे तो श्वास-रोग (दमा) आदि पैदा होते हैं और पीछे महाद्वार में होकर सुषुम्ना (*Spinal cord*) मे पहुंचे तो नाना अङ्गो के विकार- फालिज- आदि प्रकट करता है। बात यही है कि वह एक दुष्ट प्रदाही पदार्थ होजाता है जो रक्त की रगों द्वारा ही यकृत मे शुद्ध करके पित्तरूप से या गुर्दे मे मूत्ररूप से निकाला जा सकता है और जिस रास्ते भी जाता है वहीं शोथ, अड़चन या अन्य विकार उपजाता है। वृद्धावस्था मे जब रक्त का वेग मंदा पड़ जाता है तब यह शिकायत पैदा होना अधिक संभव होता है, या जो दिमाग से काम अधिक ले उन्हे इसका कुछ अधिक भय हो सकता है।

## चहरे की अस्थियां-

(१२२) कपाल के नीचे चहरे मे कुल २० हड्डिया हैं। इनमे सिर्फ एक निचले जबड़े की हड्डी चलती फिरती है, शेष सब खोपड़ी की अस्थियों के समान ही अचल हैं। कपाल से उतरते ही दो नासास्थियां (*Nasal bones* नेज़ल बोन्स) नज़र आती है। ये दो चौकोर अस्थियां हैं जो चहरे के मध्य-भाग मे मिलकर 'नाक का बांसा' बनाती है इस 'नासा-वंश' को नाक का पुल (*Bridge of Nose*) भी कहते हैं। इन हड्डियो का दूसरा किनारा ऊपर ललाटास्थि से मिला होता है। तीसरा नीचे का किनारा जबड़े की ऊपरी हड्डी से मिला होता है तथा चौथे बाहर की ओर के किनारे मे नाक की वह उपास्थि लगी होती है जो नाक का बीच का पर्दा बनाती है।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

## अश्रु-अस्थियां और आंसू-

(१२३) इन नासास्थियों के एक किनारे के पास इनके और आंख के अन्दरी कोये के बीच में एक-एक कागज़ जैसी पतली अस्थि होती है जो दाहिनी और बाईं अश्रु-अस्थि (*Lacrimal* लैक्रीमल बोन) कहलाती है। इसके अंदरूनी सिरे पर एक कोमल थैली होती है उसमें खारा पानी सा भरा रहता है। जब नेत्रों में कोई उत्तेजना हो या नसों पर कोई खास असर पडे तब उन्हें शांत करने को यह पानी वहां से इसी अश्रु-अस्थि के लपेट से बनी हुई नाली द्वारा आंख के कोये में आजाता है और वहां से आंख की गर्मी खींचता हुआ बाहर टपक जाता है। यही 'आंसू' हैं जिन पर भावुक कवियों ने रचनायें रची हैं और जिनसे महाभारत जैसे महायुद्ध होचुके हैं। इस अश्रु-अस्थि से बनी हुई नली का जो द्वार कोये के पास है उससे कभी २ आंसू नासिका में भी जा सकते हैं।

(१२४) नाक के बीच में जो उपास्थि का पर्दा होता है उसमे पीछे (ऊपर) की ओर एक अस्थि भी लगी होती है यह नासाफलक अस्थि (*Vomer bone* वोमर बोन) है। इसका एक किनारा नाक की तली से जुड़ा रहता है, दूसरा ऊपर कपाल की जतूकास्थि और बहुछिद्रास्थि से, तीसरा नीचे का भाग नासिका की मध्यवर्त्ती तरुणास्थि से मिला ही रहता है, चौथा अलग खड़ा रहता है।

(१२४) नाक के पीछे (ऊपर के भाग से) कड़े तालु के पिछले चौथाई हिस्से तक *L* (इङ्गलिश के ऐल या समकोण) आकार की दो अस्थियां होती हैं जो दाहिनी और बायीं 'तालूपक' या तालु-अस्थि (*Palatal bone* पैलेटल बोन) कहलाती हैं। इनका अगला किनारा जबड़ों की ऊपरी अस्थि से मिला होता है। पिछले किनारे से नरम तालु लगा रहता है। ऊपरी हिस्से से नासिका की धरती का ऊपर का सिरा बनता है और इस तालवस्थि के निचले आड़े भाग से कड़े तालु का पिछला भाग बना होता है।

(१२५) इस कड़े तालु के ऊपर दो सीपी के आकार की अस्थियां होती हैं जिन्हें शुक्तिकास्थि (*Inferior concha* इन्फीरियर कोंचा या *Turbinate* टर्बाइनेट बोन) अथवा थाली जैसी अस्थि कह सकते हैं। यह उल्टी सीपी की भांति तालु के ऊपर ऐसी रखी है कि बीच का उठा हुआ भाग नाक की तली से लगा होता है और नीचे किनारे तालु की ओर होते हैं। इस अस्थि पर एक झिल्ली चढ़ी होती है जो शरीर में प्राण रहें तब तक रक्त से, गुलाबी रंग की रही आती है।

## गण्डस्थल की अस्थि-

दोनों ओर एक-एक अस्थि और भी बाहर से ही महराब जैसी मालूम पड़ती है। वह कनपटी से आंख के एक-आध अंगुल नीचे २ कपोल (गालों) तक आती है। यह कपोलास्थि ( *Cheek bone* चीक बोन) है। दुर्बल नर-नारियों में गाल पिचके हुये हों तब यह बहुत दिखाई देती है। हृष्ट-पुष्ट लोगों मे यहां खूब चर्बी जमा होती है, और पुष्ट मांस पेशी से भी यह स्थान भर जाता है। उसे मद-भरा गण्ड-स्थल कहते हैं। इसी कारण यह अस्थि 'गण्डास्थि' या गण्डकूट भी कही जा सकती है। यह हार्मोनियम या बढ़िया पेटियों के कड़े की भांति कुछ गोलाकार अस्थि है जिसमे भीतर की ओर एक गढ़ा होता है। उस गढ़े में जबड़े की निचली हड्डी की पेशी अटकी

रहती जो उसे यथेच्छ घुमाती है और इस हड्डी की महराब के नीचे से होकर दोनों ओर एक-एक पेशी कनपटी से आती और जबड़े की निचली(चलायमान) अस्थि से जुड़ी रहती है। वह भी उसे चलाती है। यह गण्डास्थि पीछे कान के पास शङ्खास्थि मे और आगे जबड़े की ऊपरी अस्थि मे जुड़ी रहती है।

( १२६ ) जबड़े के ऊपर का भाग दाहिनी और बाई ओर एक-एक अस्थि-खण्ड है जो ऊर्ध्व-हनु-अस्थि ( *Superior Maxillary bone* सुपीरियर मैग्ज़ीलेरी बोन ) या केवल "हनु" कहलाती है। नाक के ठीक नीचे दोनों मूछों के बीच मे जो जरा सी खाई रहती है वहा ये दोनों अस्थियां जुड़ी होती है। वहां से गोल घूमती हुई यह पीछे दाढ़ो के ऊपर तक जाती है और इसमे ५ दांत तथा ३ दाढ़ो के लिये ( कुल ८ ) गढ़े बने होते है जिनमे एक ओर के ऊपर के दांत लगे रहा करते हैं। ऐसा ही दाहिनी और बाई दोनो ओर होता है। इनसे मिलकर मुँह का ऊपरी भाग और नाक का तला एवं अगला तीन चौथाई तालु बनता है नाक के बाद दाहिनी या बाई ओर को यह अस्थिया मोटी होती जाती है, परन्तु वह मोटा भाग अन्दर से पोला होता है और उसमे वायु भरी रहती है। उन भागों से एक-एक छिद्र नासिका मे आकर खुलता है। उस पोले भाग का एक किनारा तो गालों की ओर हुआ, दूसरा ऊपरी किनारा भी काफी चौड़ा होता है, वह और आखों के नीचे-नीचे होता है। उसके ऊपरी किनारे पर एक ओर नासास्थि, दूसरी ओर अश्रुअस्थि और अन्त मे ललाट-अस्थि जुड़ी रहती हैं। आखों के बाहरी कोयों के नीचे - इसी अस्थि से गण्डास्थि (महराव) आ-जुड़ती है।

( १२७ ) इस प्रकार कपाल और चहरे की हड्डियों के बीच मे दोनो भौंओं के नीचे गुफायें बन जाती हैं जो नेत्र-गुहा (या अक्षिखात ) कहलाती हैं। इस हड्डियों के घेरे में आंख जैसा नाजुक अङ्ग लगभग चारो ओर से सुरक्षित रहा आता है। उसके ऊपर ललाटास्थि, अन्दर नाक की ओर नासास्थि, अश्रु-अस्थि, और बहुछिद्रास्थि बाहर की ओर कपाल की पार्श्विकास्थि और गण्डास्थि पीछे की ओर जतूकास्थि का कुछ भाग और नीचे ऊर्ध्वहन्वस्थि होती है।

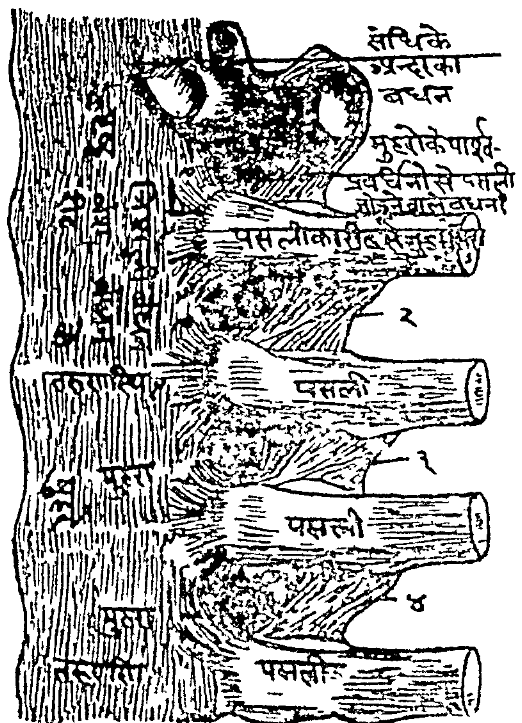
## हनु ( ठुड्डी Chin चिन )

( १२८ ) इस चहरे के नीचे का भाग एक ही बड़ी अस्थि से बना होता है। वह जबड़ा -- हन्वस्थि हनुमूल या *Mendible* मैंडीबल है। उसे अधोहनु-अस्थि ( *Inferior maxillary* इन्फीरियर मैग्ज़ीलरी बोन ) भी कहते है। इसके अगले भाग से ठुड्डी बनती है और फिर वह पीछे को मुड़कर कानों के नीचे तक जाता है। उधर दोनों ओर के ( दाहिने और बाये ) सिरे ऊपर को उठे हुए हैं, जो ऊपर अर्धचन्द्र की भांति, दो ऊंचे सिरे और बीच मे गहरा गढ़ा लिये हुए खतम होते हैं। उन दो-दो ऊँचे सिरों मे आगे काले-तिकोने और पीछे वाले घुन्डीदार होते हैं। वे घुन्डियां "शंखास्थि" मे फँसी होती है और उसी धुरी पर यह अस्थि डिब्बी के ढक्कन की भांति ऊपर नीचे और कुछ दाहिने बांये भी घूम सकती है। आगे के तिकोने सिरों से वे दो बड़ी-बड़ी पेशियां लगी होती हैं जो दाहिनी और बाईं गंडास्थि के नीचे होकर आती हैं या उससे फंसी होती हैं। बस जब वे सिकुड़ती हैं, तो जबड़ा ऊपर को खिंच

## स्वरयंत्र और टेंटुआ

( वाक्य १३६--३७ )

## रीढ़ की पसलियों की सन्धि




नं० १--२-३-४ पसलियों के बीच की पेशियां हैं।
( वाक्य १९५-९७ )

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

—दोनों का तरल मिश्रण फुरहरी से दांत के गढ़े पर डालें ।

( म ) *Ammonium Chloride* ( नौसादर )का महीन चूर्ण की, जिस ओर के दांत पर कीड़ा हो उसी ओर नस्य ले । तत्काल दर्द हरेगा परंतु ज्यादा उपयोग न करें ।

( य ) हीरा हींग को पानी में घोल कर दांत के नीचे दवाओ ।

( र ) कटेरी के पञ्चाङ्ग को चिलम में रख कर धूम्र पान करो ।

( ल ) जिस ओर कीड़ा लगा हो उसी ओर के कान में लाल मिर्च का पानी डाले । जलन होने पर घी, शरबत, या दूध कान में डाल जलन शांत कर लें ।

( व ) जिस ओर कीड़ा लगा हो उसी ओर के कान में तमाखू का स्वरस डाले ।

( श ) धतूरे के बीजों को पीस, लुगदी कृमि वाले दांत पर दवाओ परन्तु उसका लुवाव निगला न जावे ।

( स ) गम का तैल ( यूकेलिप्टस आइल ), हाइड्रोजन-पर-ऑक्साइड, परमेंगनेट-पोटास भी कभी २ फायदा देता है ।

---

## [ लेखक-डा० गणपतिचन्द्र केला ]

## जत्रु ( श्वास मार्ग )

( १३६ ) सिर से उतर कर धड़ के बीच में गर्दन है उसमें सिर्फ १ कठोर अस्थि होती है । गले में – विशेषत. पुरुषों मे – आगे की ओर जो कौड़ी सी निकली दीखती है, इसके ऊपरी भाग में वह अस्थि होती है । ठोड़ी की भांति ही वह अस्थि भी आगे को मोटी तथा पीछे को फैलती हुई पतली होती है अर्थात् अर्धचंद्र की भांति उस कौड़ी पर रखी रहती है । यह कौड़ी — "स्वरयंत्र" है । सांस की हवा से नाना प्रकार की ऊँची-नीची आवाजें इसी में बनती हैं । इसके अन्दर कुछ तरुणास्थियां भी होती हैं जिनका वर्णन आगे आवेगा ।

( १३७ ) इसके नीचे तरुणास्थियों की गोल-गोल छल्लियों से एक नली चलती है जिसे टेंटुआ ( *Treachia* ट्रेकिया ) कहते हैं । जैसे गर्दन में पीछे की ओर रीढ़ के ७ कशेरुका एक के नीचे एक लगे हुए – खम्भा बनाते हैं – वैसे ही– ये उपास्थि के १५–२० छल्ले मिलकर गर्दन में आगे की ओर श्वासनली बनाते हैं । यह "उरोस्थि" पीछे-पीछे आती है और फिर जहां उरोस्थि (*Sternum* स्टरनम) का निचला खंड है, वहां से दाहिनी बाईं दो शाखाओं में बॅट कर – अनेक शाखा-प्रशाखाओं मे फैलती हुई दोनों फेफड़ों मे घुस जाती हैं ।

ये छल्ले तरुणास्थि के होते हैं । इनका पीछे की ओर को मुंह होता है जो प्रायः कुछ खुला भी रहता है । परन्तु ऊपर झिल्लियां और मांस के पर्त्त होने के कारण इनकी बनी नली में से श्वास की वायु अन्तरङ्गों मे फूट नहीं निकलती । इन छल्लों के बीच-

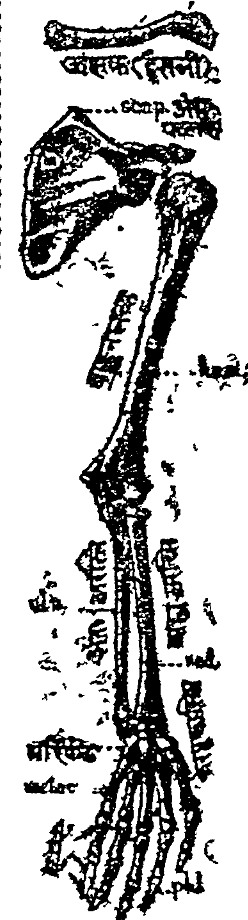
बीच में एक मांस का छल्ला भी होता है जिससे श्वास-नली बड़ी नाजुक और थोड़ी बहुत लचकदार बनी रहती है।

## हाथ की अस्थियां

( १३६ ) पीठ, छाती और सिर की हड्डियों का वर्णन होचुका – अब ऊपर की शाखायें—२ हाथ और नीचे की शाखायें – २ पैर – रह गये। गले के नीचे और सब पसलियों से ऊपर जिस "अक्षक" हड्डी का जिक्र आया था, वह बांहों तक आती है। वह रीढ़ के सामने से एक १।। अंगुल मोटी छड़ जैसी कुछ पीछे को मुड़ती हुई चलती है इससे ठीक 'हॅसली' जैसी ही दिखाई देती है। आगे कन्धे के पास पहुंच कर वह उल्टी आगे को मुड़ जाती तथा कुछ मोटी होकर, खवे की खुरपी जैसी हड्डी "अंसास्थि" के ऊपर जा मिलती है। इस "अक्षक" से ६ मासपेशियां जुड़ी रहतीं और वे इसके सहारे काम करती है। इसलिये यदि यह हड्डी किसी चोट से टल जाय तो कार्य मे बड़ी बाधा तथा पीड़ा होती है। इसे मालिश आदि कोशिशों से फिर अपनी जगह लाया जासकता है। यदि यह टूट जाय तब तो वे ६ पेशियां ठीक काम ही नहीं कर सकतीं और जीना दुश्वार हो जाता है। दुबले-पतले लोगों में यह दोनों अक्षक अस्थिया गले के नीचे दाहिनी और बायीं ओर साफ दिखाई पड़ती है।

( १४० ) अंसफलक- अंसास्थि (*Scapula*- स्केपुला ) अर्थात्-स्कन्ध या खवे की हड्डी भी दुर्बल लोगों की पीठ पर दोनों कन्धों के पीछे, साफ देखी और टटोली जासकती है। इस बड़ी तिकोनी अस्थि का जो कोण कन्धों पर बाहर की ओर होता है वह बहुत मोटा होता है और उसमे एक गोल छेद ( गढ़ा ) होता है। उस गढ़े में बांह की हड्डी का गोल सिरा फंसा रहता है। इस गढ़े को 'अंसगुहा' कह सकते हैं। यह स्कन्धास्थि किसी हड्डी से जुड़ी नहीं होती, केवल मांस-पेशियों द्वारा अपने स्थान पर जकड़ी रहती है। इससे १६ पेशियां लगी होती हैं, जिनका वर्णन मांस-संस्थान मे होगा।

(१४१) बांह में कन्धे से कोहनी तक का भाग "प्रगंड" कहलाता है। इसमें एक ही लम्बी अस्थि रहती है। उसे "प्रगण्डास्थि या बाहु-नलक ( *Humerus* ह्यूमेरस ) कहते हैं। इसके ऊपरी सिरे पर छोटे-छोटे दो उभार होते हैं। उनके अन्दर ( छाती या गर्दन ) की ओर एक गर्दनदार अर्धगोल पिण्ड निकला रहता है। यह पिंड-खवे की हड्डी मे "अंसगुहा" में फंसा रहता और पेशियों तथा बन्धनों से जकड़ा रहता है। इसकी धुरी पर बांह कन्ध के चारों ओर भलीभांति घूमती रहती हैं सिर्फ पीठ को ओर कुछ बाधा होती है।



सिरे के नीचे प्रगण्डास्थि गोल डण्डे की भांति आती है, परन्तु निचले भाग में वह कुछ ति-पहलू होजाती है। उनमें से एक किनारा पीछे की ओर तथा दो किनारे आगे की ओर होते हैं।

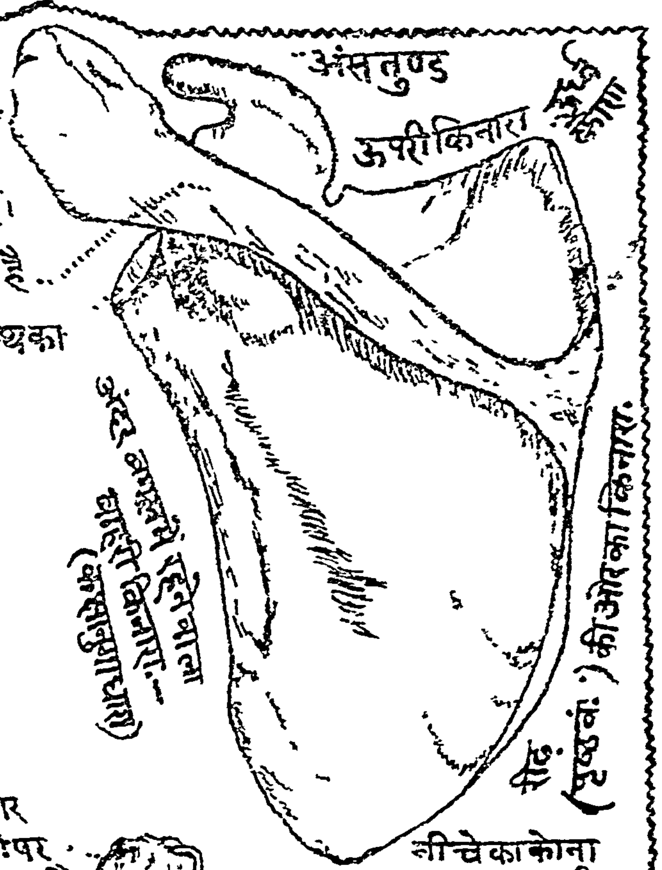
कूर्पर (कुहनी) के पास आकर प्रगण्डास्थि का सिरा बहुत चौड़ा होजाता है। इसके दो उभार एक

## अंसास्थि (स्कंधास्थि)

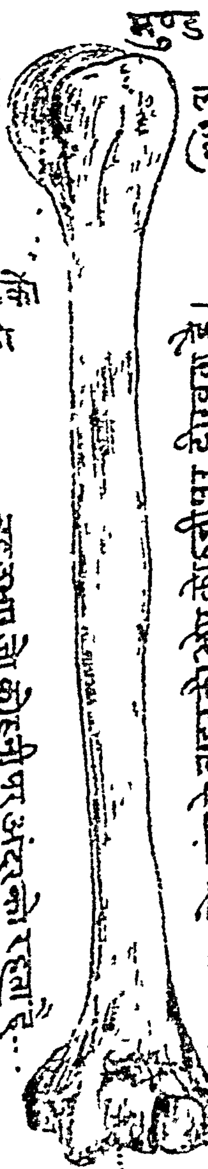
अक्षकास्थि इस उभार से बंधी रहती है।

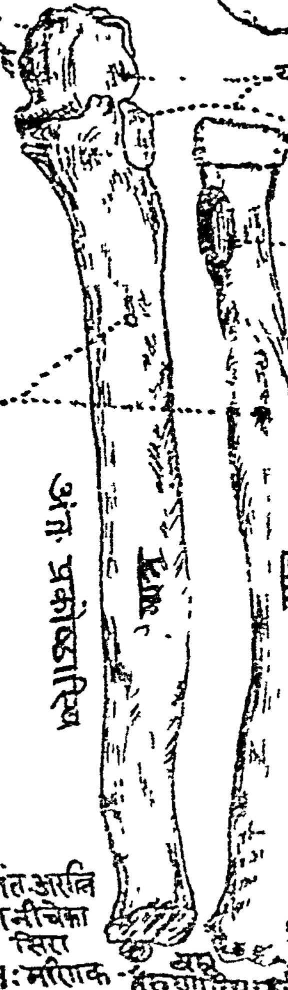
यह उभार कंधे के पीछे टटोला जा सकता है ...

अंस-पीठ (वह गढ़ा जिसमें प्रगंडास्थि का गोल सिर रहता है)




## प्रगंडास्थि (बाहुनलक)



* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

कोहनी में अन्दर की ओर तथा दूसरा बाहर की ओर टटोल कर मालूम किये जा सकते हैं। इन दोनों उभारों के बीच में एक डमरू-सा होता है। उस डमरू के दोनों ऊंचे किनारों के बीच में जो गहरी घाई होती है उसमें हाथ के अगले भाग की अस्थियां ऐसी जुड़ी रहतीहैं, कि वे इस जोड पर आगे को और अन्दर की ओर तो चाहे जितनी घूम आती हैं, मगर पीछे और बाहर की ओर नहीं घूम सकती।

यह प्रगण्डास्थि जितनी लम्बी हो–पूरा शरीर उससे ठीक पांच गुना लम्बा होता है। किसी की यह अस्थि-सिरे से सिरे तक १ फुट लम्बी हो–तो वह आदमी ५–५। फीट लम्बा समझा जा सकता है।

(१४२) कोहनी के नीचे, बांह में कलाई तक दो अस्थियां "अरत्नि" साथ-साथ होती हैं। इस भाग का नाम प्रकोष्ठ है अत' वे हड्डियां "प्रकोष्ठास्थि" भी कहलाती हैं। उनमें एक तो अन्दर–कनिष्ठा अंगुली की ओर होती है, वह अन्तरारत्नि या अंत' प्रकोष्ठास्थि (*Ulna* अलना) कहलाती है। और दूसरी बाहरी (अंगूठे की ओर) रहने वाली बाह्यारत्नि या वहि: प्रकोष्टास्थि (*Radius*-रेडियस)। इन दोनों में बाहर वाली अधिक काम देती है। उसके कलाई की ओर के सिरे में मणि-वन्ध की कई छोटी-छोटी हड्डियों से जुड़ने लायक ३–४ उभार और गढ़े होते हैं। तथा उस सिरे का पीछे का भाग वीच में कुछ खोखला होता है। उस दरार में होकर पंजे को कई स्नायुकंडरायें जाती हैं। इसके ऊपरी सिरे में एक गढ़ा होता है जो ऊपर प्रगण्डास्थि के एक उभार से भिड़ा रहता है। सिरे के पास अन्दर की ओर को छोटा सा गढ़ा होता है जिसमें अन्त: प्रकोष्ठास्थि फंसी रहती है।

(१४३) अन्त:प्रकोष्ठास्थि के सिरे के पास एक उभार उक्त गढ़े मे धंसा होता है और उससे ऊपर वह प्रगण्डास्थि के डमरू में धंसी रहती है। इस प्रकार डमरू के दो उभारों के बीच में इस अन्त. प्रकोष्ठास्थि (*Ulna* अलना) का एक उभार आकर तीनों एक सीध में रहते हैं। जब बांह लम्बी रहे तब यह दशा होती है। जब कोहनी थोड़ी सी मोड़ ले तब बीच वाला इस अस्थि का उभार पीछे को हट कर ऐसी दशा मे हो जाता है कि यदि तीनों उभारों पर से रेखा खींची जाय तो एक समान-भुजाओं वाला त्रिकोण वन जाय। कभी कोहनी का जोड़ विगड़ जाय तब उसकी जांच इस त्रिकोण की दशा और बांह सीधी होने पर तीनों उभार एक सीध मे आने या न आने से की जाती है। जब कोहनी पूरी मोड़ ले तब उसके पीछे जो नोक सी निकली दीखती है–वह अन्त:प्रकोष्ठास्थि का यह उभार ही होता है।

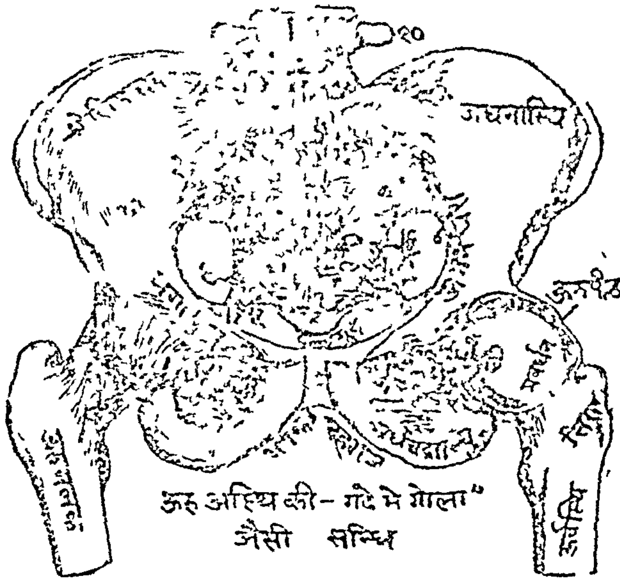
(१४४) कोहनी से नीचे को अन्त:प्रकोष्ठास्थि पतली होती आती है और कलाई से ऊपर आकर फिर बाहरी अस्थि से मिल जाती है। जो वहां तिपहली होती है। आगे इसका सिरा, कुछ तरुणास्थियां वीच में देकर मणि-बन्ध के छोटे २ अस्थि-खण्डों से भिड़ जाता है। जब हथेलियां सामने की ओर हों तब यह अन्त: अस्थि, बाहरी अस्थि के बराबर में खड़ी होती है। यदि हथेली घुमा कर पीछे को करले तो अन्त: प्रकोष्ठास्थि बाहर की ओर होती है, वहि:प्रकोष्ठास्थि अन्दर को आजाती है और कोहनी के नीचे वहि:प्रकोष्ठास्थि अन्दर वाली के आगे आजाती है।

(१४५) कूर्च–अधिष्ठान या मणिवन्ध (*Wrist* रिस्ट) अर्थात् कलाई पर आठ छोटी-छोटी

आस-पास का स्थान ही पेड़ू है।

(१५३) इस नितम्बास्थि की रचना ३ हड्डियां मिलकर होती है। एक श्रोणि या जघन की अस्थियां ( *Iliac bone* इलियक बोन ) जो बायें - दाहिने

## नितम्बास्थि की तीनों अस्थियां-




[जघनास्थि, भगास्थि और अर्धचन्द्र-स्थियों पर उनके नाम लिखे हैं। जघन घेरा वह गोल द्वार है जिसमें से गर्भस्थ बालक प्रसव होता है और उसके लिये यही नापा जाता है। ६–भग की संधि पर तरुणास्थि।]

पार्श्वों मे – दो कटोरों की भांति होती हैं। दूसरी– भगास्थि या जननद्वार ( *Os pubis* ओस प्युबिस) जो सामने की ओर होती है, तथा तीसरी – अर्ध-चन्द्राकार वे अस्थिया जो चूतड में नीचे टटोलने पर मालूम होती है। १४-१५ वर्ष की आयु तक ये तीनों अलग-अलग होती हैं। १६ वर्ष की कन्या या १८ वर्ष के युवक की ये तीनो अस्थियां मिलकर एक हो चुकती है और इन सबका घेरा पीछे त्रिक-अस्थि ( *Saccrum* सैक्रम ) से खूब अचल जुड़ा रहता है।

## वस्ति गह्वर–

(१५४) अब दो ओर दाहिनी और बाई नितम्बास्थि तीसरी ओर त्रिकास्थि और उनके नीचे अलग छिटकी हुई गुदास्थि ( *Coccyx* कोक्सीक्स ) इन चारों के बीच मे एक बड़ा कटोरा सा बन गया। यही श्रोणिदेश ( *Pelvis* पैल्विस ) या वस्तिगह्वर कहलाता है। स्त्रियों में यह बहुत चौड़ा तथा कम गहरा होता है। पुरुषों में यह कम चौडा परन्तु अधिक गहरा होता है। इसकी तली मे कोई हड्डी नहीं होती, मोटी-मोटी मांस पेशियों पर ही इस गह्वर के अङ्ग रखे रहते है। अङ्ग ये होते है–

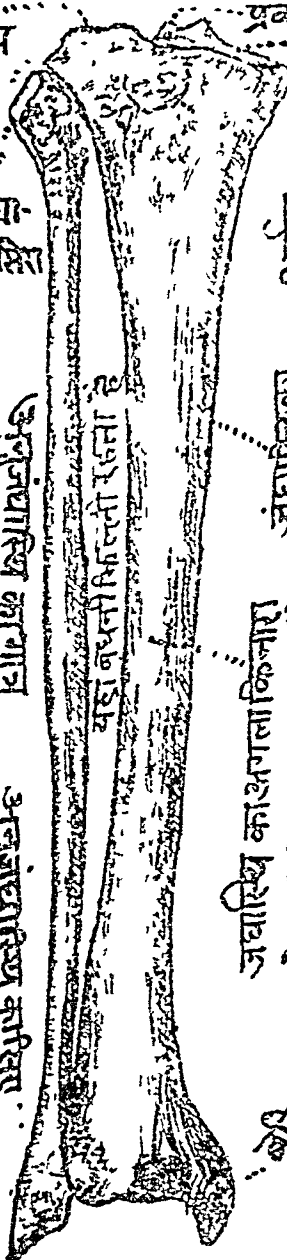
(१५५) पुरुषों मे– सामने को मूत्राशय, उसके पीछे शुक्राशय, और उसके भी पीछे, कुछ बाईं ओर को मलाशय नामक आंत का अन्तिम मोटा भाग दो अण्ड ( *Testes* टेस्टीज़ फोते ) एक कोप ( थैली ) मे– उक्त तली से नीचे बाहर लटके रहते हैं और उसके आगे पुरुष मूत्रेन्द्रिय ( शिश्न *Penis* पेनिस ) रहती है।

( १५६ ) स्त्रियों के वस्ति-गह्वर मे– आगे मूत्राशय, और उसके पीछे, हाथ की बन्द मुट्ठी के बराबर गर्भाशय, रहता है। गर्भाशय से कुछ ऊपर और पीछे की ओर– दाहिने तथा बाये पार्श्व मे अड्डूचे जैसी ( बादाम से कुछ बडी ) एक-एक गांठ होती है जिसे रज ग्रन्थि (*Ovary* ओवेरी) कहते हैं डिंबाशय भी इन्हीं का नाम है। यहां से एक-एक झालरदार नली गर्भाशय मे दाहिने और बाये ओर से आमिलती है। गर्भाशय के पीछे मलाशय रहता

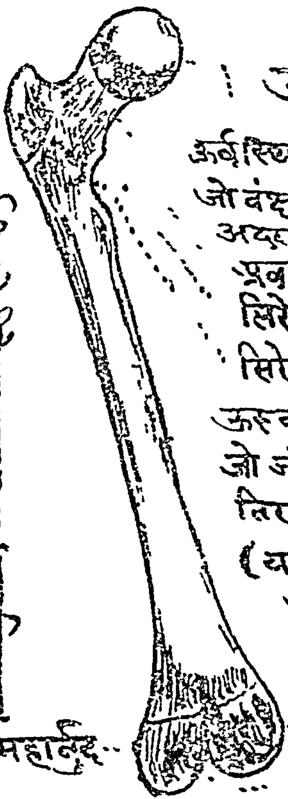
गर्भस्थ बालक और श्रोणिद्वार




अनुजंघास्थि और जंघास्थि




ऊरुनलक




पाद-तल और एड़ी



* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

है। स्त्रियों की वस्ति में ऐन तली में, गर्भाशय से १–१॥ इञ्च चौड़ी नाली जाकर खुलती है जिसे योनि ( *Vagina* वैजाइना ) कहते हैं। उस द्वार से आगे को मूत्रद्वार का छिद्र होता है। इन भिन्न भिन्न जननेन्द्रियों के पीछे पुरुप और स्त्री दोनों में ही मलद्वार ( गुदा *Anus* ) का छिद्र रहता है। इन सबको चूतड़ और जंघा की मोटी-मोटी मांस-पेशियां ठीक जकड़े रहती हैं। पेट के अङ्गों का कुछ भार इन पर भी पड़ता है। शेप भार नितम्बास्थि के चौड़े-चौड़े कटोरेनुमा फलकों पर रहता है।

( १५७ ) स्त्री के गर्भणी होने पर बच्चा ज्यों ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों गर्भाशय भी बढ़कर पेट मे ऊपर को फैलता जाता है। परन्तु जब बच्चा प्रसव होता है तब उसे वस्ति के इसी तल-मार्ग 'योनि' द्वारा बाहर निकलना पड़ता है। इसमें मांस निर्मित गर्भाशय के मुख और योनि की दीवारें तो बहुत कुछ फैल कर रास्ता देदेती हैं, परन्तु तली के चारों ओर स्थित नितंबास्थि, और गुदास्थि का घेरा तो जितना चौड़ा हो उतना ही रहता है। स्त्री की आयु १५ वर्ष से छोटी होने तक नितम्बास्थि के तीनों खण्ड अलग-अलग होने के कारण, हट-हट कर मार्ग तो देदेते हैं, परन्तु इससे उनकी रचना सदा को कुछ बिगड़ जाती है। १५ से ऊपर की आयु में वे सब अस्थियां मिलकर एक तथा दृढ़ हो चुकती हैं, अतः कुछ भी गुंजायश नहीं देतीं। परन्तु तब तक उमर बढ़ने के अनुसार उनका घेरा कुछ अवश्य बढ़ चुकता है। परन्तु यदि बच्चे का सिर उस घेरे की चौड़ाई से छोटा न हो तब प्रसव बड़े कष्ट से होता है। यदि बच्चे का सिर उस घेरे से तनिक भी बड़ा हो तब कुशल धात्री बच्चे का सिर कतर कर ही उसे निकाल सकती है, अन्यथा जननी की जान भी जोखिम में रहती है।

इसलिये यदि कन्या छोटी आयु ( १२ – १३ वर्ष ) में ही गर्भवती होजाय या उसका गर्भ अति अधिक बढ़ना मालूम दे तो ७-८ वें मास से ही कुशल धात्री को या जनाने अस्पताल में दिखाना चाहिये ताकि उक्त जनन-मार्ग ( नितम्बास्थि के निचले घेरे ) और गर्भ का नाप लेकर, आगे बच्चा कैसे प्रसव कराना यह निश्चय कर लिया जासके। इसके लिये गर्भिणी को उपवास आदि करा के-बच्चे की वृद्धि कुछ रोकी जा सकती है ताकि वह प्रसव मार्ग से अधिक बड़ा न हो। परन्तु उसमें दो हानियां हैं। एक तो बच्चे की वह कमजोरी फिर जन्म भर दुख देती है। दूसरे उपवास से माता भी प्रसव-कष्ट सहने के अयोग्य होने लगती है जिसके निवारणार्थ ऐन प्रसव-काल आने पर उसे आशुबलवर्धक पदार्थ देने होते हैं।

## जनन-द्वार से बड़े बालक-

(१५८) अथवा जब यह मालूम हो कि गर्भ में बच्चा जिस गति से बढ़ रहा है उसके अनुसार ६ मास पूरे होने पर उसका सिर इतना बढ़ जायगा कि जघनास्थि ( नितंबास्थि ) के निचले घेरे से न गुज़र सकेगा, तब प्रसवकारक प्रयोगों से बच्चा ७ या ८ वें मास मे ही निकाल लिया जाता और कृत्रिम पालन-पोषण द्वारा बचाया जाता है। परन्तु यह क्रिया भी निरापद नहीं।

(१५६) ऐसे जननी के बूते से ज्यादा बड़े बालक गर्भ मे इन कारणों से हुआ करते हैं।

१–जब कन्या तो ऐसी माता की बेटी हो जिसके छोटे-छोटे बच्चे ही जन्म लेते रहे हैं, और उस कन्या का पति या गर्भाधान करने वाला पुरुष ऐसे वंश का हो, जिसमे बालक कुछ बड़े और हृष्ट-पुष्ट पैदा होते रहे है। ऐसी दशा मे ( खास तौर से यदि वह बालक पुत्र हो तो ) गर्भ मे जननी के बूते से अधिक बड़ा होजाता है।

२–जब कन्या की आयु तो १४–१५ वर्ष से कम ही हो, परन्तु उसका संयोग प्रौढ़ पुरुष से होजाय।

३–जब कन्या के माता-पिता की गरीबी या गुस्सेबाजी से कन्या का पालन ठीक न होने से उसके अङ्ग कृश रह जायं, परन्तु इसके बाद श्वसुराल मे एक दम सुखी जीवन और प्रचुर खान-पान के कारण गर्भस्थ बालक खूब बढ़ता जाय। अथवा—

४–वंशानुगत कारण, या रिकैट आदि बीमारी के कारण कन्या का जननद्वार स्वाभाविक से भी अधिक संकुचित हो।

(१६०) नितंबास्थि के अगले भाग मे– बायें-दाहिने दोनों ओर एक-एक अध-गोल गढ़ा या खंदक होती हैं। इसे "जघन-पीठ" ( *Acetabulum* एसीटाबूलम ) कहते हैं। इसमे ऊरु की अस्थि "ऊरु-नलक" ( फेमुर *Femur* ) फंसी रहती है। है। मगर उसका ऊपरी सिरा नही फॅसता। उसके ऊपरी सिरे से अन्दर की ओर एक तीन अंगुल की घुंडी होती है। अर्थात् बाईं "ऊरु-नलक" दाहिनी ओर को दाहिनी ऊर्वस्थि मे बाईं ओर को ३ अंगुल उभार ( प्रवर्धन ) निकला रहता है। वह कुछ ऊपर की ओर को चलता है और अन्त में चिकना अधगोल सिरा बन जाता है। वह अधगोल सिरा उपरोक्त "जघनपीठ" (एसीटाबुलम ) में फॅसा रहता है और पेशियों तथा बन्धनो से जकड़ा रहता है।

इस संधिस्थल से कुछ नीचे को जघनास्थि मे हर ओर २-३ अंगुल के लम्बगोल छेद होते हैं– जैसे गौ की आंख, अतः उन्हें "गवाक्ष" कहा जाता है।

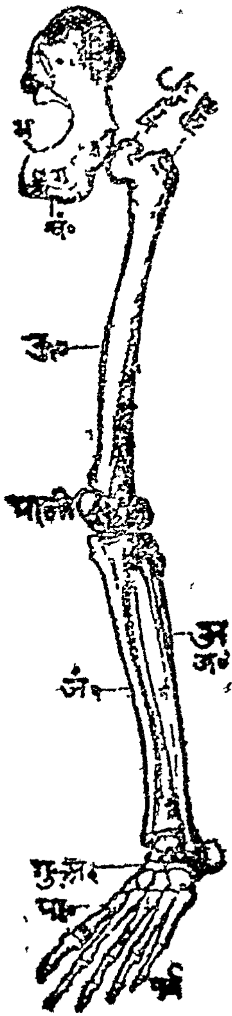
## ऊरु-नलक

(१६१) दाहिनी, बाईं जघनास्थियों के नीचे दोनों निचली शाखायें ( टागे ) हैं। इनकी पहली हड्डी ऊरुअस्थि ( *Femur* ) जघनपीठ मे तिरछे प्रवर्धन जैसे सिर द्वारा जुड़ी रहती है। उस गोल प्रवर्धन से नीचे गोल गर्दन और उसके बाद अस्थि का सिरा तिरछा जुड़ा है अतः जोड़ पर उसके बाहरी ओर ऊपर को बड़ी नोक, तथा अन्दर की ओर नीचे को छोटी नोक निकली रह जाती है। सिरे के ये दोनो अंश उभार जैसे मालूम होते हैं। ऊपर की बड़ी नोक कूल्हे मे टटोली जा सकती है।

इसके आगे बांस की नली के समान ऊरु-अस्थि का गात्र होता है। वह ऊपर बिल्कुल गोल और नीचे जाकर कुछ चौड़ा-चपटा होजाता है। यह अस्थि जघनास्थि में मिलने के स्थान से नीचे के सिरे तक हर व्यक्ति के अपने २ बालिश्त ( १ हाथ ) लम्बी होती है। और उसका कुल शरीर अपने ७-७॥ बलिश्त हुआ करता है।

नीचे के सिरे में सामने एक घाई होती है जिसमे घुटने की अस्थि फॅसी हुई खिसका करती है। उस घाई के इधर-उधर जो उभार हुए– वे नीचे-टाग (जंघा) की २ हड्डियों पर टिके रहते हैं।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *




भ–भगास्थि

चं–चंद्राकार अस्थि

प्रवर्धन–अरुअस्थि के ऊपरी सिरे से जाकर जघनास्थि में फँसने वाला भाग।

सिरा–ऊर्वस्थि का ऊपरी सिरा

ऊ०– ,, का गात्र (ऊरुनलक)

पाली–घुटने की अस्थि

जं०–जंघास्थि–टांग की बाहरी हड्डी।

अ. जं–अनुजंघास्थि- अन्दरूनी हड्डी।

गु–अ०–गुल्फास्थियां–

पा०–पाद-शलाकायें

पर्व०–पोरुवे की अस्थियां

भुजा मे जैसे प्रगंडास्थि होती है वैसे ही पैरों मे यह ऊर्वस्थि। परन्तु प्रगंडास्थि कंधे से कलाई तक बांहके बीचौ-बीच सीधी आती है उससे विपरीत–यह ऊर्ध्व पैर मे कूल्हे के बाहरी कोने से शुरू होकर अन्दर की ओर तिरछी उतरती हुई घुटनो के अन्दरूनी कोने पर समाप्त होती है। अर्थात् दाहिनी और बाईं ऊर्वस्थियों के सिरे कूल्हे पर अधिक से अधिक दूर होते हैं और घुटने पर खूब पास-पास। जब हम दोनों पैरों के बीच में २ बालिश्त अन्तर देकर खड़े हों - उस समय ऊर्वस्थि ऊपर से नीचे सीधी रेखा से आती है। १८-२० वर्ष की अवस्था से पहिले इसके ऊपरी सिरे और दोनों सिरों के समीपवर्ती गात्र का बहुतसा भाग तरुणास्थि का रहता है, यह आगे बता आये हैं।

(१६२) घुटने से पैर के गुल्फ (गट्टे) तक जंघा में दो हड्डियां होती हैं, जैसे हाथ के प्रकोष्ठ मे। इनमे से एक मोटी प्रधान होती है उसे "जंघास्थि" (*Tibia* टिबिया) कहते है। दूसरी पतली हड्डी उसकी सहायिका होती है, वह 'अनु-जंघास्थि' (*Fibula* फाइबूला) कही जाती है। इन दोनों अस्थियों के ऊपरी सिरे–घुटने पर ऊर्वस्थि (फेमुर) के निचले दो उभारों को धारण किये रहते हैं।

(१६३) इनमें जंघास्थि (*Tibia* टिबिया) का ऊपरी सिरा मोटा होता है और इस पर २ प्याले-नुमा स्थान बने रहते हैं जहां ऊर्वस्थि टिकी रहे। सामने को एक गांठ होती है जो घुटने के नीचे टटोली जा सकती है। वहां से यह हड्डी १-१। इञ्च मोटी तिपहलू होकर नीचे चलती है और कम चौड़ी होती जाती है। यह पैर मे आगे से टटोली जा सकती है। नीचे का सिरा छोटा होता है और उसमे पैर के अगूठे की ओर एक उभार होता है। यह गुल्फ पर अन्दर की ओर का गट्टा कहलता है।

(१६४) दूसरी अनुजंघास्थि (*Fibula*-फाइबूला) कनिष्ठा अंगुली से भी पतली सलाई की भांति -जंघास्थि के बराबर-बराबर ही जाती है। इसका ऊपरी सिरा कुछ चपटा चौकोर होकर जंघास्थि से जुड़ा रहता है। शेष तमाम अस्थि से ढकी रहती है। नीचे जाकर इसके सिरे से -- पैरों का बाहरी गट्टा बनता है और इसके ठीक नीचे गुल्फ की हड्डी रहती हैं।

(१६५) घुटने पर सामने की ओर एक तिकोनी टोपी सी चढ़ी रहती है उसे जानु-अस्थि

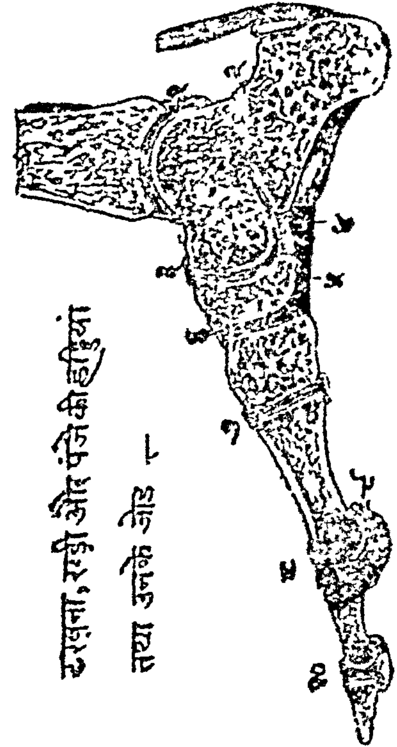
(*Patella* पटेला ) या 'पाली' कहते हैं। यह हड्डी ऊरु की हड्डी के सामने उसकी घाई मे फंसी रहती है -- और उस घाई के सहारे कुछ ऊपर नीचे को भी सरकती है। टांग सीधी करने पर कृश लोगों मे घुटने में यह एक उभार जैसी साफ नजर आती है।

( १६६ ) जंघा की दोनों हड्डियों के नीचे एड़ी का अस्थिमण्डल होता है। कलाई पर जैसे ८ अस्थिखण्ड होते हैं, वैसे ही एड़ी पर ७ छोटी वड़ी हड्डियां होती है। कलाई की हड्डियां दो कतारों मे होती हैं पर पार्ष्णि ( *Heel* हील ) यानी एड़ी की अस्थियां ऊंची-नीची होती है। जंघा- और अनुजंघास्थियों के नीचे एक वेडौल गुल्फास्थि (*Talus* टालस) होती है। जो आगे की ओर गोल होती है। उसके नीचे एड़ी की हड्डी ( *Heel-bone* हील-वोन ) या पार्ष्णि ( *Calcaneus* कैल्केनियस ) होती है। यह ऊपर गुल्फास्थि को धारण किये, तथा नीचे पीछे की ओर को फैली होती है।

गुल्फास्थि ( टालस) के गोल सिरे पर एक नाव जैसे हड्डी औंधी पड़ी होती है उसका गोल तला अन्दर के गट्टे के नीचे वाहर से भी टटोला जासकता है। इसे नौकाकार अस्थि (*Navicular* नैवीक्यूलर या *Scaphoid* स्कैफोइड ) कहते हैं।

इसके अग्रभाग के नीचे तीन छोटी-छोटी तिपहली हड्डियां और होती हैं। उनके वाद सिर्फ एड़ी के सामने वाहर की ओर ( कनिष्ठा उंगली की तरफ ) का कुछ भाग खाली वचा, वहां एक सब ओर से चौपहलू हड्डी रहती है, उसे 'घनास्थि' ( *Cuboid bone* क्यूवोइड वोन ) कहते हैं।

## एड़ी की हड्डियां-




[ यह दाहिने पैर का कटा हुआ अंश है, नं० १-२-३ के वीच मे गुल्फास्थि है। जिस पर इंगलिश मे *3* लिखा है। ऊपर से जंघास्थि इस पर आकर टिकी है । इस के आगे ( नं० ३ व ६ के वीच में ) नं० ५ नौकाकार अस्थि है। इसकी ओट मे २ तिपहली अस्थि होती हैं।

इनके आगे १ तिपहली अस्थि होती है और १ घनास्थि ( जो नं० ६-७ के वीच मे है )। उसके आगे अंगूठे (व अंगुलियों की पादतल और पर्वास्थियां हैं। दाहिनी और *11.* पार्ष्णि (*Heel-bone* ) है। ]

## पादतल की हड्डियां-

( १६७ ) एड़ी के आगे पैर के पंजे मे हथेली

के समान ही हड्डियां होती हैं। अर्थात् एड़ी के आगे से पांच हड्डियां अंगुलियों तक आती हैं जिन्हें पादतलास्थि ( *Mata-tarsal bones* मेटा-टार्सल बोन्स ) कहते हैं और उनके आगे अंगूठों मे दो पोर्वे तथा अंगुलियों में ३-३ पोर्वे रहते हैं, उतनी उतनी ही हड्डियां होती हैं। परन्तु हथेली और पादतल में वहुत अन्तर है। हथेली के वीच में थोड़ा गढ़ा होता है, पैर के तलुए के बीच मे अधिक उठाव रहता है। अर्थात् वहां की हड्डियां पेशियों के ज़ोर से ऐसी तनी रहती हैं कि पंजे के वीच का भाग जमीन से १--१॥ अंगुल ऊंचा उठा रहे। इससे ऊपर का तमाम भार पैर मे एक जगह ही न पड़ कर तमाम पंजे पर बंट जाता है। मनुष्य का पैर सव जीवों के पैर से विचित्र होता है। केवल बंदर या बनमानुस के पैर कुछ-कुछ मेल खाते हैं।

दूसरा भेद यह है कि हाथ में मध्यमा अंगुली सबसे वड़ी होती है और उसके पोर्वों की हड्डियां भी अन्य उसी श्रेणी के पोर्वों से वड़ी होती हैं। परन्तु पैर मे अंगूठे के पोर्वे सबसे बड़े और मोटे होते हैं तथा उसके बाद कनिष्ठा उंगली तक हर अंगुली का आकार तथा उनकी हड्डियों की लम्बाई घटती आती है।

हाथ साधारणतः बांह की सीध में रहता है और कोशिश करने पर उससे आड़े-टेढ़े कोण पर आता है। इसके विपरीत पैर का पंजा खड़ी टांग से समकोण पर – अर्थात् पृथ्वी के समानांतर रहता है और कोशिश करने पर थोड़ासा ही ऊपर-नीचे, बायें-दाहिने घूमता है। और इसकी पादतलास्थिया (मैटा-टार्सल बोन्स ) सलाई जैसी नही वल्कि उससे मोटी मुगदल जैसी होती हैं। पैर की अंगुलियों को पादांगुलि ( *Toe* ८ ) कहते हैं।

(१६८) इस प्रकार पैर में १ ऊर्वस्थि, १ जान्वस्थि, २ जंघा की अस्थियां, ७ एड़ी की कूर्चास्थियां, ५ पादतल की, २ पादांगुष्ठ की और १२ चारों अंगुलियों की ये ३० अस्थियां हुई। साथ ही घुटने के पीछे कंडरा मे एक पाद-कूर्चस्थि ( सीसेमोइड *Sesamoid bone* ) और होती है उसे मिलाकर ३१ अस्थियां नीचे की एक शाखा में होती हैं दोनों पैरों में कुल ६२ हुई।

ये सब अस्थियां पहिले तरुणास्थि (कार्टीलेज) की बनती हैं और फिर पक्की अस्थि में बदल जाती हैं। कपाल (खोपड़ी) आदि की कुछ अस्थियां पहिले मोटी झिल्ली रूप में बनती हैं और फिर उनमें चूने के तत्व आ-आकर हड्डी बन जाती हैं।

## गणाना भेद और समाधान

(१६९) इस प्रकार का अस्थिपंजर (कंकाल) बना हुआ है। ये हड्डियां होती तो हर शरीर मे लगभग एक बराबर और एक समान ही है, मगर पाश्चात्य और प्राच्य-विद्वानो ने उनकी गिनती भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। इसीसे वे चरक में ३६० गिनी गई हैं, सुश्रुत मे ३०० मात्र और आजकल डाक्टरी मे सिर्फ २०६ गिनी जाती हैं। गणना में अन्तर कई प्रकार से पड़ सकता है। एक तो बाल्यावस्था में कई अस्थियां तरुणास्थियां होती हैं जो आगे चलकर पक्की अस्थियां वन जाती हैं। दूसरे कोई २ तरुणास्थियो को गिनते ही नहीं। तीसरे बाल्यावस्था में कई हड्डियां अलग-अलग होती हैं परन्तु बड़ी उमर मे वे जुड़ कर एक हो जाती हैं जैसे उरोस्थि ( उरस *Sternum* स्टर्नम ) के ही बाल्यकाल में ६ खंड होते है फिर वे ३ रह जाते है। युवावस्था में ऊपर का तमाम भाग अस्थि और नीचे का ज़रासा

खण्ड तरुणास्थि यों-२ ही भाग रह जाते हैं और वृद्धावस्था मे तो यह सब पक्की १ ही अस्थि होजाती है। इसलिये अवस्थाऽनुसार भी गणना मे अन्तर पड़ता है।

तीसरे तरुणास्थियों की भांति ही दांत और नख को भी कोई अस्थि मे न गिने तो उनकी अस्थि संख्या अपने आप बहुत कम रह जायगी। इसका विपरीत पक्ष—दांतों का लगभग सब भाग अस्थि तत्व का होता है अतः उन्हें अस्थि गिना जाता है। एवं नखों की रचना सूत्र-बिहीन तरुणास्थि की भांति होती है। अर्थात् उसमे जीवाणु तो होते हैं, उनकी दोहरी-चौहरी कतारे भी सीधी-सीधी होती हैं और उनमें रक्त-नलियां भी नहीं होतीं। "उपचर्म" (*Epithelium* ऐपीथेलियम) के जीवाणु जोड़ी-जोड़ी की कतार मे ही नहीं बढ़ते और उनके पोषणार्थ रक्तनलियां भी होती हैं। इस कारण डाक्टरों की भांति इसे उपचर्म में न मानकर प्राच्य विद्वानों ने इन्हें उपास्थि-तरुणास्थि अर्थात् अस्थि ही में गिना है। इस कारण भी गणना में अन्तर पड़ता है।

चौथे– रीढ़ ( *Spine* स्पाइन ) में पसलियां जहां जाकर जुड़ती हैं वहा पीठ के मुहरों से दोनों ओर ( दाहिनी व बाईं ओर ) प्रवर्धन निकले होते है। वे रीढ़ के कशेरुका ( मुहरों ) में ही शामिल न मानकर – उन्हें चरक मे छाती की पसलियों का एक अलग अंश गिना गया है और इस प्रकार एक-एक पसली से जुड़ा हुआ १-१ प्रवर्धन गिनकर कुल २४ ये अस्थियां और बढ़ जाती हैं। इन्हीं गणना-विभेदों के कारण अस्थियां कोई २०६, कोई ३०० और कोई ३६० गिनते हैं॥

## (१७०) गणना का विवरण-

५६ चारों अंगुलियों मे ३-३ तथा अंगूठे मे २ कुल १४ के हिसाब से २ हाथ और २ पैरों में-

२० दोनों हथेली और दोनों तलुओं में ५-५

१६ दोनों मणिबंध पर ८-८ टुकड़े, अधिष्ठान ४ और मणिक ४

१४ दोनों गुल्फों पर ४-४ और पार्ष्णि पर ३-३

४ जंघा की दोनों पैरों की- २-२ अस्थियां।

४ अरत्नि–अर्थात् दोनों हाथों के प्रकोष्ठ में २-२

२ प्रगण्डास्थियां–भुजाओं मे बाहुनलक

२ ऊर्वस्थियां–अर्थात् ऊरु-नलक

२ जान्वस्थियां–घुटनों पर

२ अक्षक–दाहिनी बाईं हसलियां

२ अंसफलक–या खवे की स्कंधास्थियां

२४ पसलियां–

१ उरोस्थि

१ कण्ठास्थि

२ हनु

१ हनुमूल

२ गण्डास्थियां

२ तालु-अस्थियां

३ नासास्थियां और नासाफलक

२ अश्रुअस्थियां

४ सीपाकृति २, जतूक २, बहुछिद्र १

२ शङ्खास्थियां

६ दोनों शङ्खास्थियों में ३-३ कर्णास्थियां

४ कपाल की अगली, पिछली और २ पार्श्वस्थियां

७ गर्दन के मुहरे

१२ छाती के पसलियों वाले मुहरे

५ कमर के मुहरे

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

१ त्रिकास्थि के ५ खण्ड
१ गुदास्थि की चंचुके ४ खण्ड
२ नितम्बास्थि

२०६ अस्थियां – डाक्टरी गणना

आयुर्वेद में नीचे लिखी अस्थियां और गिनी गई हैं–

२० दोनों ओर की पसलियों से उरोस्थि तक आने वाली तरुणास्थियां।
४ ११ वीं और १२ वीं पसलियों पर लगी तरुणास्थियां
३७ छाती और कमर के कशेरुकाओं के नीचे-नीचे लगी हुई, तरुणास्थियों की चकरीं।
२० नख–
३२ दांत–
१ उरोस्थि के नीचे का तरुणास्थि खण्ड

३०० अस्थियां

प्राचीन ग्रंथों में कुछ अस्थियों का और भी उल्लेख किया गया है। यथा–

४ मणिबंध (कलाई) पर २-२ तरुणास्थियां
२ दोनों ओर १-१ भगास्थि
८ गर्दन के ७ मुहरों के ऊपर-नीचे व हरेक के बीच-बीच की तरुणास्थियां।
२ कानों की बाहरी तरुणास्थियां।
२४ रीढ़ के साथ पसलियों को बांध रखने वाले अस्थिखण्ड ( पार्श्व-प्रवर्धन )
३ स्वरयन्त्र की तरुणास्थियां ( थीराइड, क्रिकोइड और आरीटिनोइड कार्टीलेज )
१६ या १७ जत्रु की तरुणास्थियां अर्थात् टेंटुए के छल्ले

३६० अस्थियां– कुलयोग

इनके अतिरिक्त बांह की कंडराओं में तथा किसी-किसी अवस्थाविशेष में अन्यत्र भी दो-एक छोटी-मोटी अस्थियां देखी जाती हैं, परन्तु वे न तो उल्लेखनीय हैं और न सब में मिलती हैं।

# सन्धि-मण्डल (Syndesmology)

## (अस्थियों के जोड़ों का वर्णन)

(१७२) वैसे तो शरीर के प्रत्येक अङ्ग की रचना अनेक अस्थि, तरुणास्थि, मांस और सूत्रों के जीवाणु के जुड़ने से हुई है अतः इसमें हजारों-लाखों ही जोड़ हैं, परन्तु चिकित्सा में हड्डियों के जोड़ अधिक ज्ञातव्य होते हैं, अतः जितना स्थान हस्तगत है उसमें, इन्हीं को समझाया जावेगा। जोड़ दो तरह के हो सकते हैं।

१–अचल ( *Immovable* इम्मूवेबल ) जो दृढ़ हों और क़तई न हिलें। जैसे–कपाल, कमर, कलाई और गुल्फ की हड्डियां।

२–चल ( *Movable* मूवेबल ) जो अपनी जगह जुड़ी हुई हड्डियों को थोड़ी या अधिक हिलने दें।

चलजोड़ों के फिर दो भेद हो सकते हैं :—

१—बहुचेष्ट – ( डायथ्रोजेज *Diarthroses* ) जहां की हड्डियां खूब हिल-डुल सकें; जैसे—हाथ-पैर की अँगुलियां और जवड़ा।

२—अल्पचेष्ट ( ऐम्फिआर्थ्रोजेज *Amphiarthroses* ) जहां की हड्डी थोड़ी ही ऊँची-नीची याइधर-उधर लचक सके; जैसे-रीढ़ के मुहरे, पसलियां, छाती और कमर के जोड़।

## संधियों के डाक्टरी भेद-

डाक्टरों ने इन चल जोड़ों को, उनकी बनावट के अनुसार ४ भागों में बांटा है।

(१७३) सरकने वाले सपाट जोड़ 'प्रतर-संधियां, ( *Gliding joints* ग्लाइडिंग जोइन्ट्स ) या *Arthrodia* ( आर्थ्रोडिया )। ये ऐसे होते हैं कि एक अस्थि पर दूसरी अस्थि जम कर बैठी होती है और उन दोनों के बीच में कुछ तरुणास्थि या रस-भरी झिल्ली होती है जिससे वे थोड़ा सा ऊपर-नीचे या बायें-दाहिने सरक-घूम सकते हैं; जैसे-रीढ़ के मुहरे, कलाई की हड्डियां, दोनों प्रकोष्ठास्थियां और जंघास्थियां।

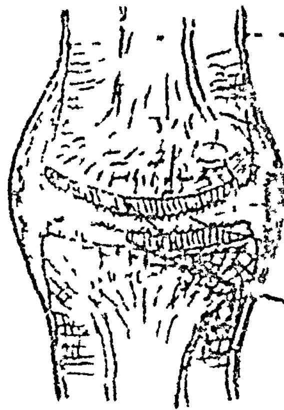
(१७४) छपके या धुरीधार 'सदंशकोर' संधि ( *Hinge joint* हिंज जोइन्ट )। ये ऐसे होते हैं जैसे खूमी या छपकों पर किवाड़ इधर-उधर घूमती है या बक्स का ढक्कन उठता और बंद होता है। इनमें एक हड्डी में कुछ गढ़ा होता है और दूसरी में कुछ उभार। बस उस गढ़े में उभार वाली हड्डी फँसी रहती है और आगे-पीछे — या जोड़ के अनुसार ऊपर-नीचे घूम सकती है। कोहनी, घुटना, और जबड़े की निचली हड्डी और अँगुलियों के जोड़ इसी "सदंश-कोर" ढंग के होते हैं। ये जोड़ शरीर में सबसे अधिक हैं।

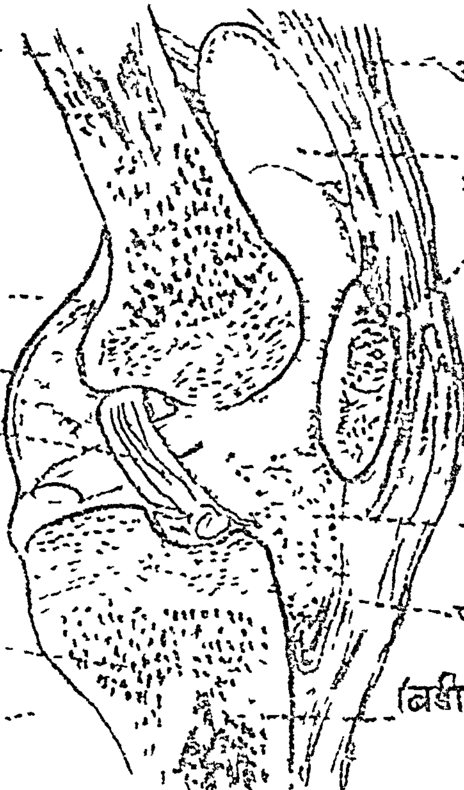
(१७५) ऊखल में मूसली जैसी उदूखल संधि ( *Ball & Socket joint* बाल ऐंड सांकेट ) इसमें एक अस्थि में गहरा गोल गढ़ा होता है जिसमें दूसरी अधिक चलने वाली अस्थि का गोल सिरा या प्रवर्धन फँसा रहता है, परन्तु उसके आस-पास ३ ओर खूब अच्छी तरह घूम सकता है। यह सबसे अधिक 'चल' संधि है। कंधे और बांह का जोड़ ऐसा ही है, तथा कूल्हे और ऊरु का जोड़ भी इसी तरह का है। और—

(१७६) पलाण कीसी "परस्पर-कोर" संधि ( *Saddle joint* )। इसमें एक अस्थि का सिरा बीच में कुछ पिचका हुआ होता है और दूसरा उभरा हुआ। बस एक के सहारे-सहारे दूसरा घूमता है। बल्कि प्राय. दोनों ही अस्थियों के सिरे एक जगह अन्दर को गोल और एक जगह बाहर को उभरे होते हैं, और एक के दबे हिस्से में दूसरी का उभार फँसा रहता है। जैसे ऊँट की जीन ( पलाण ) हो। अँगूठों की मूल शलाका अँगूठे वाली करपृष्ठास्थि और मणि-बंध की पर्याणक ( बड़ी बहुकोणी ) अस्थि के बीच इसी तरह का जोड़ है। मुहरों से पसलियों का जोड़ भी ऐसा ही है।

## संधि का आयुर्वेदिक गणना

आयुर्वेद में इन संधियों के आठ भेद गिनाये हैं और फिर उनके भी उपभेदों का विवेचन है। यथा—




जानु ( घुटने) की सन्धि की अंदरी बनावट

चल-प्रतर (गन्हाइडिग) संधि का एक नमूना.

( बाक्य २३३)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

१ २ ३ ४
कोर, उदूखल, सामुद्ग, प्रतर,
५ ६ ७ ८
तुन्नसेवनी, वायसतुण्ड, मण्डल, शंखावर्त्ताः ॥

(१७७) कोर– संधियों के फिर ४ उपभेद हैं–

(क)–खल्लकोर (*Condyloid* कांडीलोइड) जिसमें एक अस्थि खरल जैसी गहरी हो और उसमें दूसरी अस्थि फँसी हो जैसे कोहनी और घुटने के जोड़।

(ख)–परस्पर कोर– ( *Saddle joint* सैडल ) जो वाक्य १७६ में कही गई है।

(ग)–चक्रकोर– ( *Trochoid* या *Pivot joint* पीवट ) जिसमें एक हड्डी की चकरी पर दूसरी हड्डी घूमे। जैसे शीर्षाधार (चूड़ावलया) और शीर्षधुरी (दंतचूडा) के बीच की संधि।

(घ)–सदंशकोर ( *Hinge-joint* हिंज ) जिसका वर्णन वाक्य १७४ में किया है।

(१७८) उदूखल–संधियां (*Ball& socket*) गेंद और गढ़े जैसी होती है। जो वाक्य १७५ में वर्णित हैं। दांत भी जबड़ों की अस्थि के गढ़ों में इसी तरह फँसे हुए हैं परन्तु वे हिलते-जुलते नहीं, जहां-और ऐसी संधियां, सबसे अधिक चलने वाली होती हैं।

सामुद्ग संधि—वे चल–संधि हैं जो बहुत कम चलती हैं जैसे कंधे की या श्रोणि (कूल्हे) की अस्थियों के जोड़।

(१७९) प्रतर–संधि (*Arthrodia* आर्थ्रोडिया) ये वाक्य १७३ मे वर्णित *Gliding* ग्लाइडिंग जोड़ हैं परन्तु आयुर्वेद में इसके ३ उपभेद हैं–

(क)–चल-प्रतर– जिनमें दोनों हड्डियों के बीच में रसभरी झिल्ली रहने से वे कुछ अधिक सरक या हिल-डुल सकती हैं। जैसे-कलाई की ८ मणिक (कूर्चास्थियों) की परस्पर संधि।

(ख)–युक्त-प्रतर– संधि की अस्थियों के बीच में कंडराओं और पेशियों के बंधन अधिक होने से वे कम घूम-फिर सकती हैं। जैसे दोनों अरत्नि (प्रकोष्ठास्थियां) या जंघा और अनुजंघास्थियो के परस्पर जोड़।

(ग)–दृढ़-प्रतर– एक ही तरह के कई अस्थिखंडों के बीच मे तरुणास्थि आजाने से ये जोड़ बहुत ही कम हिलते हैं। जैसे–पीठ के मुहरों के बीच की संधियां।

(१८०) तुन्नसेवनी (*Suture* स्यूचर ) संधि- वे अचल संधियां हैं जिनके कारण दो अस्थियां परस्पर अटल जुड़ी रहती हैं, परन्तु कठिन जरूरत हो तो कुछ ऊँची-नीची होजाती हैं। जैसे खोपड़ी की अस्थियां। इनमें भी ऊपर की चारों के जोड़ "सीमंतसेवनी" हैं अर्थात् उनकी सीवनें बराबर-बराबर रहती हैं। दूसरी "प्रस्तसेवनी" होती है जैसे 'जतूकास्थि' और 'नासाफलकास्थि' (सीरकास्थि) का जोड़, जिसमें एक की सीवनें दूसरी में आड़ी-टेढ़ी फँसी होती हैं।

(१८१) वायसतुंड— यह कोरसंधि से मिलती-जुलती उस अङ्ग की संधि होती है जो कौए की चोंच की भांति खुले और बंद हो। दोनों शंखास्थियों में अधोहन्वस्थि के बाये और दाहिने सिरे फँसे रहना—इसी संधि के अन्तर्गत हैं।

मंडल संधिया–श्वासमार्ग (टेटुआ) की गोल-गोल छल्ले जैसी तरुणास्थियों के बीच में वैसी

ही गोल-गोल संधियां हैं।

शंखावर्त्त– शंखदेश ( कनपटी ) में कान के अवयवों को एक दूसरे से जोड़े रखने वाली विचित्राकार संधियां हैं।

## चल-संधियों की सामग्री–

( १८२ ) चलायमान सधियों पर दो या तीन हड्डियों के सिरे मिलते हैं जिनके वीच में कुछ तरुणास्थि रहती है, और एक रसभरी झिल्ली की थैली। तरुणास्थि के कारण हड्डी को झटका लगे तो उससे कोई क्षति नहीं पहुंचती और रस भरी थैली के कारण हड्डियां परस्पर ऐसी सरलता से सरकती रहती है जैसे धुरी पर तैल लग जाने से गाड़ी का पहिया।

तरुणास्थियां ( कार्टीलेज ) जोड़ों के वीच में दो तरह से रहते हैं। एक तो हड्डी के चिकने (गोल) दृढ़ सिरे के आस-पास चिपके हुए, ये कांचवत् तरुणास्थि होती है। दूसरी-- दो सिरों के वीच में गद्दी की भांति रखे हुए कार्टीलेज, जो सन्ध्यांतराल तरुणास्थि ( *Inter–articular fibro- cartilage* इन्टर आर्टीक्यूलर फाइब्रो कार्टीलेज) कहलाती है। यह पीले सौत्रिक तन्तु से युक्त "सूत्रीय तरुणास्थि" होती है अतः वड़ी लचकदार होती है। रीढ़ के मुहरों, कलाई और गुल्फ की हड्डियों के वीच तथा स्वरयन्त्र ( *Larynx* लैरिंग्स ) में यह होती हैं।

## बन्धन ligaments लिगामेंट्स–

( १८३ ) सन की लकड़ी पर से जो रेशे उतरते हैं वे वहुत पतले होने पर भी खींचने से सहज नहीं टूटते। ऐसे ही रेशे शरीर में भी विविध जोड़ों को वांधे रहते हैं। ये रेशे जोड़ की हड्डियों मे एक के सिरे से दूसरी के सिरे तक आड़े-टेढ़े जुड़ते हैं। इससे हड्डी इधर-उधर तो घूम सकती है परन्तु अलग नहीं हट सकती। इन रेशों की डोरियां "वंधनी-रज्जु" ( *Ligaments* लिगामेन्ट्स ) कहलाती हैं।

( १८४ ) कुछ खास जोड़ जैसे कंधे और वांह का, या नितंव और ऊरुअस्थि का—ऐसे हैं जहां गेंद और गढ़ा (*Ball & socket* ) वाले जोड़ हैं और जहां की हड्डियां प्रायः चारो ओर को घूमती हैं। वहां डोरियों के साथ-साथ, ऐसे ही रेशों की एक थैली सी वन कर जोड़ को चारों ओर से लपेटे रहती है। इस थैली के अंदर दोनों अस्थियों के सिरे यथेच्छ घूसते हैं। इस थैली को "वंधनी-कोष" *Articular capsule* आर्टीक्यूलर कैपसूल कहते हैं। उंगलियों आदि के भी अनेक जोड़ों पर ये थैलियां होती हैं।

( १८५ ) कुछ "वंधन" के रेशे न डोरी वनते हैं न थैली, वल्कि एक चपटी झिल्ली सी वन कर दो हड्डियों के वीच में जड़ी रहती है। जैसे-प्रकोष्ठ पर वाहरी और आंतरिक 'अरत्नियों' के वीच की, वंधनी-झिल्ली और टांग की जंघास्थि और अनुजंघास्थि के वीच की झिल्ली। यह झिल्ली उस अस्थि को सिर्फ इतना अवकाश देती है कि उसका कुछ भाग एक दूसरी पर चढ़ आवे। यह "वंधनी-कला" ( *Inter-osseus membrane* इन्टर ओसीअस मेंब्रेन ) है।

( १८६ ) इन दो तरह की तरुणास्थियों और तीन तरह की वंधनियों के अलावा एक रसकला ( चेप भरी झिल्ली–*Mucous membrane* )

और भी होती है (यह संधि की दो या तीनों हड्डियों में एक के सिरे पर ( अगर सिरे पर तरुणास्थि लगी हो तो उनके भी बाहर ) चढ़ी रहती है और फिर घूमकर दूसरी हड्डी के सिरे पर चढ़ती है और फिर घूम कर अपने पहिले सिरे से आजुड़ती है। इस तरह यह रसकला दोनों हड्डियों के बीच मे एक थैली सी होजाती है। इस 'रसकला' मे भी रक्त पहुंचता ही है। बस 'कला' के जीवाणु उसमें से रक्त-रस चूस-चूस कर अपनी पीछे की ओर- थैली के अन्दर को-'हगते'-टपकाते रहते हैं। वह रस दोनों अस्थियों के बीच में भरा रहने से-वे हड्डियां बड़ी सरलता से, जरा भी घर्षण हुए बिना, घूमती रहती हैं, जैसे ग्रीज़ लगे हुए पहिये। ये रसकला की थैलियां तीन जगह रहती हैं।

( १ ) दो या अधिक हड्डियां जहां जुड़ती हैं उनके बीच मे-संध्यांतर रसकला ( *Synovial membranes of joints* साइनोवीयल मेम्ब्रेन्स ) बनकर रहती हैं।

( २ ) मांस-पेशियों के जो सिरे हड्डियों से भिड़े रहते हैं उन कंडराओं के आस-पास यह 'रस कला की थैली' लिपटी रहती है, ताकि ये कण्डरायें मजे मे खिंच या ढीली हो सकें और हड्डियों से रगड़ न खायं। भगवान् ने एक-एक सूक्ष्म अङ्ग को भी कितना सुरक्षित कर रखा है। इन थैलियों को कंडरानुमा रसकला ( *Mucous sheath of tendons* म्यूकस शीथ आफ टेंडन्स ) कहते हैं।

( ३ ) जहां ऊपरी त्वचा के नीचे ही हड्डियां हैं- बीचमे मांस-पेशियां नही-वहां उन अस्थियो की त्वचा से रगड़ बचाने को-अस्थि और त्वचा के बीच में यह "रसकला की थैली" होती है। इसे "त्वग्धरा रसकला' ( *Bursoe mucosoe* वर्सी म्यूकोजी ) कहते हैं। और भी पेशियों के बीच मे या जहां कहीं घिसाव होता है वहीं रक्षार्थ रसकला की थैलियां मौजूद हैं, जो आगे वर्णित होंगी।

## अल्पचेष्ट-संधियां-

( १८७ ) जो हड्डियां बहुत कम हिलती-जुलती हैं वे बहुत पास-पास होती है और उनके बीच में ये रसकला की थैलियां तथा बंधनी-कोष नहीं होते। उन हड्डियों के बीच में केवल तरुणास्थि की एक चकती होती है और सिर्फ कुछ "बंधनी-डोरियां" या रेशे। जैसे-रीढ़ के मुहरों के बीच में तरुणास्थि की गोल चकतियां होती हैं और कलाई तथा पार्ष्णि की हड्डियों के बीच में तिकोनी। ये लचकदार पीले सूत्रीय कार्टलिज की होने के कारण, ऊपर-नीचे की अस्थियों को, थोड़ा सा, हिलने देती हैं।

( १८८ ) अचल संधियां—बिल्कुल हिलती नहीं। फलतः उनकी हड्डियां बिल्कुल एक दूसरी से भिड़ी रहती हैं और उनके बीच मे सिर्फ एक पतली "बंधनी कला" होती है, और कुछ नही।

अब कहां-कहां कैसी संधि होती हैं यह वर्णन करेगे-

## अधोहनु ( जबड़े ) का जोड़-

( १८९ ) ठुड्डी वाली हड्डी ( *Mendible* मैंडीबल ) कान के नीचे तक जाकर ऊपर को मुड़ जाती और दो-दो सिरों मे बंट जाती है। शंखा-

स्थि मे वह, वहां जाकर जुड़ती है जहां ऊपर से गंडास्थि जाकर जुड़ी है। वहां दोनों ओर एक-एक स्थालक और गढ़ा वना हुआ है। उसी गढ़े मे हन्व-स्थि के पिछले घुंडीदार सिरे फंसे रहते हैं जैसे—कीली पर किवाड़ घूमती है उसी तरह यह 'खल्लकोर' संधि है। वस तमाम सिर मे अकेली निचली हन्व-स्थि ही चलती है। वही नीचे-ऊपर, वायें दाहिने और आगे-पीछे चल कर तमाम मुख को चलाती है।

हन्वस्थि की उक्त घुंडियों को हनुमुण्ड कहते हैं। उनके चारों ओर वंधनी कोप (रेशों की थैली) होती है जो शंखास्थि के एक उभार के चारों ओर जुड़ी रहती है। उस उभार (स्थालक) और हनुमुण्ड के वीच एक टुकड़ा तरुणास्थि रहती है जिसके दोनों ओर—उसके और हड्डियों के वीच में रसकला भरी थैलियां रहती हैं। जिससे यह विना घिसे चाहे जितनी हिलजुल सकती है। एक तीन सिर का बंधन शंखास्थि के अर्वुद से—उक्त हनुमुण्ड की जड़ तक आता है। दूसरा बंधन जतूकास्थि के बड़े पंख से चलकर हन्वस्थि के (दाहिने और वाये) अगले सिरों ( हनुकूट ) तक आता है।

तीसरा वंधन शंखास्थि के शिफा-प्रवर्धनक (*Styloid process* स्टाइलोइड प्रोसेस) से हन्वस्थि के उस निचले सिरे तक आता है जहां कान के नीचे से हड्डी ऊपर को मुड़ती है।

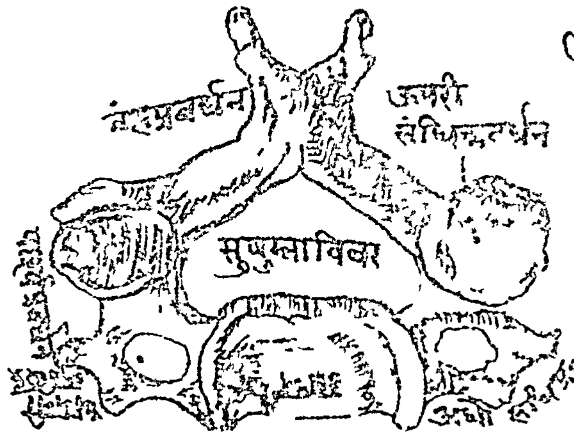
( १६० ) कभी २ यह निचला जवड़ा एक या दोनों ओर के जोड़ों पर से उतर जाता है। खास कर उस समय जव कोई आदमी वोल रहा हो और खुले मुंह ही जोर का तमाचा लग जाय या कोई और भारी चोट आलगे, तव इस अस्थि की घुंडियां अपने गढ़ों में से निकल आती हैं। उसका इलाज यह है कि कान के नीचे जवड़े को खूब दवा कर ऊपर को उठा दिया जाय और घुंडियों को अंगुलियों के सहारे, जरा दवा कर अन्दर गढ़ों मे कर दें। और थोड़ी देर सहला दें। वस, जवड़ा ठीक वैठ जाता है। अन्यथा भीपण कष्ट होता है। इस संधि के पास ही कान हैं। अतः इसके विकारों का कान पर और कर्ण-रोगों का इस पर काफी असर पड़ता है।

## सिर और गर्दन की सन्धि—

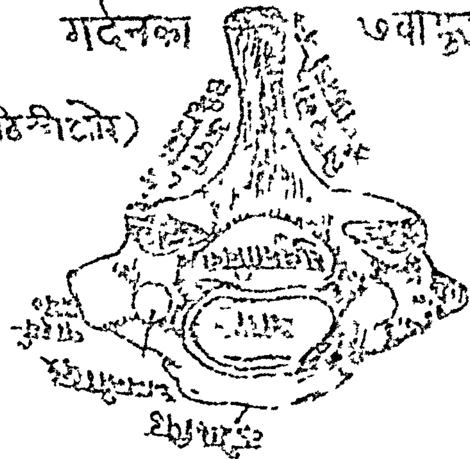
( १६१ ) सिर की पिछली हड्डी ( पश्चिम-कपाल या पश्चादस्थि ) में "महाद्वार" नामक छिद्र के इधर-उधर दो घुंडिया वनी हुईं ( वाक्य १६ मे ) वता आये हैं। वे घुंडियां रीढ़ के पहले मुहरे "शीर्षाधार" ( *Atlas* चूड़ावलय ) के ऊपर दो गढ़े होते है, ( वाक्य १०२ देखें ) उनमे टिके रहते हैं, तथा उनमे वे घुंडियां कुछ हद तक आगे पीछे को सरक सकती हैं, जिससे सिर आगे को या वाये—दाहिने झुकाया जा सकता है। यह भी 'कोर' संधि है। उन गढ़ों को छोड़ कर शेप भाग में तरुणास्थियों की 'चकरी' लगी हुई है जिससे शेप संधि 'प्रतर' भांति की है।

इसमें आगे—मुख की ओर एक वंधन पश्चादस्थि के अन्तिम भाग अर्थात् 'महाद्वार' के आगे से चलता और 'शीर्षाधार' के अगले भाग से जुड़ा रहता है। ऐसे ही एक 'महाद्वार' के पीछे से, 'शीर्षाधार' के पीछे तक लगा हुआ है। इन दोनों वंधनों को भेदन करती हुई काशेरुकी धमनी ( *Vertebral artery* वर्टेब्रल आर्टरी ) महाद्वार के अन्दर चली जाती है और वहां से एक नाड़ी

पीठ में गर्दन के मुहरे —

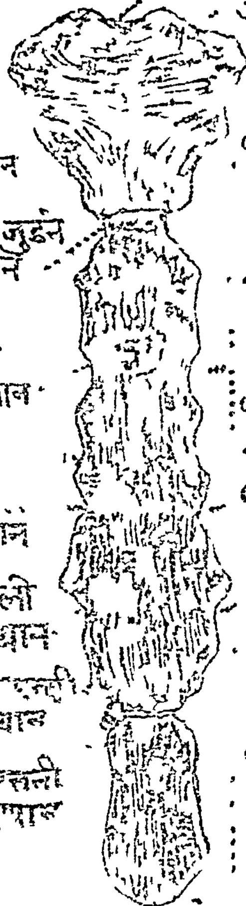



गर्दन का ७वां मुहरा




उरोस्थि

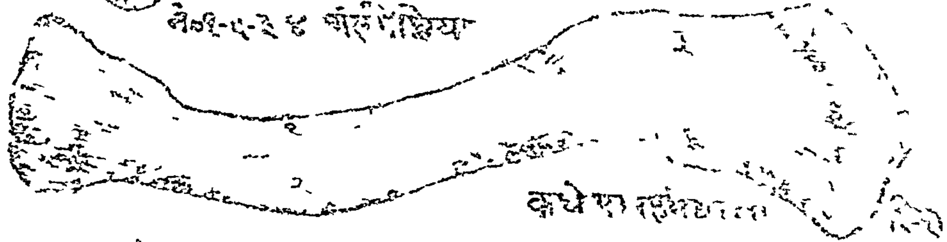
कण्ठकूप (गलेल्लागदा)




उरोस्थि का २ दुकड़े







* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

सहित रीढ़ के सहारे-सहारे नीचे उतरती हुई तमाम मुहरों का पोषण करती है। दो बन्धन दोनों ओर कपाल के "मन्या-प्रवर्धन' से शीर्षाधार मुहरे के दाहिने बाये पार्श्विक प्रवर्धन तक आते हैं। ये चारों क्रमशः अग्रिम 'पश्चिम', 'वाम' या 'याम' "कपाल-मूल चूड़िक" बन्धन कहलाते हैं।

इनके अलावा पश्चात् कपालास्थि की दोनों घुंडियों के आस-पास एक-एक बन्धनी कोष भी होता है जो "शीर्षाधार" के स्थालकों से जुड़ा रहता है।

( १६२ ) इसी शिरो-ग्रीव संधि का दूसरा भाग 'शीर्षाधार' और उसके निचले मुहरे 'शीर्षधुरी' के बीच का जोड़ है। इसमे एक-एक बन्धन दोनों कशेरुकाओं को आगे और पीछे से जोड़े हुए हैं। दोनों कशेरुकाओं के दाहिने और बाये ओर एक-एक प्रवर्धन है इनको भी एक-एक बन्धनी--कोष जोड़े रहता है। दोनों प्रवर्धनों के बीच मे एक-एक रसकला की थैली रहती है, उस पर रखे हुए, वे आसानी से बायीं-दाहिनी ओर सरकते रहते है।

एक + इस प्रकार का डबल बन्धन ( स्वस्तिक बन्धन – *Transverse Ligament* ट्रांसवर्स-लिगामेंट ) शीर्षाधर के अन्दर रहता है। उसके ऊपरी दोनों सिरे पश्चिम-कपालास्थि से और नीचले दोनों सिरे 'शीर्षधुरी' ( *Axis* ऐक्सिस ) से जुड़े रहते हैं।

फिर चार बन्धन पृष्ठवंश की उस गोल नली के अन्दर भी लगे हुए हैं जिसमें सुषुम्ना ( ऊपर से नीचे तक ) रहती है। ये बन्धन शीर्षधुरी के अन्दर से– "महाद्वार" के किनारों तक लगे हुए है, एक-एक आगे-पीछे और एक-एक दाहिने बाय।

इन सबके ऊपर--'पीछे की ओर' एक बड़ी बन्धनी "ग्रीवाधर रज्जु" ( *Ligamentum-Nuchae* लिगामेंटस नूचे ) लगी हुई है जो ऊपर महाद्वार के पीछे कपालास्थि मे और नीचे ७ वें मुहरे के पृष्ठ-कंटक मे जुड़ी है।

## रीढ़ की संधियां -

( १६३ ) रीढ़ के मुहरे परस्पर एक दूसरे के नीचे गर्दन से कमर तक रखे हुए हैं। इनमे हर एक अपने ऊपर और नीचे वाले मुहरों से पांच जगह जुड़ा है। एक तो उनके 'गात्रों' के बीच मे तरुणास्थि की चकतियां रखी है— जो थोड़ी लचकदार होने के कारण रीढ़ थोड़ी-थोड़ी आगे, पीछे, दाहिने या बाये बाजू को मुड़ सकती है। दूसरे--मुहरो के पिछले भाग मे जो एक-एक चक्कर या गोल घेरा होता है, उनके बीच में भी वैसा ही तरुणास्थि का छल्ला लगा हुआ है। तीसरे-- कशेरुकाओं के गात्र के पीछे जो 'संधि-प्रवर्धन' होते है, उनके बीच मे जोड़ होते हैं। उनके बाद पिछले, नीचे को झुके हुए, वंश प्रवर्धन मे संधि होती है और पाचवे बाये दाहिने के दोनों पार्श्विक प्रवर्धन भी जुड़े होते हैं जो आगे चलकर पसलियो से बंध जाते है। ये सब इस प्रकार जुड़े होते हैं —

(क) अगला सर्व कशेरु-बंधन (*Anterior longitudinal Ligament* ऐंटीरियर लोंगीट्यूडीनल लिगामेंट ) यह मोटी ( निवाड़ जैसी ) पट्टी, ऊपर कपालास्थि के तले से चल कर– सब मुहरों के अगले (छाती तथा पेट की ओर के) भाग से जुड़ती हुई, नीचे त्रिक अस्थि तक जाती है। यह बड़ी मजबूत है और सब मुहरों को सहारा दिये रहती है।

(ख) इसी प्रकार एक मोटा-चपटा वंधन – सब कशेरुकाओं को पीछे से जोड़े रहता है। वह ऊपर दूसरे मुहरे– 'शीर्षधुरी' से चल कर नीचे त्रिक अस्थि तक जाता है परन्तु यह उस नली के अन्दर ही अन्दर पीठ की ओर; रहता है जिस नली में सुषुम्ना नाड़ी रहती है। यह "पिछला सर्वकशेरु-बंधन" ( *Posterior* पोस्टीरियर, लोंगीट्यूडीनल लिगामेंट ) है।

(ग) छोटे-छोटे कशेरु-बंधन ( *Inter-vertebral ligaments* इन्टर वर्टेब्रल लिगामेंट्स ) हर दो मोहरों को जोड़ने वाले रेशे हैं जो उन मुहरों और उनके बीच की तरुणास्थियों को भिड़ाये रहते हैं।

( घ ) कशेरुचक्र-बंधन ( *Ligamenta flava* लिगामेटा फ्लावा ) ये पीले सौत्रिक-तंतुओं के लचकदार बंधन– सुषुम्नानाड़ी वाले छिद्र के अंदर ही रह कर –'सुषुम्ना-चक्र' के छल्लों को जोड़े रहते हैं।

(च) संधिप्रवर्धन कोष–प्रतरसंधि की भांति हैं और उनमे बायां निचला संधिप्रवर्धन– उससे नीचे वाल मुहरे के ऊपरी बाये प्रवर्धन से जुड़ा हुआ है। उनके आसपास बंधनीकोष होता है और दोनो प्रवर्धनो के बीच मे रसभरी झिल्ली की थैली, जिससे उनके सरकने मे बाधा न पड़े। ऐसे ही दाहिनी ओर के दोनों प्रवर्धन परस्पर जुड़े रहते है।

( छ ) पृष्ठवंश-बंधन ( *Supra-Spinal Ligament* सुप्रास्पाइनल लिगामेट ) यह एक मज़-बूत डोरी जैसा बंधन कपाल की पाश्चिमास्थि के पिछले उभार से चलता है और रीढ़ के नीचे को झुके हुए – हर वंशप्रवर्धन को बांधता हुआ नीचे त्रिकास्थि तक जाता है। इसीका गर्दन के सातों मुहरों तक का भाग – वाक्य १६२ में "ग्रीवाधर-रज्जु" बताया जाचुका है।

(ज) इन हर वंशप्रवंधनों के बीच-बीच में छोटे २ वंधक--रेशे होते हैं जो 'कशेरुकांतराल वंधन' ( *Inter-spinal* इन्टर-स्पाइनल लिगामेंट्स ) कहाते हैं।

( झ ) पार्श्वप्रवर्धन–बंधन (*Inter transverse Ligaments* इन्टर ट्रांसवर्स लिगामेंट्स) ये डोरे हर कशेरुका के बायें और दाहिने पार्श्वप्रव–र्धनों से चलकर -- उससे नीचे वाले कशेरुका के दाहिने या बायें ( उल्टी ओर के ) पार्श्व प्रवर्धनों से बंधे रहते है। ये छाती के कशेरुकाओं मे मोटे तथा गर्दन और कमर के मुहरों मे पतले होते हैं।

## रीढ़ पर पसलियों की संधि

(१६५) पसलियां दो तरह जुड़ी होती हैं। आगे उरोस्थि की ओर अपनी तरुणास्थियों से तथा पीछे रीढ़ के मुहरो से। रीढ़ पर पसलियां ३ जगह जुड़ती है।

१–मुहरों से पसलियों के सिरे जुड़ते हैं।

२ व ३–दाहिनी और बाईं ओर पसलियों के उभार मुहरों के पार्श्विक-प्रवर्धनों से जुड़े होते हैं।

मुहरों मे से छाती के पहले मुहरे से पहली, पसली और नीचे के १० वे, ११ वें और १२ वे मुहरे से इन नम्बरों की पसलिया, एक-एक जगह ही जुड़ी होती हैं। शेष ६ पसलियां रीढ़ के दो-दो मुहरों से जुड़ी होती हैं, आधी ऊपर वाले मुहरे के नीचे, आधी नीचे वाले मुहरे के ऊपर। फलत· हर मुहरे मे दाहिनी और बाईं दोनों पसलियों के लिये –हर

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

और ऊपर-नीचे २-२ स्थालक होते हैं। जिनसे पसली का सिरा सटा रहता है।

(१६६) इन पसलियों और कशेरु-स्थालकों के बीच मे त्रिशूल जैसा बंधन होता है। उसका दंड तो पसली के सिरे से बँधा होता है और तीनों अग्र-खण्डों मे से एक ऊपरी मुहरे के स्थालक से, एक उससे निचले मुहरे के स्थालक से और एक बीच मे रहने वालो तरुणास्थि की चकती से जुड़ा रहता है। इसे *Stellate* स्टैलेट या *Radiate* रेडियेट लिगामेन्ट कहते है। दोनों स्थालकों से एक-एक बंधनी कोष की थैली जुड़कर पसली तक लिपटी होती है। और इस जोड़ के बीच मे पसली, के सिरे से—बीच की 'तरुणास्थि चकती' तक कई छोटे २ बन्धन भी जकड़े रहते हैं।

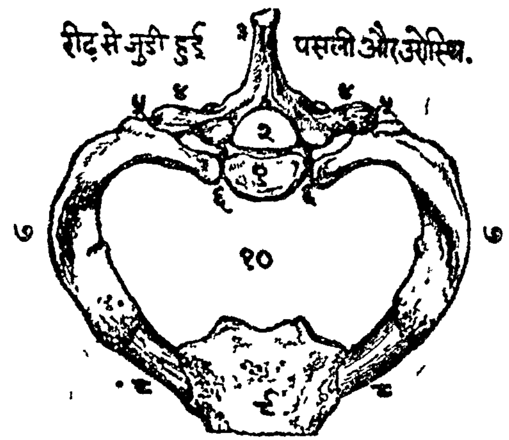
(१६७) रीढ़ के पार्श्विक प्रवर्धनों और पसली के उभारों के बीच में जो जोड़ हैं वे युक्त प्रतर ( *Gliding* ग्लाइडिंग ) अर्थात् थोड़े-थोड़े सरक सकने वाले हैं। उभार के सिरे से मुहरे के प्रवर्धन तक एक, बंधनी-कोप लिपटा रहता है और दोनों हड्डियों के बीच मे रसभरी झिल्ली की थैली रहती है। बंधनी-कोप के बाहर एक बंधन, पसली के उभार और रीढ़ के प्रवर्धन के आगे, एक बंधन पीछे और एक बीच मे रहता है।

११ वीं और १२ वीं पसली मुहरों से केवल स्थालकों पर होती हैं, ये प्रवर्धन और उभारों के जोड इन दोनों में नहीं होते।

## छाती की संधियां—

(१६७) छाती की ओर आकर पसलियां ( पर्शुकायें ) अपनी तरुणास्थियों ( उपपर्शुकाओं ) से जुड़ी होती हैं, और वे उपपर्शुकाएं आकर उरोस्थि ( उरःफलक ) से जुड़ती हैं। कई उपपर्शुकाएं आपस में भी जुड़ी होती हैं और फिर उरोस्थि के भी छः या तीनों खण्ड भी परस्पर जुड़े होते हैं। ये चारों छाती की संधियां इस प्रकार होती हैं।

## पहली पसली का घेरा और जोड़—




[नं० ७-७ पसलियां, ८-८ उसकी तरुणास्थि, ९ उरोस्थि का ऊर्ध्वखंड, १०-पसली के घेरे में खाली स्थान]

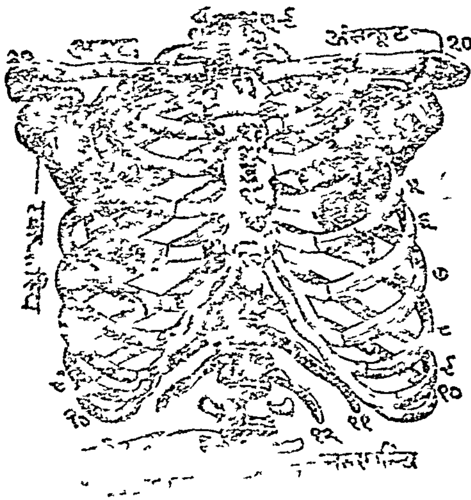
हर एक कड़ी पसली का छाती की ओर का सिरा बीच में कुछ गहरा होता है। उस गढ़े मे उप-पर्शुका (तरुणास्थि) का सिरा अटका रहता है और जोड़ के ऊपर अस्थिधराकला ( पैरीओस्टियम ) लिपटी रहती है। दोनों सिरों के बीच मे रसभरी थैली नहीं होती, और ये जोड़ बिलकुल 'अचल' होते हैं।

(१६९) आगे आकर इसमे पहली से सातवीं तक उपपर्शुकाएं छाती के बीच की हड्डी—उरोस्थि से जुड़ती हैं। इनमें बायें, दाहिने दोनों ओर की पहली तरुणास्थि की संधियां तो— अचल होती हैं। शेष दूसरी से सातवी तक बायीं, दाहिनी छ. छः

संधियां युक्त-प्रतर ( *Gliding* ग्लाइडिंग ) अर्थात् कुछ-कुछ सरकने वाली होती है। इनके वीच में झिल्ली के पर्त ( थैली ) रहती हैं जिनमें रस भरा रहता है। और चार बन्धन होते हैं। १ आगे की ओर, १ पीछे की ओर, १ दोनों सिरों को लपेटने वाली वंधनी-कोष और एक उस थैली के अन्दर दोनों जोड़ों के वीच में वन्धन ।

(२००) उपपर्शुकाओं में छठी और सातवी के वीच मे उनकी कोरें कुछ २ दूर तक मिली रहती हैं, उनके वीच में कुछ पतले वंधन हैं और ऊपर एक कोमल वंधनी-कोष। उन दोनों तरुणास्थियो के वीच मे एक पर्त्त झिल्ली रहती है। कभी-कभी पांचवीं उपपर्शुका छठी से और नवमी उपपर्शुका ८ वी व १० वीं से भी इसी तरह जुड़ी होती है ।

## पसलियों के जोड़-



११ वीं और १२ वीं पसलियों के सिरे पर उपपर्शुका तो लगी होती है, परन्तु वह उरोस्थि तक नहीं आती न किसी अन्य पसली से ही जुड़ी होती है। वह अलग खड़ी सी लटकी रहती है।

(२०१ उरोस्थि ( छाती के वीच की हड्डी ) में तीन खण्ड होते हैं एक उरोस्थि शीर्ष ( ग्रैवेयक ), दूसरा उरोस्थि-गात्र ( मध्यफलक ) और तीसरा उरोस्थि पुच्छ ( अग्रपत्र नामक तरुणास्थि खण्ड )। ये तीनों खण्ड चार वंधनों से जुड़े हैं। एक आगे और एक पीछे तमाम खण्डों को जोडने वाले ( उरःफलक संयोजक )। तीसरा-उरोस्थि के शीर्ष को गात्र से जोड़ने वाला "तरुणास्थिखण्ड" ( उर.फलकांत-राल ), और चौथा-उरोस्थिपुच्छ ( अग्रपत्र *Xiphoid Process* जिफोइड प्रोसेस ) नामक कची हड्डी और उर.फलक रूपी गात्र को जोड़ने वाला "अग्रपत्र-संयोजक वंधन"।

## भुजाओं की संधियां

( २०३ ) अक्षकअस्थि, अंसास्थि और हाथ की हड्डियो मे ११ जगह जोड़ होते है।

१-उरोस्थि और अक्षक के वीच में,
२-अक्षक और स्कंध के वीच,
३-स्कंध और बांह के वीच, वगल की संधि,
४-कुहनी की संधि,
५-प्रकोष्ठास्थियो के वीच की संधि,
६-मणिवंध की संधि,
७-कलाई की अस्थियो के वीच की संधि,
८-कूर्चास्थि और शलाकाओं की संधियां,
९-शलाकाओ के वीच आपस मे संधियां,
१०-शलाकाओं और अंगुलियो के बीच मे संधियां और,
११-अँगुलियों के पोर्वों की संधियां।

(२०४) अक्षक-उरोस्थि- संधि-दोनों अक्षक (हँसली) छाती पर उरोस्थि के आगे आकर जुड़ी होती हैं। एक-एक वंधनी कोष हर ओर की हँसली

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

को सिरे पर उरोस्थि तक लिपटा रहता है। और हँसली और उरोस्थि के बीच मे एक तरुणास्थि का टुकड़ा रहता है। तीन और भी बंधन हंसली को जकड़े रहते हैं। १—अत्तक-उरोस्थि बंधन (*Sterno-clavicular* स्टर्नो-क्लावीक्यूलर लिगामेंट ) हँसली और उरोस्थि के बीच में रहता है। २—पर्शु का-अत्तक-बंधन ( *Costo-clavicular* कोस्टो-क्लावीक्यूलर लिगामेंट ) यह हर ओर की हंसली के अन्दरूनी सिरे क नीचे से-पहली पसली के ऊपरी सिरे तक रहता है। और ३—दोनों अत्तकों के बीच का बन्धन जो दाहिनी और बाईं हंसली के सिरों को जोड़े रहता है। ये जोड़ कुछ-कुछ हिल सकने वाले ( चल-प्रतर ) हैं।

(२०५) अंस-अत्तक संधि—इसमें अंस-कूट ( *Acromion process* ऐक्रोमियन प्रोसैस) के साथ अत्तक (*Clavicle* क्लावीकल) जुड़ी रहती है अतः इसे- *Acromio-clavicular Articulation* ( ऐक्रोमियो-क्लावीक्यूलर आर्टीकूलेशन ) कहते हैं। यह भी चल-प्रतर है। कभी कभी इन दोनों अस्थियों के बीच में तरुणास्थि भी रहती है। इसमें अत्तक के बाहरी सिरे और कंधे के शिखर ( अंसकूट प्रवर्धन ) को लपेटे हुए एक बड़ा बंधनीकोष ( थैला ) रहता है। तथा एक बंधन (*Acromio-clavicular Lig.* ) अत्तक के अगले बाहरी सिरे से, कन्धे पर होता हुआ, अंस-कूट के अग्रभाग तक 'ऊपर' लगा हुआ जोड़ को ढके रहता है।

इनके अतिरिक्त एक तिकोना बंधन ( *Conoid* कोनोइड लिगामेंट ) स्कंधास्थि ( खवे ) के ऊपरी सिरे से हंसली के नीचे तक; और एक चौकोर बंधन (*Trapezoid* ट्रापेज़ोइड लिगामेट) स्कंधास्थिके पीछे से हंसली के नीचे तक लगा होता है।

कन्धे और बगल का सन्धि-

अंसफलक (*Scapula* स्केपुला ) अर्थात् खवे की हड्डी से भी २ बंधन हंसली तक आते हैं। एक उस गढ़े में रहता है जो कंधे से गर्दन की ओर चलते ही पाया जाता है। वह आड़ा बंधन ( *Transverse Ligament* ट्रांसवर्स लिगामेंट ) है। दूसरा तुण्ड-कूटिक बंधन ( *Coraco-acromial* कोरेको- ऐक्रोमियल लिगामेंट ) स्कंधास्थि के ऊपरी सिरे ( अंसतुण्ड ) से उसके ऊंचे उठे हुए प्रवर्धन (अंसकूट) तक रहता है। यह बंधन इन दोनों स्थानों के साथ-साथ बाहुनलक ( *Humerus* ह्यूमेरस ) अस्थि पर भी छत्र सा रखता है।

( २०६ ) कक्षा-संधि (*Shoulder joint* शुल्डर जाइन्ट ) यह स्कंधास्थि ( स्कैपुला ) और बाहुनलक (ह्यूमेरस) के बीच का जोड़ बहुत महत्वपूर्ण है। यह उदूखल संधि (बाल ऐंड साकेट जोइंट) होने के कारण खूब घूम सकता है और तमाम हाथ की असंख्य चेष्टायें इसी के आधार पर होती हैं। इसमें प्रगण्डास्थि ( बाहुनलक ) का अधगोल माथा, स्कन्धास्थि के अंसपीठ नामक गढ़े में फंसा रहता है। उस गढ़े के किनारों पर कुछ तरुणास्थि और कुछ बंधकतन्तु का एक छल्ला चढ़ा रहता है, जिससे गढ़ा और भी गहरा होजाता है और दोनों हड्डियों मे घिसाव भी नही होता। साथ ही यह छल्ला बंधनी कोष का भी काम देता है। इसका एक सिरा अंसपीठ-गढ़े के किनारों पर चढ़ा होता है और दूसरा नीचे प्रगण्डास्थि की पतली गर्दन पर। इस थैली मे तीन छिद्र भी होते हैं। जोड़ के अन्दर रसभरी झिल्ली की थैली होती है, उस थैली की ही तीन शाखाये इन तीन छिद्रों से बाहर निकलती हैं। उन शाखाओं के अन्दर तीन मांस-पेशी की डोरियां रहती है। एक कंधे की निचली, एक पिछली और एक-एक सिरेवाली बाहरी पेशी की पूंछ।

एक और बंधन कंधे के तुंड से चलकर उस के गढ़े पर होता हुआ प्रगंडास्थि के मोटे सिरे से आलगता है इससे उपरोक्त बंधनी कोष के ऊपरी भाग को और भी सहारा मिल जाता है। इसे ( *Coracohumeral Lig.* कोरेको ह्यूमेरल लिगामेंट ) कहते हैं।

## कन्धा उतर जाना—

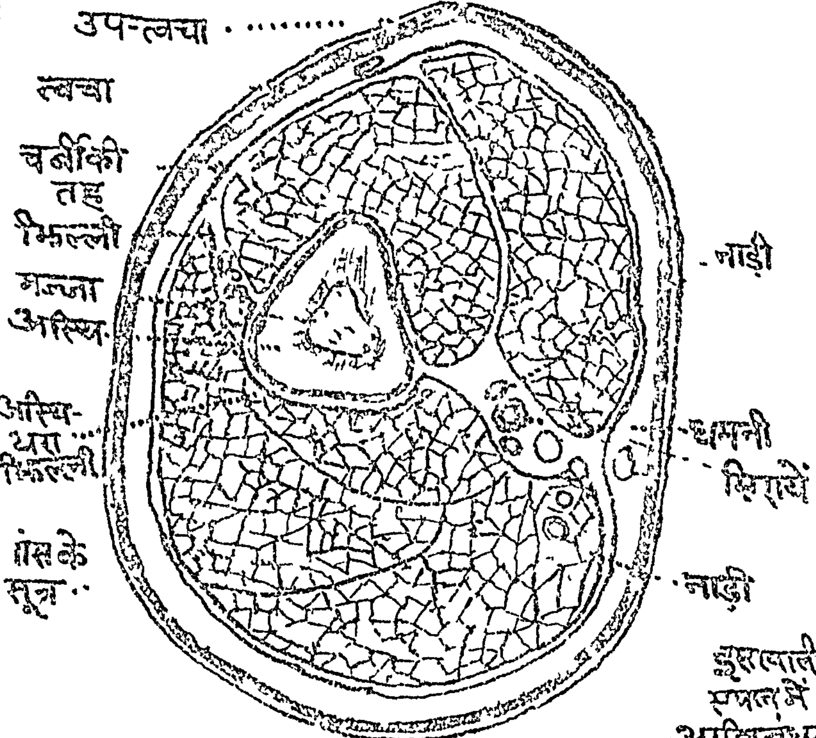
(२०७ ) इस जोड़ के ऊपर, नीचे, और आगे ( अन्दर को ) १-१ पेशी रहती है तथा बाहर को २ पेशियां। फिर भी, भली- भांति घूम फिर सके इसके लिये, यहां का बंधनीकोष बहुत ढीला और पोला रहता है। अतः प्रगंडास्थि का सिरा तनिक जोर का झटका या चोट लगने पर– अंसपीठ के छिछले गढ़े मे से फिसल कर बाहर आजाता है और बंधनीकोष के ३ छेदों में से भी, किसी एक के बाहर को निकल आता है।

बालक को गोदी में लेते समय झटक कर उठाने से या बड़े आदमी के कन्धे पर अति-अधिक भार पड़ने, लाठी वगैरः की चोट, या बिजली का झटका अथवा लड़ाई की हाथापाई से—यह जोड़ उतर जाता है। कभी चारपाई या कुर्सी से गिरने या कुंए से भारी बर्त्तन खीचने पर भी यह जोड़ टल जाता है।

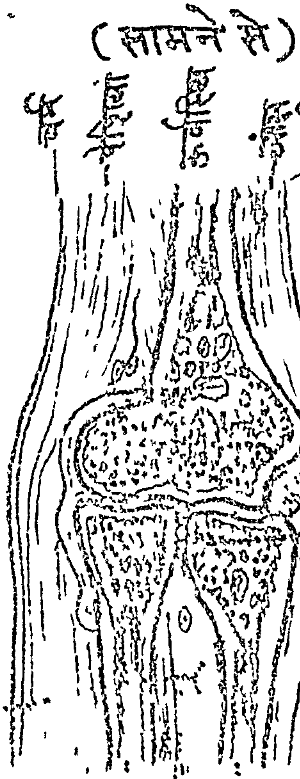
ऐसी सब दशाओं में हाथ बिल्कुल जोर नहीं कर सकता, उठाया तक नहीं जासकता, और बड़ा दर्द होता है। इसका उपाय 'सुश्रुत' मे यह बताया है कि टटोल कर भली भांति मालूम करलें कि, प्रगंडास्थि का सिरा बंधनीकोष के अन्दर ही है या उसके किस छिद्र से बाहर निकलता है। और धीरे-धीरे कोहनी पर से सहारा देकर उसे बंधनीकोष के अन्दर को करलें, और दूसरे हाथ से प्रगंडास्थि का जोड़ वाला सिरा पकड़ कर – कन्धे की हड्डी के "अंसपीठ" नामक गढ़े के सामने कर लें। फिर कोहनी पर जरासा और ऊपर को दबावें। बस, प्रगंडास्थि का सिरा अंसपीठ में सरक जावेगा। थोड़ी देर वैसे ही ही रखे और सुहलावें। फिर छोड़ दे।

यदि जोड़ अधिक देर तक उतरा रहा हो या बंधनीकोष के कुछ रेशे टूट गये हों, या हड्डी किसी पेशी से उलझ जावे तो फिर वहां शोथ हो आता है-

## बांह का आड़ा काट




## कोहनी का जोड़







बांह काटने पर — पहिले उपचर्म, फिर चर्म फिर वसा का पर्त्त, फिर सूत्रीय झिल्ली फिर उसी झिल्ली के पर्दों में लिपटी हुई भिन्न २ पेशियों के मांससूत्र और फिर अस्थ्यावरण में लिपटी ऊर्वस्थि मिलती है। ऊरु-नलक के अंदर मज्जा, और मज्जा भर कर रहता है।

(वाक्य २०८-२११)

और उसे ठीक बैठाने में कठिनता होती है। ठीक बैठ कर भी वह बारबार विचलित होता है। ऐसी दशा में जोड़ ठीक करके स्वस्तिक • बंधन (*Cross-bandage* क्रौस बैंडेज ) द्वारा चारों ओर को जाने वाली पट्टियों से २-१ दिन बांध रखा जाता है।

## कफोणी ( कुहनी ) की संधि

(२०८) कुहनी पर ३ जोड़ हैं। एक तो प्रगंडास्थि ( बाहुनलक ) के निचले सिरे का डमरू जैसा भाग प्रकोष्ठ की आंतरिक 'अरत्नि' के ऊपरी सिरे के दो उभारों में फँसा हुआ है; जैसे संडासी के मुख में 'गिट्टक' फँसी हो । अतः यह सदंश-कोर ( *Hinge joint* हिंज जोइन्ट ) है।

दूसरे प्रगंडास्थि का भरा हुआ सिरा, बाहरी अरत्नि की ऊपरी ओर के गढ़े पर जुड़ा रहता है।

तीसरे- दोनों अरत्नि (प्रकोष्ठ की अस्थियों) के सिरे आपस में जुड़े होते हैं।

परन्तु ये तीनो जोड़ एक ही बंधनी कोप लपेटे रहता है अत. एक ही "कूर्परसंधि" दिखाई देते और कहे जाते हैं। उस बधनीकोप का आधा भाग प्रगंडास्थि की अगली और अन्दरी ओर से चल कर अंत.प्रकोष्ठास्थि के सिरे से आमिलता है, और दूसरा बाहरी भाग - प्रगडास्थि के कोहनी के गढ़े से कोहनी की नोक को लपेटे रहने वाले पिछले भाग से लगा रहता है। तीसरा बंधन प्रगंडास्थि के बाहरी उभार से -चलकर बाहरी अरत्नि (*Radius* रेडियस ) के मुंड-वेष्ठ पर आलगता है। यह *Radial Collateral Lig.* रेडियल कोलेटरल लिगामेन्ट कहलाता है। चौथा बन्धन प्रगंडास्थि के आंतरिक उभार से चल कर अन्तररत्नि ( *Ulna* अलना) तक आता है। यह *Ulnar Collaseral* अलनार कोलेटरल लिगामेंट है। परन्तु ये सब बन्धन और उनके ऊपर का बंधनी-कोप ऐसे सटे हुए रहते हैं, मानों सब एक ही बंधनी स्नायु हो । यह जोड़ कोहनी के आगे और पीछे तथा दाहिने-बाये लगीं पेशियों से जकड़ा रहता है।

(२०६) इस जोड़ पर हाथ आगे को तो पूरा मुड़ जाता है, परन्तु पीछे को इतना ही जाता है कि एक डंडा जैसा सीधा हो जाय। इसके आगे अरत्नि का मुंड ( कूर्पर कूट) प्रगंडास्थि के गढ़े (कूर्परखात) में समा कर अड़ जाता है अतः हाथ अधिक पीछे नहीं जासकता। अगर और भी झटका देदिया जाय तो जोड़ टूट जाता या अरत्नियां - प्रगंडास्थि के पीछे की ओर को चढ़ जाती हैं। विशेषतः यदि चोट या झटका लगते समय हाथ लम्बा या तना हुआ हो तो जोड़ इस तरह उतरता है। इसमें हाथ ढीला छुड़वा कर, झटके के साथ नीचे को खींचें। २-४ वार ऐसा करने से ही अरत्नियां आकर ठीक जगह पर लग जाती हैं। उसी समय ठहर जायं और थोड़ा सुहला कर कोहनी मोड़े। वह कुछ आराम से मुड़ जायगी, तव कुछ देर तक गले में तिकोनी पट्टी बाँध कर हाथ लटकाये रखे।

(२१०) यदि हाथ ढीला पड़ा हो, या मुड़ा हुआ हो तो झटका या चोट लगने पर भीतरी अरत्नि प्रगंडास्थि के डमरू से नीचे उतर आती है और बाहरी अरत्नि का माथा प्रगंडास्थि के निचले सिरे के आगे सामने को आजाता है। यह जोड़ छोटे-छोटे बालकों को उछलाने में सहज ही उतर जाता है या कोहनी पीछे किसी दीवाल वगैरः पर टकरा जाने पर ऐसा होता है। इससे हाथ में बड़ा दर्द होता है और सीधा भी नहीं किया जाता।

यह अधिक कठिनता से ठीक होता है। ऊपर बाहु पर प्रगंडास्थि को दृढ़ पकड़ रखें और हाथ को कोहनी पर से खींचे। खींचते समय प्रगंडास्थि, और कोहनी के नीचे की हड्डियों के बीच में लकड़ी की एक कोणदार पट्टी |__ लगाये रखे जिससे हाथ बेजा न खिंच जाय। उस समय दूसरे जिस हाथ से बाहुनलक पकड़ा रखा है, उसकी अंतिम २ अंगुलियों और अंगूठे से कोहनी पर टटोल कर देखते रहें कि कौन-कौन हड्डी कहां बैठ रही है। जब ठीक बैठ जायं तब हाथ मोड़ कर कोहनी पर भी पट्टी लपेट दें और फिर गले में लटका दें। इस दशा मे ३-४ सप्ताह तक उस हाथ से कोई जोर न करने दें, वर्ना जोड़ फिर उतर जाने का भय रहता है।

## दोनों अरत्नियों की सन्धि-

( २१२ ) प्रकोष्ठ की बाहरी और आंतरिक अस्थियां कुहनी से कलाई तक तीन बंधनों द्वारा जुड़ी रहती हैं। प्रथम तो बाहरी प्रकोष्ठास्थि के सिरे पर एक उभार- अन्तः प्रकोष्ठास्थि के गढ़े में फंसा रहता है। वह चक्रकोर संधि ( पीवट जाइन्ट *Pivot joint* ) बनाता है जिससे एक अस्थि घूम कर दूसरी के ऊपर ( आगे-पीछे ) आसकती है।

कोहनी संधि के बीच में रहने वाली रसभरी थैली की झिल्ली बांह में फैलती हुई इस जोड़ के बीच मे भी रहती है और कुछ दूर तक अरत्नियों के गात्र से भी लिपटी रहती है। और इस जोड़ के ऊपर 'अरत्नि मुंडवेष्ट' नामक बंधनी थैली लिपटी रहती है।

दूसरा ऐसा ही जोड़ नीचे कलाई की ओर के सिरों पर होता है। उसमें बहिःप्रकोष्ठास्थि में गढ़ा होता है जिसमें अन्तः प्रकोष्ठास्थि का उभार धंसा रहता है। यहां दोनों के बीच में एक तिकोनी तरुणास्थि भी रहती है जिससे ये अस्थियां बहुत जकड़ी रहती हैं और यहां पर थोड़ी ही हिल-जुल सकती हैं, एक दूसरे के आगे-पीछे नहीं आतीं। यह तरुणास्थि अरत्नियों के सिरे से आगे निकल कर कलाई के मणिकों से संधि में भी भाग लेती है।

तीसरा जोड़ दोनों प्रकोष्ठास्थियों के गात्र का है। ये दोनों हड्डियां भिड़ कर तो जुड़ी नहीं रहतीं, परन्तु इनके बीच मे एक 'प्रकोष्ठान्तरा झिल्ली ( *Anti brachial Interosseous Membrane* ऐंटी ब्रेशियल इन्टरोसियस मेम्ब्रेन ) और एक तिरछी बंधनी डोरी ( *Oblique Cord* ओब्लिक कॉर्ड ) इस तरह रहती हैं कि ये दोनों हड्डियां अलग नहीं होसकतीं।

## मणिबन्ध-सन्धि

(२१३) कलाई ( *Wrist* रिस्ट ) पर बाहरी प्रकोष्ठास्थि का तो खुद सिरा पहुंचता है - और आन्तरिक प्रकोष्ठास्थि का सिरा न पहुंच कर, उसके आगे लगी हुई तिकोनी तरुणास्थि का सिरा पहुंचता है। ये दोनों मिल कर जो बड़ी 'मूठ' बनती है वह बीच में कुछ गढ़ेदार ( नतोदर ) होती है। उसमे मणिबंध (कलाई ) की आठ छोटी-छोटी कूर्चास्थियों में से ऊपरी तीन हड्डियां - १ नौनिभ (नाव जैसी) २-अर्धचन्द्राकार और ३-त्रिकोण या उपलाकृति ये ३ जुड़ी हुई हैं। चौथी मटर जैसी हड्डी सिर्फ इस त्रिकोण अस्थि से मिली रहती है। फिर इस जोड़

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

पर एक बंधनी-कोष ( थैलीसा ) चढ़ा रहता है। उसके अन्दर रस-भरी झिल्ली का पर्त्त भी होता है जो आस-पास की अन्य वैसी झिल्लियों से अलग ही रहता है।

कलाई के बाहर को, अन्दर को, आगे को और पीछे को एक-एक बन्धन लगे हुए हैं जो दोनों अरत्नियों को कूर्चास्थियों से बांधे रहते हैं। इस जोड़ को आगे-पीछे और गोलाई में आराम से घुमाया जा सकता है और कुछ बायें-दाहिने को भी।

## कूर्चास्थियों की परस्पर संधि

(२१४) कलाई की आठों अस्थियां आपस में भी जुड़ी हुई हैं। उनकी दो कतारें हैं। एक ऊपरी जो अभी बताई है, और दूसरी नीचे वाली ४ अस्थियों की कतार जो करतल की शलाकाओं से जुडी रहती हैं। ऊपरी कतार की चारों अस्थि एक से दूसरी - जुड़ती गई हैं, एक-एक बन्धन नौनिभ—और चन्द्राकार के बीच में, तथा चन्द्राकार और त्रिकोण के बीच में है। तथा, एक आड़ा बन्धन इन तीनों अस्थियों के आगे और एक पीछे को लगा हुआ है। चौथी अस्थि एक कण्डरा के अन्दर रहती है और बस एक ओर त्रिकोणास्थि से जुड़ी है।

दूसरी कतार की चारों हड्डियों के बीच में १-१ इस तरह ३ बन्धन हैं और एक बन्धन उन सबके आगे, तथा १ सबके पीछे चिपका हुआ है।

फिर इन दोनों कतारों को आपस मे जोड़े रखने वाले ४ बन्धन हैं। एक आगे हथेली की ओर - एक पीछे की ओर, एक बाहर की ओर तथा एक अन्दर बगल की ओर। भगवान ने कोई कसर नहीं छोड़ी।

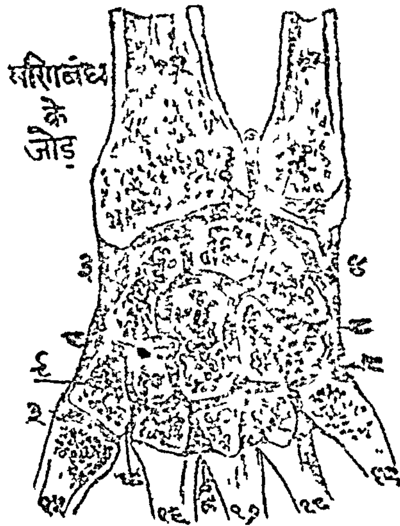
इन बन्धनों से जकड़ी हुई ये 'प्रतर' संधियां बहुत ही कम सरक या हिल सकती हैं।

## कलाई और करतल की संधि—

(२१५) मणिबंध की कूर्चस्थियों मे निचली कतार की चार हड्डियां – हथेली की ५ करभास्थियों से जुड़ी हुई हैं। बड़ी बहुकोण 'पर्याणक' कूर्चास्थि अंगूठे को जाने वाली शलाका से 'परस्पर कोर' या पलाण (*Saddle* सैडल जौइन्ट) की भांति जुड़ी है। यह जोड़ हर तरफ बड़े मजे में घूमता है, इसीसे हाथ का अगूठा अनायास हर अंगुली से मिल कर काम कर सकता है, और कम या अधिक दबाव भी पहुचा सकता है। पैर के अंगूठे में यह बात नही होती। इस हाथ के अंगूठे के जोड़ पर बंधनी कोप और रस-भरी झिल्ली भी सब अंगुलियों से अलग ही होती हैं।

शेष चारों अंगुलियों की शलाकाएं निचली कतार की शेष ३ हड्डियों से जुड़ी होती हैं। अर्थात् फणधारी अस्थि से अनामिका और कनिष्ठा दो अंगुलियों की शलाकाए जुड़ती हैं। ये सब जोड़ 'प्रतर' ( ग्लाइडिंग ) होने के कारण कुछ ही हिल-जुल सकते हैं। इनको पीछे आठ, आगे छः तथा जोड़ों के बीच में २ बन्धन जकड़े हुए हैं। ऊपर कही कूर्चास्थियों के बीच की रस भरी झिल्ली फैलकर इन जोड़ों के बीच मे भी स्थित है। हां, मटर जैसी चणकास्थि और इनके बीच मे रस भरी झिल्ली की थैली अलग ही होती है।

## मणिबन्ध के जोड़-




नं० २१–बाहरी प्रकोष्ठास्थि ( *Radius* ), २२–आंतरिक अरत्नि, १–आंतरिक अरत्नि के सिरे के आगे तरुणास्थि बन्धन, २–सिरे और तरुणास्थि के बीच मे रस भरी झिल्ली की थैली, ३–बाहरी वंधन, ४–आंतरिक बन्धन, ५-६-७–ऊपरी कतार की ३ अस्थिया, ६-१०-११-१२–निचली कतारकी ४ अस्थियां, ८-८-८–रस भरी झिल्ली के पर्त्त जो इन सब जोडों के बीच में फैली रहती है (हर जगह पर्त्त मुड़कर थैली बनाये हुए हैं जिसमें ( *Synovial* साइनोवियल ) रस भरा रहता है। ) १३–बहुकोणास्थि और अंगूठे वाली शलाका के जोड़ में रहने वाली अलग रसकला की थैली, १४–एक वंधन, १५–अंगूठे वाली शलाका। १६-१७-१८-१६–चारों अंगुलियोंकी करभास्थि (शलाकायें) ]

## कलाई के जोड़ उतर जाना-

(२१६) चोट या भारी बोझ पड़ने पर अरत्नि और कूर्चास्थियों के बीच की संधि डिग जाती है। उस समय कूर्चास्थियों को तो हथेली के साथ पकड़ रखें और प्रकोष्ठास्थियां कोहनी के नीचे पकड़ कर, कुछ ऊपर तथा पीछे की ओर खींचें। या एक हाथ से कोहनी दबा कर दूसरे हाथ से हथेली और कलाई खींचे तो जोड़ ठीक बैठ जाता है।

(२१७) अंगूठे का जोड़ भी चोट-मोच आने से या बहुत देर तक वजनी चीज़ दबाये रखने से उतर सकता है, या बहुधा अंगुलियां चटकाने या झटके देने से। उस दशा में, नाड़ी देखने के स्थान के पास, अंगूठे की जड मे जो गढ़ा है, वहां कुछ सुहलाते २ जरा ही दबाकर सुंथाई कर दें। इससे जोड़ ठीक होजाता है। बहुधा कुछ समय में यह जोड़ अंगूठा घूमते-घूमते किसी झटके से अपने आप भी ठीक होजाता है।

## करपृष्ठ की संधियां-

(२१८) अंगूठे की मूल-शलाका को अलग ही छोड़कर शेप चारों अंगुलियों वाली करभास्थियां परस्पर जुड़ी होती हैं। कलाई की ओर उनके मूल भाग ( सिरे ) तो आपस में लगभग भिड़े ही होते हैं और उनको कूर्चास्थियों से बांधने वाले बंधनी कोषों की झिल्ली - कलाई की झिल्ली से ही जुड़ी रहती है। आगे चल कर इन शलाकाओं के गात्र परस्पर अलग रहते हैं। फिर भी उनके बीच में रहने वाली स्नायुओं ( बन्धक रेशों ) द्वारा एक दूसरे से बहुत दूर नहीं हट सकते और मिले से ही दीखते हैं।

हां, अंगुलियों की जड़ मे ये शलाकायें अलग-अलग होती है और एक आड़ा शलाकांतर बन्धन ( *Trans. Meta-carpal Lig.* ट्रांस मैटा-कार्पल लिगामेंट ) उन्हें बांधे रहता है।

(२१६) अंगुलियों के पहिले अर्थात सबसे बड़े मूल पोर्वों के साथ शलाकायें जहां मिलती हैं वहां वे उभरी हुई हैं और अंगुलियों की पर्वास्थियों के सिरे कुछ गढ़ेदार हैं। बस उनमे ये खल्लकोर (*Condyloid*) की भांति जुड़ी रहती हैं जिससे अंगुलियां इन शलाकाओं के सिरे पर अगल-बगल को और आगे को पूरी मुड़ आती हैं। हां, पीछे को पेशियों की कन्दरायें तन कर उन्हें अधिक नहीं जाने देती।

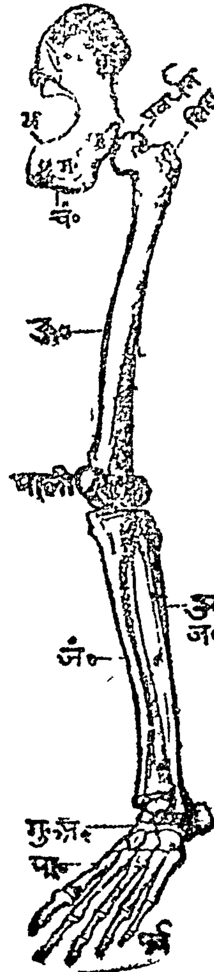
(२२०) अंगूठे की जड़ की पर्वास्थि मूल शलाका से सदंशकोर (*Hinge*-हिंजजौइन्ट) अर्थात् संडासी की भांति जुड़ी रहती है। इसी प्रकार अंगूठे के दोनों पोर्वों के बीच का जोड़ और चारों अंगुलियों के 'अन्तिम व मध्यम' तथा 'मध्यम व अगले' पोर्वों के बीच के २-२ जोड़ 'सदंश-कोर' भांति के ही होते हैं। जिनसे अंगुलियें आगे की ओर को यथेच्छ मुड़ सकती हैं परन्तु और किसी ओर को बहुत कम। वे पीछे को नहीं मुडतीं, इसी कारण किसी वस्तु को दृढ़ता पूर्वक पकड़े रह सकती हैं। अन्यथा वे ऐसा कर ही न सकती। भगवान ने कतिपय अपूर्णतायें भी आवश्यक हित के लिये ही रखी हैं।

## एक आयुर्वेदिक गणना—

(२२१) इस वर्णन से स्पष्ट है कि चारों अंगुलियों में तीन-तीन पोर्वे हैं, तो उनके बीच के दोनों जोड़ संडासी जैसे हैं। अंगूठे में २ ही पोर्वे हैं तो उनके मध्यवर्त्ती जोड़ के अलावा उसकी मूल-शलाका से हुई संधि भी संडासीवत् है। और वह शलाका (हथेली मे) ऐसे ही अलग रहती है जैसे अंगुलियो का बड़ा पोर्वा। दूसरे शब्दों में यह कहा जाय कि "अंगूठे मे भी पोर्वे तो तीन ही होते हैं, परन्तु करभास्थि (मूलशलाका) नहीं होती," तो कुछ गलत न होगा। कुछ पूर्वाचार्यों ने इसी कारण पंजे के अंगूठे-अंगुली, पांचों में, ३-३ ही पोर्वे गिने हैं, जो उनकी रचना देखते हुए ठीक पोर्वे ही कहे भी जासकते हैं।

## पैरों की सन्धियां—

(२२२) हाथों की भांति पैरों में भी ११ जगह जोड़ होते हैं। छाती मे, पृष्ठवंश पर पसली का घेरा जुडता है तो कमर पर पृष्ठवंश (रीढ़) में जघनास्थि का घेरा (श्रोणि-चक्र) जुडता है। पसलियों के आगे तरुणास्थि और उरोस्थि हैं। उसी




[१—रीढ़ और श्रोणिचक्र की संधि।
२—श्रोणिचक्र की हड्डियों की परस्पर संधि।
३—श्रोणि और उरुकी संधि (वंक्षणसंधि)।
४—घुटने की संधि।
५—दोनों जंघास्थियों में संधि।
६—गुल्फ की संधि।
७—गुल्फ के मणिकों की संधि।
८—पार्ष्णि से पादतल की शलाकाओं की संधि।
९—शलाकाओं की परस्पर संधि
१०—शलाकाओं की अगुलियों से संधि और—
११—पादांगुलियों के पोर्वों की संधियां।]

प्रकार श्रोणिचक्र में आगे तरुणास्थि और भगास्थि होती हैं। वहां अलक की बजाय अर्धचन्द्रास्थि होती है मगर वह जोड़ों मे भाग नहीं लेती। आगे कंधे की बजाय जघनास्थि के ही गढ़े मे ऊरुनलक अटका रहता है। कोहनी की जगह उससे उल्टी ओर को मुड़ने वाला घुटने का जोड़ होता है। आगे दोनों जंघास्थियां, और मणिबन्ध की जगह गुल्फ होता है फिर नीचे हथेली की जगह पार्ष्णि और तलवे मगर उस से कुछ भिन्न होते हैं। उनके आगे अंगुलियां हाथ जैसी ही जुड़ी होती हैं। इस प्रकार अधोशाखा अर्थात् पैरों में ये ११ जोड़ होते हैं।

## रीढ़ और जघनास्थि का जोड़-

( २२३ ) इसमें पृष्ठवंश के कटिवर्त्ती कशेरुकाओं ( *Lumber* लंबर वर्टेब्री ) में पांचवा मुहरा नीचे स्थित "त्रिकास्थि" ( *Sacrum* सैक्रम ) से जुड़ता है। दोनों के बीच मे एक तरुणास्थि की चकती और वैसे ही बंधन होते हैं जैसे २ मुहरों के बीच मे। परन्तु चौथे कटिकशेरुका के हर ओर के पार्श्वप्रवर्धन से जघनास्थि के ऊपरी किनारे तक १-१ बंधन और आता है। १-१ बन्धन खास कशेरुका से ही वहां तक आता है। पांचवें कटि-कशेरुक से भी हर ओर १-१ बन्धन जघनास्थि के ऊपरी किनारे ( जघन चूड़ा *Iliac crest* इलियक क्रैस्ट ) तक जाता है जो कटि-जघनिक बन्धन ( *Ilio-lumber Lig.* इलियो लंबर लिगामेंट ) कहलाता है। एक बन्धन ५ वे कशेरुका से त्रिक अस्थि तक और एक त्रिक अस्थि से जघनास्थि तक भी जाता है ये क्रमश. कटि-त्रिकातिक और त्रिकजघनिक बन्धन कहलाते हैं। [ लिथो चित्र देखें ]

जघनास्थि में नीचे का भाग कुकुन्दरास्थि ( *Ischium* इशियम ) कहलाता है। त्रिक अस्थि से एक बड़ा और एक छोटा बन्धन हर ओर के कुकुन्दरास्थि से जा मिलता है। ये त्रिक-कुकुन्दरिक ( गुरु और लघु ) बन्धन ( *Sacro Ischial* सैक्रो इशियल लिगामेंट ) हैं। इस तरह बीचमे तरुणास्थि और आस-पास बन्धनों से जकड़ी हुई कटिकशेरुकायें और त्रिकास्थि ( जघनास्थि का ही १ भाग ) दृढ़ प्रतर 'अन्चल' जुड़े हुए हैं।

## श्रोणिचक्र की अस्थियों के जोड़-

( २२४ ) त्रिकास्थि और जघनास्थि की सन्धि भी दृढ़-प्रतर 'अचल' है। त्रिक अस्थि की दाहिनी और बाईं ओर दो-दो स्थान बने हुए हैं जिन से जघनास्थि के दो स्थालक ( चपटे स्थान ) जुड़े रहते हैं। उनके बीच मे पतली तरुणास्थि है। यह जोड़ पुरुषों मे कतई नहीं हिलता। परतु परमात्मा की लीला ! कि स्त्री जब गर्भिणी होती है, सिर्फ उन दिनों उसकी श्रोणि की सन्धि गर्भ के बढ़ने के साथ साथ कुछ चलायमान हो जाती है, और उन दिनों इस 'दृढ़ सन्धि' के बीच मे भी रसभरी झिल्ली की थैली पैदा हो जाती है। ऊपर कहे हुए दो 'अगले' और पिछले त्रिक-जघनिक बन्धन इस जोड़ को जकड़े रहते है।

( २२५ ) त्रिकास्थि और कुकुंदरास्थि के बीच मे लगे हर ओर दो त्रिक-कुकुन्दर बन्धन भी बता आये हैं। उनमें छोटा आगे की ओर तथा मोटा ( बड़ा ) उसके पीछे रहता है। उनके द्वारा दो छिद्र बनते है जिनमे से एक में होकर गृध्रसी नाड़ी ( *Sciatic Nerve* साइटिक नर्व ) नामक पैर की प्रधान संज्ञानाड़ी और उसके साथ कई शिरायें, धमनियां और 'शुण्डिका' पेशी गुजरती है। यह छिद्र गृध्रसी द्वार ( *Great Sciatic foramen* ग्रेट साइटिक फोरामन ) कहलाता है।

## त्रिक और जघनास्थियों की संधि

- पीठका २३ या मुहरा
- कमर की नाड़ियां निकलने के छिद्र
- पीठका २४ या मुहरा
- त्रिकास्थि
- गुदास्थि
- नरुगास्थि
- भगसंधि
- कटिजघन बंधन { अगला और पिछला
- कटि-त्रिक बंधन
- त्रिक और जघनास्थि के अगले बंधन।
- जघनास्थि
- त्रिककुकुदीय छोटा बंधन और उसके पीछे बड़ा बंधन।
- वंक्षणपीठ इस गढ़े में ऊर्वस्थि का गोला रहता है। ( यह, चित्र २ देखें ) →
- अर्धचन्द्रास्थि

(चित्र २२९)

## वंक्षण-संधि

जघनास्थि के गढ़े में ऊरुनलक के महापिंडक की संधि। ( गोला बाहर निकाल लिया है )

- जघनास्थि
- बंधनी कोष (मोटी थैली) (कटी हुई)
- तरुणास्थि का घेरा
- ऊर्वस्थि का गोल सिरा
- कक्ष कोष उभार
- गवाक्ष
- वंक्षणोलूखल के अंदर का लम्ब
- ऊरुनलक का उभार
- ऊर्वस्थि

(चित्र २३०)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

दूसरा छिद्र 'छोटा गृध्रसी द्वार' या कुकुन्दर द्वार ( *Lesser Sciatic* लैसर साइटिक फोरामन ) है। उससे होकर पैर की नाड़ी, धमनी और शिरायें तथा "आंतरिक श्रोणि-गवाक्ष पेशी" टांगों से वस्ति-गह्वर में आती है।

(२२६) त्रिकास्थि ( *Sacrum* सैक्रम) और गुदास्थि ( *Coccyx* कोक्सी ) के बीच में 'दृढ़प्रतर' संधि है जिसे *Secro Coccy-geal Symphysis* सैक्रो-कोक्सी जियल सिंफाईसिस कहते हैं। इसके आगे, पीछे, तथा दोनों पार्श्वों पर एक एक बन्धन लगा है। और दोनों अस्थियों के बीच में एक चकती तरुणास्थि है। यह तो बता ही चुके हैं कि असल से त्रिकास्थि पांच मुहरे जुड़ कर बनी है। परन्तु वे जुड़ कर बिल्कुल एक ही हो रहते हैं। परन्तु स्त्रियों में गुदास्थि के ४ मुहरे बहुधा अलग-अलग भी रहते हैं ताकि प्रसव के समय वे श्रोणि-द्वार ( प्रसवद्वार ) बढ़ाने को गुंजायश दे सकें।

(२२७) भगास्थियों की संधि (*Symphysis Pubis* सिम्फाइसिस प्यूबिस ) पुरुषों में दृढ़ प्रतर 'लगभग अचल' होती हैं। परन्तु स्त्रियों में यह जोड़ भी कुछ ढीला रहता है, ताकि प्रसव के समय अधिक मार्ग दे सके। दोनों ओर की अस्थियों के सिरे पेडू पर आकर जुड़ते हैं। वह स्थान 'भगसंधि' कहलाता है। इस संधि के बीच में भी एक तरुणास्थि रहती है तथा संधि के आगे-पीछे, ऊपर और नीचे एक-एक संयोजक बन्धन रहता है। रस-भरी झिल्ली इस जगह नहीं रहती।

(२२८) श्रोणि-चक्र आगे को झुका रहता है और उसके झुके हुए निचले भाग को टांगें संभालती हैं। फलतः बैठते समय धड़ का जो भार चूतड़ों पर टिकता है वह सब वजन और हाथों एवं हाथ में उठी हुई चीजों का भी तमाम भार, खड़े होते समय इस श्रोणि-चक्र पर पड़ता है और यह श्रोणि-चक्र उसे दोनों टांगों पर समान बांट देता है। हां, हम चेष्टा करें, तो वह भार किसी एक पैर पर अधिक भी पड़ सकता है, जैसे चलते या दौड़ते समय — जो पैर उठता है उस पर से भार भी हट जाता है और जो टिकता या टिकने वाला होता है उसी पर तमाम भार जा रहता है। यह अदल-बदल बड़ी शीघ्रतापूर्वक और, बहुधा हमारे बिना जाने ही होती रहती है; जैसे शरीर की और हजारों क्रियायें हमारे बिना जाने स्वतः होती रहती हैं।

## ऊरु-सन्धि ( hip-joint )

(२३०) कन्धे और बांह में जैसी खूब-हिल चल सकने वाली संधि है, वैसी ही *Ball & Socket* बाल ऐंड सैकेट जाइंट अर्थात् उदूखल सन्धि जघनास्थि और ऊरु-अस्थि के जोड़ पर वंक्षण में है। कह आये हैं कि दाहिने पैर की ऊर्वस्थि के सिरे में एक मोटा प्रवर्धन बायें ओर को होता है और बायीं ऊर्वस्थि में दाहिने ओर को। ये हर ओर जघनास्थि के निचले — ( आगे को आये हुए ) भाग में एक-एक कटोरी जैसा गढ़ा है, उसमें फँसे रहते है, उस गढ़े को "जघन पीठ" कहते हैं और उस गढ़े के किनारे पर तरुणास्थि का छल्ला लगा रहता है जो उसे और भी गहरा बना देता है। साथ ही उससे परस्पर घिसाव भी घट जाता है। इस जोड़ पर बहुत हल-चल रहती है अतः इसके बीच में रसभरी झिल्ली की थैली भी बहुत मोटी होती है, तथा जोड़ को चारों ओर से जकड़े रहने वाला बन्धनी-कोष भी अन्य स्थानों की अपेक्षा कहीं अधिक मोटा होता

है। वह कोष ऊपर "जघन-पीठ-' के किनारे-किनारे श्रोणि अस्थि से लगा होता है और नीचे टाग में ऊर्वस्थि के तमाम प्रवर्धन को ढकता हुआ उसके ऊपरी सिरे तक आता है।

कुछ और भी वन्धन होते हैं जो क्रमशः जघनास्थि के ऊपरी किनारे से वन्धनी कोष के अगले भाग तक (*Iliofemoral* इलियो फेमोरल लिगामेंट ), ककुंदरास्थि से इस कोष के पिछले भाग तक ( *Ischio Capsular* इशियो कैपसूलर लिगामेंट ), और भगास्थि से वन्धनी कोष के अन्दरूनी ( उपस्थ की ओर के ) भाग तक ( *Pubo-capsular* प्यूबो कैप्स्यूलर लिगामेंट ) आकर उन्हें दृढ़ वनाते हैं। इनके अतिरिक्त–जोड़ के अन्दर भी "जघनपीठ" कटोरी के अन्दर एक छोटा गढ़ा है-इसमें चिपका हुआ एक वन्धन "लिगामेटम टैरेस" (*Lig. Teres*) है जो ऊर्वस्थि के प्रवर्धन की गैंद से जुड़ा रहता है। यह उस गैंद को चारों ओर घूमने तो देता है परन्तु उस गढ़े से वाहर निकलने नही देता। फिर कन्धे की भाति वंक्षण से ऊरु में आने वाली कई पेशियां भी चारों ओर से इस जोड़ को जकड़े रहती हैं और हट नही जाने देती।

(२३१) फिर भी कभी जोर की चोट या झटका लग जाने पर यह जोड़ उखड़ जाता है। उस दशा में वहुधा ऊर्वस्थि की गैंद – वन्धनी कोष का निचला भाग चीर कर वाहर निकल आती है। फिर उस समय पैर, जैसी दशा में रहा हो और उससे आस-पास की जो-जो पेशी कठोर (संकुचित) या पोली (फैली हुई ) हों, उनके अनुसार वह सिरा आगे-पीछे, या ऊपर-नीचे को हट जाता है। वह यातो 'कुकुन्दर–द्वार' की ओर जाता है या पीछे को ऊंचा उठ कर 'श्रोणि-फलक' के वाहर आ पहुंचता है। कभी-कभी वह नीचे को, आगे खसक आता और भगास्थि या उसके पास 'गवाक्षद्वार' की ओर चला जाता है। यदि यह दशा कुछ अधिक देर रहे तो वहां शोथ हो आता है। तव पहिले शीघ्र शोथ दूर करे। शोथ न रहने पर रोगी को चित लिटा कर, पैर सिकोड़ करके ऊर्वस्थि को अपनी दशा मे ले आते हैं, एक-दो वार यह क्रिया देख लेने से भली-भांति समझ मे आजाती है।

जव हड्डियों का क्षय होता है तव भी वाहु-नकल इधर-उधर हट जाता है। अतः ऐसे रोगी की ऊर्वस्थि टल जाय तो पहिले यह निश्चय करना चाहिये विकार क्षय के कारण हुआ है या आघात से और तदनुसार ही चिकित्सा करे।

वृद्धावस्था में हड्डियों मे चूने की अधिकता होकर वे इतनी कड़कनी हो जाती हैं कि आघात लगने पर स्थान भ्रष्ट होने की वजाय सिरे पर से प्रवर्धन चटख जाता है।

## घुटने की संधि ( *Kneejoint* )

(२३२) जानु अथवा घुटने पर तीन अस्थियां और दो तरुणास्थि मिलती हैं। एक ऊर्वस्थि, दूसरी नीचे से जघास्थि ( टांग की मोटी हड्डी) और तीसरे इस जोड़ के ऊपर रहने वाली टोपी 'पाली' ( पटेला )।

जंघास्थि का ऊपरी सिरा एक ओर ( अन्दर को ) तो सपाट होता है, उस पर ऊरुनलक का निचला सपाट सिरा वैठ कर 'प्रतर' संधि ( *Gliding* ग्लाइडिंग जौइंट ) वनाता है। दूसरी ( वाहर की वाजू ) वह सिरा वीच में कुछ गहरा होता है। उस गढ़े मे – ऊरु-अस्थि के निचले सिरे के दो उठे हुए हिस्से समाकर "खल्लकोर" संधि

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

बनाते हैं जो कुछ संडासी की भांति भी होती है। इन दोनों महरावों में १-१ अर्धचन्द्रकार तरुणास्थि रहती है।

इन तीनों जोडों के ऊपर आगे को एक दुपल्लू टोपी जैसी अस्थि 'पाली' या 'जानुपाली' (*Patella* पटेला) होती है। इन सबके जोड़ को लपेटे हुए - एक ओर ऊरु-नलक और दूसरी ओर जंघास्थि के सिरों से लिपटा हुआ तथा पाली को ढके हुए वंधनी कोप ( थैला ) होना है। यह वंक्षण की अपेक्षा कम मोटा होना है, परन्तु मजबूत काफी होता है। [ चित्र देखें ]

इस जोड पर पैर पीछे को यथेच्छ मुड सकता है और थोडा सा बायें-दाहिने को भी, परन्तु आगे को, पैर सीधा होजाने के बाद अधिक, क़तई नहीं आसकता।

(२३३) इस जोड पर तीन अस्थियां होने से वंधन भी अनेक होते हैं। एक वन्धन - 'पाली' के किनारे से दोनों ओर को चलता है, वह ऊपर को ऊरु-प्रसारणी पेशी की पूँछ की कंडराओं से जा मिला है और नीचे जंघास्थि के अगले उभार से आजुडता है। बीच में वंधनी-कोप से चिपका हुआ है। यह "पाली-वंधन" ( *Lig. Patellae* लिगामेंटम पटेली ) है।

दूसरा वन्धन - इस जोड के पीछे की ओर ऊपर ऊरु-नलक के सिरे से नीचे जंघास्थि के सिरे में आ मिलता है और वहां स्थित झिल्ली जैसी पतली पेशी ( "कला कल्पा" ) की कंडराओं से चिपका हुआ है। यह "जानु बन्धन" (*Oblique Popliteal* ओब्लिक पोपलिटियल ) कहलाता है।

तीसरा वन्धन - टांगों की अन्दर की ओर ऊरु अस्थि से जंघास्थि ( *Tibia* ) तक आता है। यह अन्त.जानु-वन्धन ( *Tibial Collateral* टिबियल कोलेटरल लिगामेंट ) है।

चौथा वन्धन - टांगों की बाहर की ओर ऊरु-अस्थि से अनुजंघास्थि ( *Fibula* फाइबूला ) तक आता है। यह बाह्यजानु बन्धन ( *Fibular Collateral Lig.* फाइब्यूलर कोलेटरल लिगामेंट) कहलाता है। इसीके पास एक छोटा वन्धन और होता है, वह "छोटा बाह्य जानुवन्धन" है।

इनके अतिरिक्त बन्धनों का एक और भी फेरा रहता है। उसमें एक स्वस्तिक-बन्धन ( *Cruciate Lig.* क्रूशियेट लिगामेंट) है। उसके दो सिरे ऊर्वस्थि के दोनों ओर, तथा दो सिरे नीचे जंघास्थि के दोनों उभारों पर, लगे रहते हैं।

एक "त्रिकोणाकार वन्धन" संधि के अगले भाग में तथा दो सादा बन्धन कुछ पीछे की ओर दोनों चन्द्राकार तरुणास्थियों के सिरों से लगे रहते हैं।

(२३४) चलते समय इस संधि पर सबसे अधिक गति और झटका पहुँचता है जो दोड़ते समय और भी वढ़ जाता है अतएव इस जोड़ के बीच मे रसभरी थैलियों की झिल्ली भी सबसे मोटी होती है। उसकी एक शाखा ऊपर जाकर ऊर्वस्थि के सिरे पर आगे की ओर रहती है ताकि उसके ऊपर ( आगे को ) लगी हुई ऊरु प्रसारिणी पेशी, विना घिसे गति करती रहे। यह ऊपर कहे १ त्रिकोण और २ सादा वन्धनों से चिपकी हुई है।

पाली अस्थि के ऊपर त्वचा के बीच में भी एक रसभरी थैली है जो त्वचा को भली-भांति पाली

पर सरकने देती है। दूसरी थैली पाली के नीचे के बन्धन और ऊर्वस्थि के निचले सिरे के बीच मे रहती है, जिससे ऊर्वस्थि के ऊपर पाली आसानी से सरक सके। इसके अतिरिक्त एक-एक वसापिण्ड भी इस संधि पर आगे तथा पीछे की ओर रहते है। जोड़ के आस-पास लगी हुई मांस-पेशियां भी इसे जकड़े रहती हैं। रक्त की धमनियां, शिरायें और वात-नाड़ियां जोड़ के नीचे (अर्थात् पीछे) की ओर होकर जाती हैं।

(२३५) यह संधि सहज मे भ्रष्ट होती ही नहीं हां शोथ आने से या सन्धि वात रोग मे इस पर सूजन अकसर आजाती है जो कुछ उपचार या समय के उपरान्त शांत हो जाती है। इस सन्धि के दोनों ओर आगे को १-१ छोटा गढ़ा होता है, वह बहुत स्थूलता या सूजन मे भर जाता है।

## जंघा की दोनों अस्थियों का जोड़-

(२३६) हाथ मे प्रकोष्ठ की दोनों अरत्नि जैसे परस्पर जुड़ी रहती हैं वैसे ही टाग (जंघा) भीतरी (जंघास्थि) और बाहरी (अनुजंघास्थि) दोनों जुड़ी रहती है। हां, कूर्पर संधि मे जिस तरह प्रकोष्ठ की दोनो अस्थि भाग लेती है, वैसे घुटने पर दोनों जंघास्थियां नहीं। केवल मोटी जंघास्थि वहां तक पहुँचती है। उसके चौड़े सिरे के नीचे अनुजंघास्थि तो उसीमे जुड़ जाती है। और जानु-संधि के केवल २ बन्धन इस अनुजंघास्थि तक आते हैं।

जंघास्थि का ऊपरी सिरा बहुत मोटा होता है। अनुजंघास्थि का ऊपरी सिरा उसके नीचे तक ही जाकर खतम होजाता है। वहां जंघास्थि मे कुछ गढ़ा है, उसमे यह सिरा कुछ धंसा रहता है। इस प्रन्तर संधि पर एक बन्धनी कोष लिपटा होता है और १-१ बन्धन आगे तथा पीछे की ओर रहता है।

जंघा की इन दोनों अस्थियों के गात्र कुछ अलग-अलग रहते हुए भी 'जंघांतराला' नामक झिल्ली द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं। इसे (*Crural inter-osseous membrane* क्रूरल इन्टर ओसि-यस मेम्ब्रेन) कहते हैं।

(२३७) जंघास्थि के निचले (गुल्फ के पास वाले) सिरे पर एक त्रिकोण स्थान बना हुआ है, उससे-अनु-जंघास्थि के निचले सिरे का भीतरी 'उठा हुआ' भाग 'युक्तप्रतर' जुड़ा रहता है। इस जोड़ पर एक बन्धन आगे, एक पीछे, एक दोनों अस्थियों के बीच मे (संध्यन्तर) और चौथा जोड़ के ऊपर वलयाकार (आवे छल्ले की तरह *Transverse* ट्रांसवर्स) रहता है। यह भी जोड़ के पीछे की ओर रहता है।

## गुल्फ़ सन्धि (Ankle joint)-

(२३८) जांघ की दोनों हड्डियों के निचले सिरे मिलते है वहां नीचे अन्दर को गहराव रह-जाता है। उसमे-गुल्फ की ७ कूर्च-अस्थियों में से ऊपर वाली 'कूर्चशिर' का ऊपरी भाग समाया रहता है। इस जोड़ पर पैर का तमाम पंजा बायें, दाहिने, आगे-पीछे और इधर-उधर घुमाया जा-सकता है, (जहां तक पेशियां और कन्डरा में बाधा न डाले) इसलिये इसे तमाम 'पाद की संधि' भी कह सकते हैं। अन्यथा गुल्फ या गट्टे की सन्धि तो यह है ही।

इसके आगे और पीछे १-१ वन्धन होता है। तीसरा एक वन्धन इसके वाहरी उभार से चल कर पार्ष्णि ( एड़ी की हड्डी ) तक जाता है। वह वहि:पाद पार्श्व वन्धन हुआ। और एक त्रिकोण बन्धन ( *Deltoid* डेल्टोइड लिगामेट ) इस जोड के अन्दरी सिरे से-कूर्चशिर, पार्ष्णि और नौकाकार अस्थि तक फैला हुआ है।

(२३९) इस जोड़ के पीछे की ओर २ गढ़े होते हैं। किसी आघात या झटके से यह जोड़ सहज ही टल जाता है। उस समय 'कूर्चशिर' जंघा की अस्थियों के गढ़े से इधर-उधर खसक जाता है। तव शोथ आकर-वे गढ़े भर जाते हैं। शोथ मिटा कर, एक हाथ से टांग और दूसरे से पंजा पकड़ कर इस जोड़ को सहज ही ठीक किया जा सकता है, परन्तु कई वार इस स्थान पर जोर का झटका लगने से कोई हड्डी चटक भी जाती है।

## एड़ी की हड्डियां-




[ यह दाहिने पैर का कटा हुआ अंश है- नं० १-२-३ के बीच में गुल्फास्थि है। जिस पर इंगलिश मे *3* लिखा है। ऊपर से जंघास्थि इस पर आकर टिकी है। इसके आगे ( नं० ३ व ६ के बीच मे ) नं० ५ नौकाकार अस्थि है। इसकी ओट में २ तिपहली अस्थि होती हैं।

इनके आगे १ तिपहली अस्थि होती है और १ घनास्थि ( जो नं०६-७ के वीच में है )। उसके आगे अंगूठे ( व अंगुलियों की पादतल और पर्वास्थियां हैं )। दाहिनी ओर *11.* पार्ष्णि ( *Heel-boue* ) है।

[हड्डियों के वीच-बीच में काले-काले रस भरीथैली के पर्त्त हैं ]

## पादकूर्चास्थियों की परस्पर सन्धि-

(२४०) पैर-गट्टे और एड़ी की छोटी-छोटी अस्थियां सात हैं। उनके बीच मे परस्पर इतने बन्धन हैं कि इन अस्थियों की गड्डी एक ही बड़ी अस्थि मालूम पड़ती है। पादतल की शलाकास्थियां इसी गड्डीसे सहारा पाती हैं।

पार्ष्णि और कूर्चशिर को तीन बन्धन जोड़ते हैं, एक पैरोंके अन्दर की ओर, एक बाहर की ओर और एक पीछें की ओर, पार्ष्णि को घन-अस्थि से बांधने वाले चार बन्धन हैं-पादतल का बड़ा और छोटा बन्धन तथा पाद पृष्ठ ( पंजे के ऊपर ) के दो बड़े बन्धन। पार्ष्णि ( एड़ी ) को नौकाकार अस्थि से बांधने वाला ऊपरी और निचला बन्... नौकाकार अस्थि से कूर्च-शिर तक ऊपर आने... बन्धन है, पंजे के नीचे ( तलुवे ) का बन्धन...

के ऊपर का वन्धन और दोनों हड्डियों के बीच का वन्धन।

बाहर की ओर जो गट्टा निकला हुआ है उस बहि:कोणक और घनअस्थि के बीच तीन ऐसे ही बंधन और उस ओर की कोनेदार तीनों कूर्चास्थियों के बीचभी तीन उसी प्रकारके बंधन हैं एक तलुवेकी ओर का, एक ऊपर का और एक उनके बीच मे रहने वाला।

## कूर्चास्थियों और पादशलाकाओं की संधि

( *Tarso-Metarsal Articutation* )

(२४१) उपरोक्त एड़ी की अस्थियों से पैर का पिछला आधा पंजा वन जाता है। यही कारण है कि पंजादतल इतना लम्बा होने पर भी उसकी शलाकायें करतल से अधिक लम्बी नहीं होतीं। हाथ की करभास्थियों की तरह – पैर की पांच शलाकास्थियां भी पीछे चार मणिकों से जुडी होती हैं। इनमें एक घनास्थि होती है और तीन त्रिकोणास्थियां। ये सब संधियां कुछ-कुछ सरकनेवाली 'चलप्रतर'(*Glidıng* ग्लाइडिंग) होती हैं और इनमें हर एक के जोड़ के ऊपर, नीचे और हर एक शलाका तथा मणिक के वीच मे इस तरह तीन-तीन वंधन लगे रहते हैं।

## पादशलाकाओं की परस्पर संधि-

(*Inter metatarsol* इन्टरमैटाटार्सल आर्टीकुलेशन)

(२४२) इन ५ पाद-शलाकाओं में भी अंगूठे की शलाका तो अलग रहती है, शेष चारों शलाकायें परस्पर जुड़ी हुई हैं। इनके नीचे एक वंधन होता है, ऊपर एक वंधन होता है और शलाकाओं गात्रों के बीच मे एक-एक वन्धन रहकर उन्हें सटाये रखता है फिर इन शलाकाओं के अग्रभाग पर ( अंगुलियों की जड़ मे ) एक वंधन इन्हें पांचों को लपेटे रहता है जिससे ये दूर नहीं जा सकतीं। इन वंधनों के कारण ये दूर-दूर होती हुई भी पास लगी दिखाई पड़ती है।

## पादशलाका और अंगुलियों की संधि-

( मैटाटार्सो-फैलेजीअल आर्टीकूलेशंस )-

(२४३) पादशलाकाओं के अँगुलियों की ओर के सिरे गोलाकार होते हैं और उनके ऊपर अँगुलियों के पिछले पोर्वे की हड्डियों के 'गढ़ेदार' सिरे चढ़े रहते हैं। इन खल्लकोर सन्धियों पर एक-एक वन्धनीकोष चढ़ा रहता है जो पादशलाका के सिरे से अँगुली के पोर्वे के सिरे तक जाता है। यहां अँगुलियां ऊपर-नीचे दाहिने-बाये चारों ओर को मुड़ सकती हैं।

## अंगुलियों के पोरवों का सन्धि-

(२४४) अव रह गये २ अँगूठे के पोर्वे और ३-३ चारों अँगुलियों के। इनके बीच मे अँगूठे में १ सन्धि और अगुलियों मे २-२ सन्धियां होती हैं। ये हाथ की भांति ही पादागुलियो मे भी 'सदंश-कोर' ( *Hınge Joınt* हिंज जाइन्ट ) होते हैं। अत. इन पोर्वों पर अँगुलियां नीचे की ओर ही मुड़ सकती हैं। पैर का अँगूठा हाथ की भांति इधर-उधर की सब अँगुलियों तक नहीं पहुँच सकता, अन्य अँगुलियों के बराबर ही गति करता है।

## पादतल पर भार वितरण-

(२४५) अव पैर का तलुआ देखिये। करतल ( हथेली ) के बीच मे जैसा गढ़ा है, वैसे ही- उससे भी अधिक गढ़ा पैर के तलुए के बीच में है। वह पृथ्वी पर किसी तख्ते की तरह समतल नहीं टिकता बल्कि गुम्बद या कमान की तरह बीच में ऊँचा ( आधार ) रहता है। इस कमान के कारण ही शरीर का मन -दो मन भार और उस पर उठाया हुआ और भी २-३ मन भार – पैर की एढ़ी और

अँगुलियों पर थोड़ा बँट जाता है और छोटा सा पँजा भी किसी ओर को लुढ़क नहीं जाता।

इस कमान में तीन महराव हैं। एक पैर के अन्दर की महराव (*Media l Arch* मैडियल आर्क) यह एड़ी की पार्ष्णि, नौकाकार, तीन त्रिकोणास्थियां और अंगूठे तथा २ अंगुलियों की पादशलाकायें मिल कर बनती है। यह जमीन से – बीच मे बहुत उठी हुई और लचकीली होती है।

दूसरी महराव पैर के वाहर की (*Lataral Arch* लेटरल आर्क) है। इसमें पार्ष्णि, घनास्थि और चौथी तथा तीसरी पादशलाका शामिल होती है। यह महराव बीच में कम उठी होती है, परन्तु यह है अधिक मजबूत और अधिकांश भार प्राय. यही संभालती है।

तीसरी महराव आड़ी है। यह पन्जे के अदर की ओर से बाहर तक जाती है और पैर के ऊपर से ही दिखाई देती है। यह ट्रांसवर्सआर्क *Transverse Arch* है।

(२४६) ये महरावें-पेशियों और कन्दराओं के खिंचाव से ही कमान की भांति तनी रहती है। किसी २ व्यक्ति के पन्जे में यह तनाव इतना अधिक होजाता है कि पैर बीच में बहुत ऊपर को उठ आता है और अगुलियों के तल की बजाय सिरे और नख पृथ्वी से रगड़ खाने लगते हैं। यह रोग गुम्वद-पग (*Pes Cavus* पैस कावस) या सीधी भाषा में (*Hollow foot* हौलो फुट) कहलाता है। इसमें नसें और बन्धन जितने सिकुड़ गये हों उसी के अनुसार कष्टसाध्य या असाध्य होता है।

(२४७) दूसरा उसके उल्टा रोग शोप या सूखा के रोगी बालकों मे देखा जाता है। उनकी पेशियां और स्नायु शिथिल होकर पैर की कमानें झुक जाती हैं और तमाम तलवा जमीन पर सपाट जमने लगता है। इसे चपटा पग (*Flat foot* फ्लैट फुट) कहते है। शस्त्र-चिकित्सक इसे प्रारम्भ में कुछ सम्भाल सकते है, परन्तु रोग वढ़ जाने पर – जब तक उसकी मूल-चिकित्सा न हो तब तक आराम नहीं होता।

(२४७) जैसी सन्धियां एक बांह में बताई हैं वैसी ही दूसरी बांह में होती हैं और जैसी एक टांग मे बताई है वैसी ही दूसरे पैर मे भी होती हैं, हर एक के अदर की ओर वह दिशा है जो छाती-पेट या जननेन्द्रियों की ओर होती है और बाहर की ओर कहने से वह भाग समझा जाता है जो इनसे दूर की तरफ है।

# मांस-पेशियां और कंडरायें
## (Muscles & Tendons)
### मसल्स एंड टेंडन्स

[ श्री० डा० गणपतिचन्द्र जी केला ]

(२५२) अब तक जहां-जहां बन्धन (*Ligaments* लिगामेंट्स) की चर्चा हुई है, वे एक अस्थि को दूसरी अस्थिसे बांधे रहने का काम करते हैं और अधिक सिकुड़ या फैल नहीं सकते। परन्तु शरीर के अन्दर हड्डियों से लगी हुई मांस की बड़ी-बड़ी गद्दियां होती हैं जो बहुत सिकुड़ और फैल सकती हैं, तथा जो तमाम शरीर को चलाने का काम करती हैं। ये मास की "पेशिया" हैं जो अधिकांश लाल और कहीं-कहीं सफेद दिखाई देती हैं। शरीर अगर १०० सेर का हो तो उसमे ४० से ४५ सेर मांस होता है।

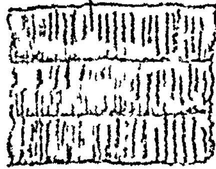
(२५३) मांस की पेशियां शरीर मे दो तरह की होती हैं और दोही खास काम करती हैं। एक तो बहुत छोटे-छोटे रेशों वाला मांस होता है। एक इंच के लगभग १०० से ५०० वे भाग तक लम्बे और इंच के ३ से ६ हजारवे भाग तक बारीक, मोटाई वाले महीन रेशे मिल कर यह मांस बनता है। वे रेशे भी एक दूसरे के साथ सीधी और आड़ी कतारों में जुड़े रहते हैं अर्थात् एक ओर तो उनके सिरे से-सिरे मिलकर कतार बनी होती है, दूसरी ओर उनके पेट (मध्यभाग) से-पेट मिलकर तह जमी होती है। फिर इस रेशों की खड़ी तह पर एक आड़ी तह बिछी होती है। यों मास का कपड़ा या पलस्तर सा तैयार हो जाता है। यह मांस बहुत धीरे-धीरे, 'कुछ ही' सिकुड़ या फैल सकता है और वह सिकुड़ना (संकोच) या फैलना (प्रसार) भी भी 'शरीर धारी' की इच्छा के आधीन नहीं होता। बल्कि शरीर की आंतरिक क्रिया और जरूरतों के अनुसार, 'अपने आप' होता है। इसलिये इन मांस-पेशियों को "अनैच्छिक" मांस (*Involuntary* इनवालंटेरी मसल्स *Muscles*) कहते हैं। इन पेशियों का रंग लाल होता है और उन पर कोई धारियां नहीं होतीं, अत. इसे सादा (*Plain* प्लेन) या धारीविहीन (*Unstripad* अनस्ट्राप्ड) मांस भी कहते हैं।

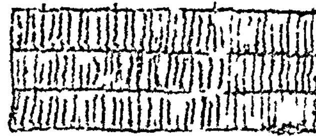
पेट के तमाम कोष्ठ, जैसे- आमाशय, आंतें, मलाशय, मूत्राशय, यकृत, तिल्ली इसी के बने होते हैं। आंतों की महानली भी इसी मांस के लपेटों से बनी है इसी तरह तमाम छोटी-छोटी रस या रक्त ले जाने वाली नलिया, मूत्र नलिकाएं, श्वास-नलिका और उसकी शाखायें, वीर्य नलिक, शुक्राशय और प्रोस्टेट

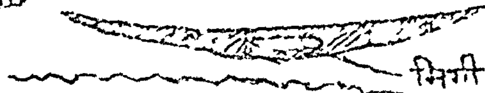
## मांस की धारीदार 'ऐच्छिक' सेल्स (जीवाणु)

संकुञ्चित दशा — पट्टियां चौड़ी और धारियां पासपास हैं।

फैली हुई दशा — पट्टियां कम चौड़ी होगई हैं और धारियां दूर दूर

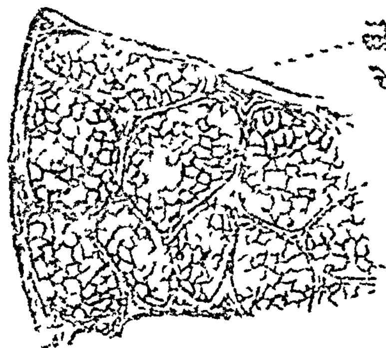


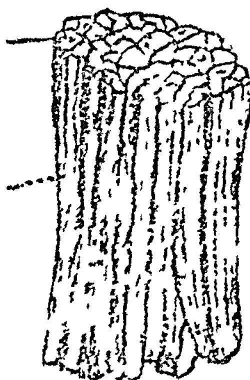



झिना धारीकी १ सेल और उसके बीचमें झिल्ली।

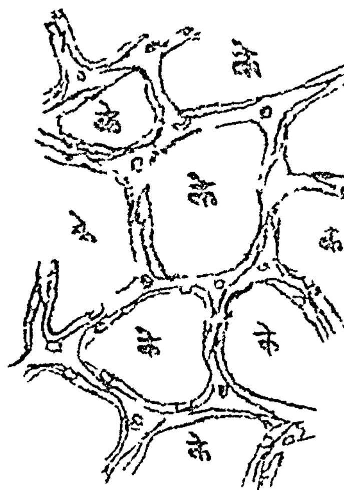
ऐच्छिक मांस पेशी — उसके सेलों के ९ बंडल (५० गुने बढ़ाकर दिखाये गये हैं)




मांस-सेलों का १ बंडल




मांस का पोषण करने वाली कैशिका रगों का जाल (सैकड़ों गुना बढ़ाया हुआ)




'के' कैशिकाओं की नलों हैं और उनके आसपास की दीवार — १-१ झिल्लीदार सेल की बनी हुई हैं।

(वाकर २५३–६०)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

वालों की जड़ें, पसीना बनाने वाली सूक्ष्म थैलियां, अण्डकोष और कई गिल्टियां इसी की बनी होती हैं।

(२५४) इन अनैच्छिक पेशियों के जीवाणुओं के शरीर से बीच में एक मींगी होती है और उसके आस-पास जीवनरस भरा रहता है। वह एक नाम-मात्र के आवरण से घिरा होता है और ऐसे अनेक सूत्रों को संयोजक-तन्तु जोड़े रहते हैं। इन हर एक सूत्र (जीवाणु) के शरीर से एक-एक बारीक नाड़ी का तार चलता है। अनेक जीवाणुओ के तार मिल कर जाल बनाते हैं। उनसे फिर डोरियां बनती जाती है और वे पीठ की ओर जाकर "पिंगला" (*Sympathatic* सिंपैथेटिक) नाड़ी से मिल जाती है। रीढ़ की अस्थिनलिका (बांसे) के अन्दर जो सुषुम्ना नाड़ी रहती बता आये हैं— उसके सहारे-सहारे ही— रीढ़ के बाहर – पीले-पीले नाड़ियों के गुच्छे ऊपर शिर से, नीचे कमर तक जाते हैं। ये बायें-दाहिने दोनों ओर होते हैं और जगह-जगह इन गुच्छों के तार सुषुम्ना से भी सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु इनका कार्य उससे अलग ही है। ये पीतवर्ण होने के कारण 'पिंगल' नाड़ी गण्ड कह लाते हैं और इन गुच्छों की माला को 'पिंगलानाड़ी' कहते हैं। इच्छाधीन मांस-पेशियों को सुषुम्ना नाड़ी चलाती है, यह आगे आवेगा। उसी तरह हमारी इच्छा से बाहर रहने वाली रग-रग और अवयवों की मांस-पट्टियों को सिकोड़ने-फैलाने का नियंत्रण यह "पिंगलानाड़ी" करती है। इसका सम्बन्ध असली बड़े दिमाग से न होकर उसके – नीचे पीछे की ओर स्थित – लघुमस्तिष्क (मग्जहराम *Cerebellum* सेरीबैलम) से है जिसका वर्णन आगे आवेगा। यह दिमाग दिन-रात एक समान जाग्रत रह कर नियमित काम करता और शरीर की अन्तर्दशा सँभाले रहता है। बहुत अधिक योग – साधना से इसे वश में किया जाता है जिसे – पिंगलनाड़ी की साधना कहते हैं।

(२५५) ऐच्छिक अर्थात् हमारी इच्छाधीन (धारीदार) मांस का वर्णन बहुत लम्बा चलेगा। उसके पहिले तीसरी प्रकार की 'हृदय' के मांस की रचना और समझ ले, जो हमारी 'इच्छा के वश में' तो नहीं होता परन्तु 'धारीदार' अवश्य होता है। वह सिकुडता-फैलता बहुत काफी है और खास बात यह है कि निरन्तर चौबीसों घंटे, तथा महीनों और वर्षों सिकुडने-फैलने पर भी उसे थकान नहीं होती। उसके जीवाणु अथक - परिश्रमी होते हैं। हम अपनी इच्छा से उनका काम घटा-बढ़ा नही सकते, परन्तु हमारी – हर इच्छा, भावना, वेदना और सुख-दुख हर्ष – शोक का उन पर असर बहुत काफी पड़ता है। वे तनिक तेज हर्ष या भय होते ही – हमारे न चाहने पर भी अपनी चाल बढ़ा देते हैं, और निराशा, बेकारी, मूर्छा आदि अवसादक असर होते ही वे अपनी गति मन्द भी कर देते हैं।

हृदय के मांस का प्रत्येक सूत्र, छोटे अनैच्छिक मांस सूत्रों के लगभग बड़ा होता है, परन्तु वह चौकोन होता है, तथा अणुवीक्षण यन्त्र में रख कर देखने पर उसके ऊपर आड़ी -दिशा मे धारियां भी काफी होती हैं। ये जीवाणु – जीवन-मूल-रस से भरे होते हैं, बीच में मींगी भी होती है परन्तु उनके ऊपर कोई आवरण नहीं होता। सबका गाढ़ा जीवन-रस एक-दूसरे को छूता रहता है और उसकी पतली-पतली शाखाये (जटाये) निकल कर आस-पास के बराबर लगे हुए या सिरे-पूंछ की ओर जुड़े हुए जीवाणुओं को मिलाये रखती हैं।

हृदय की इन सेलों से मिलकर मांस की जो तह वनती है, उसके ऊपर फिर वैसी ही एक आड़ी तह रहती है, और फिर एक सीधी तह। इस तरह अनेक तहें मिल कर यह एक कम्बल सा पलस्तर वन जाता है। यह हृदय के वायें क्षेपक-कोष्ठ की ओर कुछ अधिक मोटा रहता है, क्योंकि वह कोष्ठ वड़े वेग के साथ समस्त शरीर को रक्त भेजा करता है।

## हृदय के मांस के सूत्र-




## ऐच्छिक पेशियां-

(२५६) अव हमारी इच्छा से सिकुड़ने वाली पेशियों का वर्णन चलेगा। पेशियां सिकुड़ने का मतलव यह होता है कि वे लम्वाई मे घट जाती है, मगर उसी अनुपात से चौड़ी ज्यादा होजाती हैं। होता यही है कि जिन जीवाणुओं से वे मिलकर वनी होती हैं, वे जीवाणु लम्वे की वजाय मोटेपन में फैल जाते हैं, फलत उन सूत्रों की लम्वाई घट जाती है और उनसे वनी पेशी लम्वाई मे सिकुड़ कर वीच मे मोटी हो जाती हैं। ( अन्यत्र चित्र देखे )

जैसे हम अपनी कोहनी पर से हाथ का प्रकोष्ट ऊपर उठाने की इच्छा करें, तो यह कार्य प्रगण्ड से प्रकोष्ठ तक आई हुई पेशी सिकुड़ने से हो सकता है वह सिकुड़ कर खिचेगी तो प्रकोष्ठास्थि सहित हाथ, कलाई और पंजा ऊपर को खींच लेगी। अतः हमारी ऐसी इच्छा होते ही, दिमाग से हाथ की नाड़ी उस पेशी को एक उत्तेजना लाती है। उस नाड़ी की शाखा-प्रशाखाये वारीक-दर-वारीक होती हुई एक-एक धागा वन कर अपनी पेशी के हर एक जीवाणु तक पहुंची हुई हैं। प्रत्येक सूक्ष्म जीवाणु पर एक नाड़ी का तार जा लगा है। वह उसके तमाम जीवन रस मे खलवली पैदा करता है। जीवाणु के अन्दर स्थित 'आकर्षण केन्द्र' * [ जीवाणु ( कोष ) का चित्र देखे ] उसके रस को चारों ओर से खींचता है, फलतः वह सिरो की ओर से सिकुड़ता और वीच में फैलता है। ऐसे ही अनेक जीवाणु सिकुड़ते हैं, फलतः उनसे वनी तमाम पेशी ही सिकुड़ जाती है और हाथ कन्धे की ओर को खिंचकर उठ आता है। [ कोहनी मुड़ने का चित्र देखें ]

पेशी को सिकोड़ने वाली इस उत्तेजना का असर वहुत देर तक नहीं टिकता। एक दशांश सैकेंड मे ही वह जीवाणु अपनी पूर्व दशा में आने लगते और पेशी फैल जाती है। यदि हम अधिक देर उसे सिकोड़े ही रखना चाहें-अर्थात् हाथ को ऊपर उठाये ही रखना हो - तो नाड़ियों द्वारा आने वाली उत्तेजना वारंवार आती है और तव तक क्षण-क्षण वाद आती रहती है, जव तक काम न होजाय।

## पेशियों का संकोच-प्रसार-

(२५७) मनुष्य मे मस्तिष्क से पेशियों को हर सैकेंड ३०-४० वार हलकी-हलकी उत्तेजना ( विजली की लहरें ) आती रहती हैं। इन उत्तेजनाओं से पेशियां सिकुड़ती तो नहीं, परन्तु उनमें

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

सिकुड़ने की एक लहर अवश्य दौड़ जाया करती है। इससे मानों दिमाग़ उन्हें हर समय सिकुड़ने को तैयार रखता है। जैसे किसी पल्टन को कवायद कराके हर दम तैयार रखा जाय।

जब हम किसी क्रिया की इच्छा करते है। तब वह इच्छा दृढ़ होते ही दिमाग़ के जीवाणु झट तय कर लेते हैं कि यह क्रिया किन-किन पेशियों के सिकुड़ने और फैलने से पूरी होगी। बस वे उन्हीं पेशियों को ज़ोरदार उत्तेजना भेजते हैं। वात-नाड़ी की डोरियां उस उत्तेजना को फौरन उन पेशियों तक पहुंचा देती हैं और नाड़ी के धागे– इन पेशियों के अलग-अलग सूत्रों तक। ये बलवती उत्तेजनायें एक सैकण्ड भर में १० या इससे अधिक आया करती हैं। हम लिखे, या पंखा चलावे, जिस कार्य मे अङ्ग को आगे-पीछे दोनों ओर गति करनी हो तो ये उत्तेजना प्रति सैकेंड में १०–१२ वार आती हैं। अर्थात् हम सैकण्ड में १० बार अंगुली या किसी अङ्ग को सिकोड़-फैला सकते है। अत्यावश्यक होने पर कुछ और भी जल्दी हो सकती है। मक्खी अपने पङ्खों को १ सैकेंड मे ३००–४०० वार तक फड़फड़ा सकती है। उसकी नन्हीं सी पेशियों को भगवान ने इतनी शीघ्र गतिशक्ति दी है। परन्तु मनुष्य की पेशियां साधारणतः सैकिण्ड में १०-१२ बार ही सिकुड़-सिकुड़ कर फैलती हैं। तेज उत्तेजनाऐ आना बन्द होते ही, पेशी फैलकर ठहर जाती हैं।

ऐसी तेज उत्तेजना आते ही पेशी सिकुड़ती है, मगर उसे सदा तैयार रहने पर भी, १ सैकण्ड का ४०० वां भाग सिकुड़ने की तैयारी में, और लग-जाता है। इसके बाद १ सैकण्ड के २५ वें भाग समय में ही पेशी सिकुड़ लेती है और एक शतांश सैकिण्ड ठहर कर फिर १ सैकिण्ड के २० वे भाग में वह पुनः फैल जाती है। इन चारों क्रियाओं में मिला कर एक सहस्रांश सैकिण्ड के क्रमशः २॥ भाग, १० भाग, ४० भाग और ४७॥ भाग लगते हैं (जो मिल कर १०० भाग होते हैं)। देशी समय विभाग, जो सैकेंड से भी बारीक अंशों तक जाता है, उससे ये और भी सरलता से समझ में आ-जाते हैं। वह है। २॥ घड़ी–१ घण्टा

२॥ पल–१ मिनट

२॥ विपल–१ सैकण्ड और

१ विपल में भी ६० 'अनुपल' होते हैं अतः १ सैकण्ड–१५० अनुपल। जिनमे से १५ अनुपल में पेशी १ वार सिकुड़ती-फैलती है। वह आधे अनुपल में तैयारी करती है, ६ अनुपल में सिकुड़ती है और १ अनुपल सिकुड़ी रह कर, (अगर नई उत्तेजना तब तक न आजाय तो) फिर ७–७॥ अनुपल में फैल जाती है।

(१५८) परन्तु जब हमें हाथ या अंगुली मोड़ कर कुछ देर तक मुड़ी हुई ही रखनी हो, तब पेशियो को बहुत काम करना पड़ता है। उस हालत में एक वार सिकुड़ कर पेशी फैलने पावे, इससे पहिले ही दूसरी उत्तेजना आजाती है। और उसे फिर सिकुड़ने की प्रेरणा करती है। तब १ सैकण्ड में ३०-४० उत्तेजनायें आती हैं, फलतः पेशी संकुचित होकर, फिर तब तक फैलने नहीं पाती, जब तक कि ऐसी तेज उत्तेजनाये आती रहें। वह फैलने को करे, इससे पहिले ही पुनः सिकुड़ जाती है। इस दशा को '*Tetanus* टिटानस' या "आयाम" कहते हैं। हमारे अधिकतर कामों मे

पेशियां थोड़ी या अधिक देर तक इसी "आयाम" के ढंग से काम करती है।

कभी-कभी पेशियां, हमारी किसी इच्छा या काबू के बिना ही खिच-खिच कर हाथ-पैरों को ऐंठने लगती हैं। वह "आयाम" की दशा "रोग" है, और आज कल "टिटानस" उस रोग को ही पुकारा जाता है। जैसे पीठ की हड्डियों के आस-पास लगी पेशियों के संकोच से, पीछे को धनुष की भांति मुड़ जाना "धनुरायाम ( धनुष्टङ्कार)" है।

(२५६) कम्पन–वाक्य २५७ और २५८ के बीच की एक और दशा होती है। जब पेशियों को उत्तेजना सैकिंड मे १० वार से तो अधिक आती है मगर २० वार से कम। उस दशा में पेशी जब सिकुड़ चुकने के बाद फैल रही होती है, उस दशा में दूसरी उत्तेजना पहुंचती है और वह, फैलती-फैलती फिर सिकुड़ने लगती है। ऐसी दशा में सिकोड़ा गया अङ्ग स्थिर न रहकर कांपने लगता है। बुढ़ापे मे या अधिक काम ले लेने से जब मस्तिष्क प्रति सैकंड २० वार से अधिक उत्तेजना भेजने मे असमर्थ होजाता है, तब यह 'कम्पन' की दशा रोग-रूप मे दिखाई देती है। इसे कम्परोग ( *Chorea* कोरिया ) अर्थात् कम्पवात कहते है।

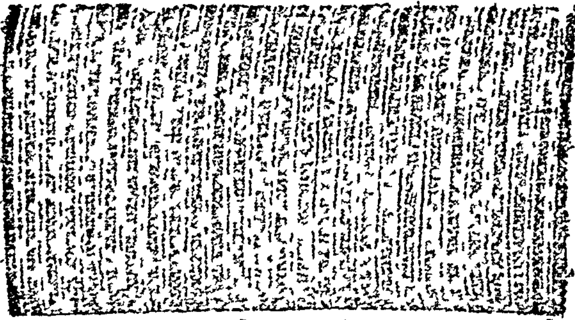
पेशियों के सिकुड़ने में क्या-क्या क्रिया और हेर-फेर होते हैं इन पर आगे दिया लेख बहुत प्रकाश डालता है।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

# पेशियों की गति-विधि

[ ले० श्री पुरुषोत्तमदेव, आयुर्वेदमहाविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी ]

(२६०) प्रत्येक पेशी छोटे-छोटे सूत्रों की बनी होती है, जैसे सूतों के मिलने से महीन या मोटी लच्छी। प्रत्येक तार एक जीवाणु (सेल *Cell*) है। यह बीच में मोटा और सिरो पर पतला होता है। इसी से इसे (*Spindle Shaped* स्पिंडल शेप्ड) या तर्क्वाकार (*Fusi form* फ्यूजी फौर्म) कहते हैं। मगर इसकी रचना और गति विचित्र है।




[ नं०१-और २ दो सूत्र है, जिनके बीच में नं० ३ और ४ इनकी संयोजक शाखाये या इन सूत्र रूपी जीवाणुओं से निकले हुए तार हैं। नं० १ और दो सूत्रो मे बीच-बीच मे जो धारियां हैं ये उनके 'खण्ड' *Segment* अलग-अलग बताती हैं। पतली रेखायें क्रौस की लाइने है और मोटी रेखा हैनसन की लाइनें तथा उनके आस-पास स्पंजियों-प्लाज्म है। ]

(२६१) अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखें तो हमारी ऐच्छिक पेशियों के प्रत्येक सूत्र पर अनेक आड़ी धारियां दिखाई देती हैं। वे धारियां असल में बारीक झिल्लियों के किनारे है, जिन झिल्लियों द्वारा उस सेल के अन्दर अनेक भाग बंटे होते हैं। इस हर भाग को पेशी-सूत्र का खंड (*Segment* सैगमेट या *Sarcomere* सार्कोमीअर) कहते हैं। डा० क्रौस (*Kraus*) ने इनका पता लगाया इससे डाक्टरी में ये सूत्र-मध्या कलाये (झिल्ली वाली रेखाये) क्रौस की रेखाये (*Kraus's line* क्रौसस लाइन) कहलाती है। हर 'सैगमेट' के ऊपर-नीचे यह रेखा उसे की सीमा बनाती है।

(२६०) इस पेशी-सूत्र-खण्ड के बीच में एक और रेखा होती है जिसे 'खण्डमध्या रेखा' (*Hensen's line* हैनसन की लाइन) कहते है। हर जीवाणु के अन्दर रहने वाले प्रोटोप्लाज्म के दो भाग होते है। एक स्पंज जैसी रचना, जिसे स्पॅंजियो प्लाज्म (*Spongio plasm*-रचना भाग) कहते हैं। दूसरा पतला रसरूपी हायोप्लाज्म (*Hyoplasm* अर्थात् द्रव भाग)। उसमे से रचना भाग (स्पंजियोप्लाज्म) इस हैनसेन-रेखा के दोनों ओर कंगूरों की भाति लगा होता है और उन कंगूरों से पतली-पतली रेखा रूपी झिल्लियां - दोनों ओर जाकर सूत्र मध्याकलाओं (क्रौस की लाइनों) से मिलती है। इस तरह हर सूत्र के अन्दर इन झिल्लियों के जाल के बीच-बीच मे -रचना भाग (स्पंजियोप्लाज्म) के कंगूरे गुथे रहते हैं।

(२६३) जब कोई उत्तेजना पाकर यह 'रचनाभाग' सिकुड़ता है, तब इसके कंगूरे ऊँचाई में घटते हैं। फलत वे चौड़ाई मे बढ़ जाते हैं इसी तरह सूत्र के हर खण्ड ( *Segment* सैगमेट ) में ऊँचाई घटती और चौड़ाई बढ़ती है फलत. तमाम सूत्र छोटा – और मोटा होजाता है।

(२६४) उत्तेजना आने पर यह सूत्र पूरा ही सिकुड़ता है वह अधूरा नही सिकुड़ सकता। परन्तु यह हो सकता है कि एक पेशी मे जितने हजार – दो हजार सूत्र हों, वे सब सिकुड़े, या उनमे से १००-२००–४०० ही सिकुड़े। जब हम किसी चीज को कमजोर या दबाव से पकड़ते है या हाथ या पैर को आहिस्ता चलाते हैं, उस समय सम्बन्धित पेशियों के थोड़े-थोड़े सूत्र ही संकोच करते हैं ( मगर वे सूत्र सिकुड़ते पूरे-पूरे ही हैं )। जब हम दृढ़ता या बल-पूर्वक कोई क्रिया करते हैं तब संबद्ध पेशियों के सारे सूत्र सिकुड़ जाते हैं। यही कम या अधिक जोर दिये जाने का रहस्य है।

(२६५) हर पेशी का ( ऊपरी ) सिरा तो अधिक या पूर्णत. स्थिर अस्थि मे लगा रहता है (इसे उस पेशी का मूल कहते है ) और दूसरा सिरा या सिरे ( नीचे ) ऐसी अस्थि से लगे रहते है जो अधिक चल सकती है (इसे पेशी की पूंछ कहते है) अत. जब पेशी सिकुड़ कर लम्बाई मे छोटी होती है तब अपने नीचे जुड़ी हड्डी को ऊपर खीच लेती है। यदि कोहनी के नीचे वाली अस्थि इस तरह खिंचे तो हाथ और पंजा ऊपर को उठेगे, यह पीछे बताया जा चुका है। ध्यान देने की बात यह है कि इस क्रिया मे हाथ की पेशी ने गति की है। स्वयं हाथ की रचना ने नहीं। अर्थात् हाथ उठाते गिराते मे हाथ को उठाने वाली (करोत्तानिनी) पेशियों के जीवन रस ( प्रोटोप्लाज्म ) में हरकतें होती हैं– खास हाथ की रचना के जीवन रस में नहीं। हाथ की रचना मे जो चर्म, चर्बी, संयोजक-तन्तु, धमनी और शिरायें, नाड़ियां और हड्डियां हैं, उन सबके जीवाणु और उनका जीवनरस, हाथ चलने के कार्य में कोई भाग नहीं लेते। अतः ये सब क्रियायें "पेशी की गतिया" ( *Muscular movement* मस्क्यूलर मूवमेट ) कहलाती है।

## चलते समय पेशी में क्या होता है ?

(२६७) पेशी के सिकुड़ते समय उसमें एक साथ पाच क्रियाएें होती हैं। एक तो उसके हर सूत्र का आकार बदलता है, जो बता आये है। दूसरे– उसकी हरारत ( तापमान ) मे घट–बढ़ होती है। तीसरे– उसकी बढ़ने और फिर पूर्वावस्था पर आने की शक्ति ( लचक ) बदलती है। चौथे– उसकी रासायनिक दशा बदलती है और पाचवे– उसमें विद्युत- प्रवाह होता अर्थात् बिजली की लहरें भी दौड़ती हैं। विविध–यन्त्रों और परीक्षणों से ये सब बातें देखी जाचुकी है और देखी जा सकती हैं। यहां उसकी कुछ आवश्यक व्याख्या की जायगी।

(२६८) पेशी का आकार- बदलना—स्वाभाविक दशा मे हर एक पेशी बहुत कुछ फैलती हुई ( लम्बी हुई ) रहती है, फिर भी उससे कुछ सिकुड़न रहती है। अर्थात् कुछ और फैल सकती है। यदि कोई रबर का टुकड़ा लें और उसके नीचे एक सेर बोझा लटका दें तो वह १ इञ्च लम्बा खिंच जाय, इसी तरह पेशियां भी भार लटकाने पर खिंच कर, और भी लम्बी हो जाती है। रबर के उसी टुकड़े से २ सेर बोझ लटकाने पर वह २ इञ्च बढ़ेगा, ३ सेर बोझ से ३ इञ्च और १० सेर बोझ से १० इञ्च बढ़

जायगा। यहां तक कि अन्त में बीच से टूट जायगा। परन्तु पेशी इस मामले में विचित्र होती है। वह ज्यों-ज्यों बढ़ती है, उसके रेशे (सूत्र) पास-पास आकर घने होते जाते हैं। अतः फिर, वह इतनी ही कम बढ़ती है, अर्थात् १ सेर भार लटकाने पर अगर १ इंच बढ़ी हो तो दूसरे सेर पर सिर्फ आध इंच और बढ़ेगी, तीसरे सेर पर उससे भी चौथाई इंच और बढ़ेगी और ८-१० वे सेर बढ़ाने पर तो नाम मात्र को ही खिंच कर रह जायगी। इसलिये उसके बीच से टूट पड़ने का भय ही नहीं रहता। जब तक कि भार अत्यन्त अधिक (८-१० मन) न कर दिया जाय।

(२६६) इसी प्रकार किसी १ इंच की रबर को अगर बार-बार या ज्यादा खींच दिया जाय तो वह सिकुड़ने पर भी, फिर १ इंच से बड़ी ही रह जाती है, यानी कुछ ढीली पड़ जाती है। परन्तु शरीर की पेशियां सजीव वस्तु हैं। वे कितनी ही बार क्यों न खिंचें या कितने ही भारी बोझ से क्यों न तने-सिकुड़ने का अवसर मिलते ही, अपनी पहली अवस्था और उसी नाप मे आरहती हैं। इसी लिये इन पेशिय. से कितना ही काम लिया जाय, ये काम से ढीली नहीं पड़तीं। भगवान् की लीला!

परन्तु यह तनाव और संकोच की शक्ति या गति, सर्दी-गर्मी से बढ़ती-घटती है। गर्मी अधिक हो तब पेशी बहुत मन्द गति से सिकुड़ती है और सर्दी अधिक हो तब, पहिले तो तेजी से सिकुड़ती है, मगर पीछे मन्द पड़ ही जाती है। यह पेशियों की संकोच और प्रसार शक्ति (*Elasticity & Extensibility*) का परिवर्त्तन है कि वह जितनी बढ़ती जाती है उतनी ही उसकी प्रसरण-शक्ति कम होती जाती है। इसी तरह जितनी सिकुड़ती जाती है उतनी ही पेशी की सिकुड़न-शक्ति कम होती जाती है।

(२७०) पेशी एक उत्तेजना पाकर सिकुड़ी ही हो और उसी बीच दूसरी उत्तेजना आजाय तो वह और भी वेग से सिकुड़ती है। इसे पेशी की अभ्यास क्रिया (*Training* ट्रेनिङ्ग) कहते हैं। ऐसी दशा में पेशी का संकोच उत्तरोत्तर बढ़कर होता जाता है। जैसे व्यायाम के अभ्यासियों की प्रगण्ड-स्थल की पेशियां। परन्तु जब बहुत बार या बहुत देर संकुचित रह-रह कर पेशी थक जाय तब वह ढीली पड़ जाती है। इसे पेशी की शिथिलता *Fatigue* फेटिग) कहते हैं। ऐसा प्रायः कम्प (*Cramp* क्रैंप) या 'आयाम' (*Tetanus* टिटानस) के बाद होता है।

परन्तु यह टिटानस क्रिया आवश्यक होती है; इसके बिना हम १ घूंट पानी भी नहीं पी सकते, क्योंकि गिलास मुख तक उठाते मे भी हाथ मिनट मे सैकड़ों बार कांपे और गिलास झुक-झुक जाय।

(२७१) हरारत—जब पेशी गति करती है तब उनमें गर्मी पैदा होती है। जब हम व्यायाम करते, दौड़ते या ऐसे परिश्रम के कार्य करते हैं जिनमे पेशी अधिक कार्य करे, तब शरीर अधिक गरम होजाता है। हम किसी विश्राम की अवस्था मे बैठे या पड़े हों उस समय भी हमारी कुछ पेशियां सिकुड़ी रहती है और कई अङ्ग चलते रहते है उनसे थोड़ी गर्मी पैदा होती रहती है। उसे विश्राम कालीन ताप (*Heat of Rest* हीट आफ रैस्ट) कहते हैं। जब हम काम करते हों तब गर्मी अधिक पैदा होती है, उसे-श्रमकालीन ताप (*Heat of Action* हीट आफ ऐक्शन) कहते हैं। यदि

पेशियों का काम कतई बन्द हो जाय और शरीर का ताप ६८।। फा० डिग्री से भी नीचे उतर जाय तो हमारा मरना सुनिश्चित हो जाय।

## ताप और शक्ति

(२७२) संसार मे एक अनादि महाशक्ति और परमतत्व "परमेश्वर" से दो धाराये चली। एक 'प्रकृति' या परम-पदार्थ दूसरा 'पुरुष' या महाशक्ति। तब से पदार्थ रूपी मुहरों को, शक्तिरूपी हाथ – उस परम-पुरुष की अभीष्ट गति से चलाते रहते हैं और यह ससार की शतरंज चलती रहती है। यह शक्ति, पदार्थों को गरम करती है तब उसे गर्मी ( *Heat* ) या ताप कहते हैं, पदार्थों को इधर से उधर हटाती है तब उसे ताकत या (*Energy* एनर्जी) कहते हैं, और जब पदार्थों को खीचती या तड़पाती है तब इसे विद्युत ( *Electricity* इलैक्ट्रिसिटी या बिजली ) कहते है। यह एक से दूसरे रूप मे भी बदलती रहती है और कई कृत्रिम उपायों से भी बदली जा सकती है। जैसे इजिन मे आग की गर्मी को, जल की भाफ बनाने में काम लेकर, उस भाफ से इंजन चलाने को ताकत पैदा कर लेते है। या जैसे बिजली की आकर्षण-शक्ति से घंटी बजाने या पंखा आदि मशीने चलाने का काम लेते है, और उसकी गर्मी से तार तपा कर रोशनी या अँगीठी का काम लिया जाता है। साथ ही उसकी तड़पाने की शक्ति से दूर-दूर तक शब्द आदि की लहरे भेजने का काम लेते हैं। ऐसे ही, हमारे शरीर में गर्मी से शक्ति पैदा हो जाती है।

(२७३) पदार्थ मात्र का यह नियम है कि वे गर्मी पाकर फैलते और सर्दी से सिकुड़ते हैं। ( *Heat oxpands and cold contracts*-- गर्मी फैलाती है और सर्दी सिकोड़ती है ) इसमें भी ठोस धातुओं की अपेक्षा तरल धातु ( जैसे पारद ) अधिक फैलता है और उसकी अपेक्षा वायव्य (गैसें) अधिक फैलती है। पेशियां जिन सूत्रों की बनी हैं उनके अन्दर स्थित पेशी रस भी गर्मी से फैलते हैं। उसमे मिश्रित गैसे और भी अधिक फैलती हैं। फलतः उन्हें स्थान देने के लिये सूत्र को बीच मे से मोटा होना पड़ता है। [ चित्र देखें ] सूत्र की रचना ऐसे तारों की है जो बढ़ नहीं सकते, अतः मोटाई बढ़ते ही लम्बाई घटती है, इससे सूत्र खिचता है और ऐसे १ या अनेक सूत्रों के खिचने से, ताकत का काम होता है। कुछ अन्य जीवाणुओं मे और भी पेचीदा तरीके है परन्तु उन सबमें ही गर्मी से शक्ति पैदा होती है।

## पेशी में रासायनिक हेर-फेर-

(२७४) और, शरीर में गर्मी कहां से आती है ? खाद्य-पदार्थों के सुलगने से। पहिले बता आये है कि शरीर मे गये हुए "मधुर-तत्व" ( खाड और मांड ) तथा 'चिकनाई' गर्मी पैदा करते है। मधुर-तत्व यकृत मे 'मधु' बन जाते हैं। वैज्ञानिक इसे ग्ल्यूकोज ( *Glucose* ) कहते हैं। अंगूरी शर्करा ( द्राक्षोज ) इससे बहुत मिलती-जुलती होती है। गन्ने की खांड ( इक्षोज ) और मांड आदि भी कुछ हेर-फेर होकर यकृत मे ग्लूकोज ही बन जाते हैं। शरीर मे जरूरत न हो तो वह ग्लूकोज, गाढ़ी मधु जैसी चाशनी ( ग्लाइकोजेन *Glycogen* ) होकर जिगर मे जमा रहती है, और शरीर मे जरूरत हो, तब पतली घुल कर रक्त में जा मिलती है। रक्त उसे अपने शरीर भ्रमण में साथ लेकर, तमाम जीवाणुओं तक पहुँचा देता है, जिनमे पेशियों के सूत्र भी शामिल होते हैं।

रक्त के कणों में 'ओषजन गैस' (*Oxygen* प्राणवायु ) भरी हुई, फेफड़ों से हृदय मे, और वहां से सब शरीर में जाती है। अत: वह भी पेशियों में हर समय पहुँचती रहती है। उस ओषजन के संयोग से ग्लूकोज़ थोड़ी-थोड़ी जलती रहती और पेशी को थोड़ी-थोड़ी शक्ति देती रहती है।

परन्तु जब हम इच्छा करते हैं (कि पैर ऊंचा उठे ) तो उस अङ्ग की पेशियों को दिमाग़ से विशेष उत्तेजना जाती है। वह नाड़ियों द्वारा पहुँचने वाली बिजली की लहर है। उस बिजली का सहारा पाकर ओषजन, ग्लूकोज़ ( खांड ) को और भी जल्द जलाती है। इससे गर्मी पैदा होती है और खांड का वह दूधिया घोल ( श्लेष्म—कफ या पेशी-पोषक रस) जल-भुन कर छाछ ( मट्ठा-तक्र ) जैसा रह जाता है। वह (*Lactic Acid* लैक्टिक एसिड) है। उधर उस गर्मी से पेशी की गैसें फूल कर, पेशी को फुला कर उससे गति या ताकत का काम करा देती हैं।

(२७५) यहां एक और उपयोगी बात भी समझ लेनी चाहिए। घोर गर्मी के दिनों में भी सुराही का पानी, बाहरी पानी की अपेक्षा ज्यादा ठंढा रहता, सबने देखा ही है। यह कैसे होता है? सुराही की मिट्टी मोटी रेतीली होती है। उसमे होकर पानी के बहुत बारीक कण बाहर निकलते रहते हैं। बाहर की गरम हवा उन्हें भाफ बनाती है। मगर जल्दी भाफ बनने के लिये, वे कण, थोड़ी सी गर्मी अन्दर के पानी से भी खींच लेते हैं। फलत. वे कण तो भाफ बन-बनकर उडते रहते हैं, मगर सुराही के अन्दर का पानी ठंढा होता जाता है।

ऐसे ही जब हमें पसीना आता है, तब बाहरी गरम वायु उसको भाफ बनाती है। उस समय हमें एक बार बड़ी बेचैनी लगती है। मगर शीघ्र ही वह गरम हुआ पसीना, शरीर के अन्दर से कुछ और गर्मी खींच कर भाफ बन जाता और उड़ जाता है। तब शरीर में एक ठंडक अनुभव होने लगती है।

इसी तरह जब दिमाग से उत्तेजना की बिजली पाकर – 'ओषजन' खांड को अधिक तेजी से सुलगाती है, उस समय पेशी रस की कुछ गर्मी भी फूली हुई गैसों मे खिंच जाती है और वे अपनी क्रिया करके – कार्बनद्विओषित रूप में, बाहर निकल जाती हैं। अब पेशी के लिये उस गई हुई गर्मी की पूर्त्ति जरूरी होती है। यद्यपि उसके आस-पास गर्मी का खेल ही हो रहा होता है, फिर भी वह उसकी निजी गर्मी तो खींचता ही है। यदि उसकी पूर्त्ति न हो — पेशी लगातार काम करती रहे और हर बार उसकी गर्मी कुछ घटती रहे – तो वह थक जाती है। इस गर्मी की पूर्त्ति, काम कर चुकने पर विश्राम-काल मे होती है। उस समय श्वासके साथ आई हुई ओषजन अधजली *Lactic Acid* लैक्टिक एसिड (तक्राम्ल) को जलाती है; उसकी गर्मी से पेशी की तो ऊष्मा पूर्ण हो ही जाती है और तक्राम्ल जलकर कार्बन द्विओषित ($CO_2$) और जल ($H_2O$) बन जाता हैं। और ये दोनों चीजें रक्त मे बह जाती हैं। कार्बन फेफड़ों द्वारा बाहर निकल जाती है और जल गुर्दों द्वारा छन कर अपने साथ रक्त के और भी क्षार एवं अम्ल लेता हुआ – मूत्र बन कर निकल जाता है। पहिले खांड जलाने और फिर लैक्टिक एसिड को भस्म करने के लिये ओषजन की भी अधिक जरूरत होती है। इसीलिये परिश्रम या व्यायाम करने के समय और कुछ बाद तक श्वास जोर से आता और निकलता है तथा थोड़ी देर बाद ही मूत्र भी आता है। उस समय इनमे से किसी भी वेग को रोकना अत्यन्त हानि करता है। व्यायाम करते

समय तो खांड जलने की गर्मी थी मगर उसके बाद ही कुछ देर तक जो गर्मी बढ़ती है, ( या कहीं से चलकर आवें और ठहर जायं तब जो गर्मी लगती है ) वह लैक्टिक एसिड जलने से ही होती है।

(२७६) यह हम जान चुके कि पेशी जितनी क्रिया करती है, और उतनी ही खांड या वसा अधिक जलाती है और उतनी ही लैक्टिक एसिड अधिक बनती है। अत परिश्रम करने वाले को काफी खांड-मांड या चिकनाई न मिले तो उसका रक्त इन तत्वों मे हीन हो जाता है और शरीर थकने लगता है। जिनके शरीर मे चर्बी ज्यादा बढ़ गई हो, वे अधिक परिश्रम करके शरीर को सुडौल पतला कर सकते हैं।

इसी प्रकार अधजली लैक्टिक एसिड जला कर गर्मी की पूर्ति कर लेने के लिये विश्राम का मौका न मिले, या ऐसे बंद कमरे मिलें जहां ओषजन-युक्त हवा काफी न आ रही हो, ( जैसे कई कारखानों की निचली मंजिलों मे या कारीगरों की तङ्ग, अंधेरी कोठरियों मे ) तो- वह लैक्टिक एसिड बहुत संचित हो जाती है। फिर रात को सोते समय या काम हो जाने के बाद, जब वह जलती है, तब वह इतनी हरारत पैदा करती है, जितनी पेशियोको आवश्यक नहीं होती। उस 'अति अधिक' गर्मी को यदि रक्त जल्द ही खींच लावे, तब तो बुखार हो आता है। और न खींच सके तो पेशी रसमे स्थित ( *Myosinogen* मायोसिनोजन) जम कर 'मायोसिन' का थक्का(*Clot* क्लौट) बन जाता है, जिससे पेशी अकड़कर कड़ी पड़ जाती है। यह थक्का बड़े उपचारों से घुलता है, और कभी न घुले तो ज्यो-ज्यों यह सड़ता है, पेशीभी क्षीण होती जाती है। यही अत्यन्त काम लेकर छोड़ देने से हो जाने वाला 'पेशी का शोप (*Atrophy* ऐट्रोफी) है।

यदि इस प्रकार अधिक कार्य शरीर की बहुत सी पेशियों को करना पडे तो उनके अकड़ जाने से मनुष्य को फ़ालिज या गठिया हो जाना या उसका मर जाना भी देखा जाता है।

## शारीरिक बिजली-

(२७७) मस्तिष्क से पेशी को उत्तेजना लाने वाली नस ( *Nerve* ) वहां से बिजली की लहर लाती है। वह पेशी के सिरे की ओर अधिक दाखिल होती है और उसे सिकोड़ती हुई पेशी की पूँछ तक दौड़ जाती है। और 'राम के बाण' की तरह अपना काम करके फिर नाड़ी द्वारा मस्तिष्क को वापिस चली जाती है। बिजली का सूक्ष्म अंश भी दिखाने वाला, ( गैल्वनोमीटर *Galvanometer* ) लगाकर, यह स्पष्ट देखा जा सकता है। पेशी को काम शुरू करने की आज्ञा आते ही गैल्वनोमीटर की सुई हिलने लगती है। प्रारम्भ मे वह पेशी के सिरे की ओर अधिक ( धन + ) होती है और पूँछ पर कम ( ऋण -), परन्तु कार्य हो चुकने के करीब मे, पेशी के सिरे पर कम (ऋण - ) बिजली होती है और पेशी की पूंछ पर अधिक ( धन + )। धनात्मक बिजली को ( *Positive* पौजीटिव ) और ऋणात्मक को ( *Negative* नैगेटिव ) कहते हैं।

## अनैच्छिक पेशियों की गति-विधि-

(२७८) दूसरी वे पेशियां रहीं जो हमारी इच्छा से नहीं सिकुड़तीं अपितु अपने-आप धीरे-धीरे सिकुडती फैलती रहती है। ये पेशियां ही फुफ्फुस की वायु-नलिकाये, हृदय की दीवारें, तथा आमाशय, आंत और बड़ी आंत की दीवारें आदि बनाती हैं (जो वाक्य २५३ मे वर्णित है)। उन्हे मस्तिष्क से सीधी उत्तेजना प्रायः नहीं आती, मगर गर्दन के पीछे-ऊपर

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

को स्थित लघु मस्तिष्क (*Cerebellum* सेरीबैलम) उन पेशियों का संचालन करता है। वहां से दो तरह की नाड़ियां आती हैं। एक तो 'पिङ्गला' नाडी (*Sympathetic* सिपेथैटिक) जिसकी लच्छियां सुषुम्ना के बायें-दाहिने पार्श्वों मे रहती बता आये हैं। दूसरी 'इड़ा' नाड़ी (*Vagus* वागस या *Pnemo-gastric* न्यूमोगैस्ट्रिक) जो मस्तिष्क से लघु मस्तिष्क मे होती हुई आती है। पिङ्गला नाड़ी इन पेशियों का काम तेज़ करती है और इड़ा नाड़ी उस गति को शांत, मगर दृढ़ बनाती है। ये दोनों ही नाड़ियां सब आंतरिक अवयवों को संभाले रहती हैं, जो आगे आवेगा; और शरीर की आवश्यकता के अनुसार ही उनकी पेशियों को तेज़ी या सुस्ती से कार्य करने की प्रेरणा करती रहती है।

(२७९) पेशी सूत्रों तक इन नाड़ियों के तार नहीं पहुंचते बल्कि सूत्रों के बाहर, पेशी में धँसते ही ये नाड़ी एक-एक जाल बनाती हैं जिसे नाड़ी-चक्र (प्लैक्सस *Plexus*) कहते हैं। फिर उस नाड़ी-चक्र मे से अनेक तार निकल कर अलग-अलग सूत्रों तक जाते है।

इसके विपरीत, सुषुम्ना नाड़ी द्वारा चलायी जाने वाली 'ऐच्छिक' (हमारी इच्छा पर चलने वाली) पेशियों में प्राय. सीधी संचालक नाड़ियों के तार हर एक सूत्र तक पहुंचते हैं। वे पेशियां प्राय. किसी न किसी अस्थि से लगी होती हैं इस कारण उन्हें अस्थिपंजरीय पेशियां (*Skeletal M.* स्केलीटल मसल्स) भी कहते हैं।

(२८०) इड़ा और पिङ्गला से चलने वाली पेशियां हमारी इच्छा के वश में नहीं और शायद बड़ी योग साधना के बाद उन पर कुछ काबू होता है। ये पेशियां शरीर के अंदरूनी भागों में रहती हैं, और प्राय' कोष्ठ या नलियां बनाये होती हैं अतः इन्हें ट्यूबूलर *Tubular* अर्थात् नलिकाकार पेशियां भी कहते हैं। ये बड़ी मन्द गति से सिकुड़ती हैं और फिर, और भी मन्द गति से फैलती हैं। इनकी भी सिकुडन के समय खांड जलती है। परन्तु उससे बनी 'लैक्टिक एसिड' के जलने को भी – इनके फैलने के समय – काफी अवसर मिल जाता है। इसीलिये ये पशियां कभी थकती नहीं और सदा काम करते रहने पर भी, कभी अकड़ती नही। हां, अगर कोई गन्दी वायु में रहें या ऐसी जगह, जहां ओपजन की कमी हो, तब उनकी इन पेशियों को पूरी गर्मी नही मिल पाती। तब इनकी निजी गर्मी अधिक खर्च होती है और उससे ये कमजोर हो जाती हैं, ऐसे व्यक्ति तनिक कार्याधिक्य से घबरा जाते हैं, और गर्मी–सर्दी की चोट भी अधिक नही सह सकते। जो लोग शारीरिक श्रम का निरादर करके दिन भर कमर झुकाये लिखते-पढ़ते रहते हैं, उनके फुफ्फुस पूरी हवा नही ले पाते। कम हवा से ओषजन कम मिलती है और उनकी सभी पेशियां उसकी कमी से कमजोर पड़ती जाती हैं। ऐसे आदमी कोई अधिक शक्ति या श्रम का काम करने लायक़ रह ही नही जाते। प्रकृति की लीला है –

"शक्कर ख़ोर को शक्कर–
और मूंजी को टक्कर।"



# पेशियों की गति-विधि-

[श्री० डा० गणपतिचन्द्र केला ]

(२८१) जब किसी प्राणी की मृत्यु होती है, तब उसका पूरा शरीर तो उसी समय निष्क्रिय हो जाता है, परन्तु अनेक अङ्गों की मांस-पेशियों मे कुछ क्षण बाद तक चेतना बनी रहती है। मेंढक जैसे कुछ ठण्डे रक्त वाले प्राणियों में तो यह भली-भांति देखा जा सकता है। एक मेढक का सिर तेज अस्त्र से काट दिया जाय, तो यद्यपि वह उसी समय मर जाता है, परन्तु उसकी पेशियों मे जान रहती है। उसके पैर की चमड़ी चीर कर हटादें और फिर पेशी मे सुई चुभावें तो वह सिकुड़ती है। उसकी नसें भी चेतन रहती हैं। जांघ पर चीर कर उसकी पेशी हटा कर उसके पीछे लगी सफेद गृध्रसी नाड़ी (*Sciatic* शायटिक नर्व ) निकाल लें और उसमे सुई चुभावे, तो उसकी शाखाएं जिन-जिन पेशियों तक गई हैं, वे सब पेशियां सिकुड़ती-फैलती हैं। ऐसी दशा कई मिनट बाद तक पाई जाती है।

परन्तु यदि उस पेशी को १२० अंश का फा० गरम जल मे डुबादें तो पेशी की चेतना फौरन नष्ट होकर वह कड़ी होजाती है। सबके शरीर की पेशियां प्राणांत के बाद क्रमशः इसी तरह की कड़ी होजाती हैं। इसे 'कालकठोरता' ( *Rigor Mortis* रिगर मौर्टिस ) कहते हैं। इसका कारण यह है कि पेशी मे जो जल का अधिकांश लिए हुए 'जीवनरस' था उसका पेशी-पय (*Muscle plasma* मसल प्लाज्म) जमकर थक्का ( *Clot* क्लौट ) बन गया। इसी से पेशी पारदर्शक नहीं रह जाती, कड़ी होजाती है और उसकी लचक ( संकोच-प्रसारण शक्ति ) भी जाती रहती है।

## जीवित और मृतक पेशियां-

| जीवित | मृतक |
| --- | --- |
| ( १ ) जीवित पेशी स्वच्छ लाल होती है। | ( १ ) मृतक पेशी मैली और धुंधली ( अपारदर्शक होजाती है। ) |
| ( २ ) वह संकोच-प्रसार करने योग्य लचकदार होती है। | ( २ ) इसकी लचक मारी जाती है और कड़ी पड़ जाती है। |
| ( ३ ) यह क्षारीय होती है। | ( ३ ) यह सारकोलेस्टिक अम्ल बन जाने से खट्टी हो जाती है। |
| ( ४ ) इसमे मायोसिनोजन नामक पेशी-रस घुली दशा में रहता है। | ( ४ ) इसमे पेशी-रस जमकर मायोसिन का थक्का बन जाता है और कुछ रस बह जाता है। |

कुछ घंटे बाद निर्जीव पेशियों की अकड़न जाती रहती और वे फिर ढीली पड़ जाती हैं, क्योंकि इनकी मायोसिन सड़कर ढीली होना शुरू होजाता है।

## पेशियों का ताक़त-

(२८३) आपने ढेंकी देखी ही होगी, जिससे धान कूटते हैं, या कुंए से पानी खींचते हैं। उसमें एक कील पर एक लकड़ी झूलती रहती है। कील के बायें और दाहिने ओर लकड़ी के दो सिरे होगये। उनमें एक सिरे पर भारी वजन होता है, मगर दूसरा सिरा पहिले की अपेक्षा बहुत लम्बा होता है। फल यह होता है कि उस भारी वज़न को भी, एक हलके से धक्के द्वारा उठा लिया जाता है। इस ढेंकी को इंगलिश मे (लिवर *Liver*) और आम तौर से 'कांटा' कहा जाता है। उसूल इसका यही है कि जिस सिरे पर हम जोर डालते हैं– वह वजन वाले सिरे से जितने गुना अधिक बड़ा होगा– उतना ही कम ताकत में भारी बोझ उठ जायगा। अगर बांये सिरे पर १० मन बोझ रखदें और वह १ फुट लम्बा हो, तथा– दाहिना सिरा १० फुट लम्बा हो, तो– उस पर १ मन बोझ डालने से ही दोनों सिरे बराबर तुल जायंगे। रेलवे स्टेशनों के कांटे इसी सिद्धांत पर बरा २ से 'बाटों' द्वारा मनों वजन तोल देते हैं। 'डांडी' मारने वाले कुंजड़े तराजू की डंडी बीच के पौवे से एक ओर को कुछ बड़ी रखते हैं और उधर ही शाक चढ़ा कर तौलते हैं। फलत: बाट १ सेरका होने पर भी सौदा १२–१४ छटांक ही आता है।

परमात्मा ने इस छोटे से शरीर में– छोटी-छोटी पेशियों से– साधारण शक्ति लगवा कर ही– भारी-भारी ताक़त के काम करा डालने के लिये– यह ढेंकी की कला, जगह-जगह दिखायी है। हर एक हड्डी को पेशियां प्राय: इसी ढङ्ग से खींचती (उठाती) हैं। यह ढेंकी भी तीन तरह की होसकती है, और शरीर में वे तीनों ढङ्ग मौजूद हैं।

(२८४) प्रथम ढङ्ग–ऊपर कह ही चुके हैं। जिसमें एक धुरी या कील के एक ओर छड़ (कांटे) का छोटा (वज़न रखे जाने वाला) सिरा हो, और दूसरी ओर (वजन उठाने को जोर लगाये जाने वाला) वड़ा सिरा हो। जहां वज़न तो थोड़ा ही उठाना हो, (२-४ छटांक) मगर ज़रा इशारे में ही बहुत ऊंचा उठा फेंकना हो, वहां भी यही ढङ्ग काम देता है। मगर तब लम्बी ओर वजन रख देते हैं और छोटी ओर से दबाते हैं। जैसे टाइप-राइटर की चाबियों में (छोटे सिरे पर लगी हुई) चाबी ज़रा दबाते ही अक्षर वाला (लंबा) सिरा–८-१० इंच दौड़ जाता है। यह बीच में 'कील' वाला ढङ्ग हुआ। कील को (*Fulcrum* फुलक्रम) कहते हैं।

(२८५) दूसरा ढङ्ग–वह होता है जहां एक आधार (कील) पर छड़ टिकादी गई, बीच में बोझा बांध दिया और दूसरे किनारे को पकड़ कर उठाया गया। इसमें बोझ से–कील की ओर का सिरा अगर २ फुट हो, और बोझ से–उठाने वाले हाथ की तरफ का भाग ८ फुट तो बोझा उठाने में चौथाई ताक़त ही लगानी होगी। इसमे 'कील' (आधार) और 'हाथ' (शक्ति) के बीच में वजन (भार) रहता है

(२८६) तीसरा ढङ्ग– वह है जिस में एक ओर कील पर छड़ टिकी हो, दूसरे सिरे पर बोझा लटका हो और छड़ को बीच मे से पकड़ कर उठाया जाय। इसमें भी–बीच वाले हाथ के स्थान से

कील वाला सिरा जितना दूर और बोझ वाला सिरा जितना निकट होगा, उतना ही जोर कम पड़ेगा। इस ढङ्ग मे वज़न और आधार के बीच मे शक्ति ( उठाने वाला हाथ ) रहता है। [ चित्र देखे ]

शरीर मे यथा स्थान ये तीनों ही ढङ्ग लगाये गये हैं और एक-एक जोड़ पर कई-कई ढङ्ग काम देते है। कही मामूली ताकत से भारी वजन उठवाया जाता है और कही ज़रा सी गति से– लम्बी-चौड़ी हरकत कराई जाती है।

(२८७) अब उस चित्र को देखें जिसमें हाथ को ऊंचे उठाने की क्रिया दिखाई है। उसमे बांह में आगे को लगी हुई द्विशिरा (दो सिरों वाली) पेशी है। और पीछे को लगी हुई त्रिशिरा ( तीन सिरो वाली ) है। ये दोनों ही कन्धे की हड्डी से चलती हैं और तमाम प्रगण्डास्थि तय करके, कोहनी के नीचे, क्रमश. अन्दरी और बाहरी अरत्नियों से आ-जुड़ती है। इस कांटे ( लिवर ) की 'कील' कोहनी पर का "जोड़" है।

हाथ जब स्वाभाविक तौर पर लटका रहता है, तब दो सिरे वाली पेशी तो फैली रहती है, परन्तु पीछे वाली "त्रिशिरा-पेशी" सिकुड़ी रहती है।

जब हाथ ऊंचा उठाने की इच्छा करते है तब द्विशिरा पेशी को उत्तेजना आती है। वह सिकुड़ती है और उसके साथ लगी 'वहिः अरत्नि' खिंचती है। यह पेशी कोहनी ( कील ) से लगभग २ इंच आगे आकर 'अरत्नि' से जुड़ी है। और इसके आगे १५-१६ इंच लंबा हाथ और पंजा है। वही 'भार' है, जो ऊपर खिंचता है। अत. इसे उठाने मे पेशी को ताकत वहुत लगानी होती है। इसीलिये यहां सैकड़ों सत्रों की वनी मोटी पेशी लगाई है। परन्तु यह पेशी २ इंच खिंचने से ही हाथ का पंजा १४ इंच ऊंचा उठ जाता है। इसी से हम हाथ को झट उठा-गिरा सकते हैं। यह 'तीसरे ढङ्ग' का कांटा हुआ, जिसमें आधार और भार के वीच में शक्ति लगाई जाती है।

(२८८) अब कुछ देर वाद हमने हाथ झुका-देना चाहा, या थक कर द्विशिरा पेशी अपने आप फैली। उस समय उत्तेजना पीछे वाली त्रिशिरा पेशी को पहुंचती है और वह सिकुड़ जाती है। उससे भी तीसरे ढङ्ग का ही कांटा चलता है। वह कोहनी से आधा इंच नीचे चल कर अंतः प्रकोष्ठास्थि के सिरे पर जुडी है, अत. उसे खींचती है। तव हाथ नीचे लटक जाता है, और उस समय हाथ का भार खुद भी नीचे को जोर मारता है अतः इसे ज्यादा जोर नहीं करना पड़ता। परन्तु उस भार के कारण यह विना प्रयास ही सिकुड़ी रहती है, इसी लिये वह सिकुड़े-सिकुड़े थक नहीं जाती और हमारा हाथ चाहे जितनी देर लटका रहा आता है। इन पेशियों का सिकुड़ कर- फूल जाना, बांह पर हाथ रख कर देख सकते है और इनकी पूंछ का तनाव, हाथ मोड़ते वक्त उसकी कोहनी पर दूसरा हाथ लगाकर टटोला जा सकता है।

## पेशियों का नाम करण–

(२८९) द्विशिरा पेशी हाथ सिकोड़ती या उठाती है इस लिये उसे 'करोत्तानिनी', या 'बाहु–सकोचनी' पेशी कहा जाता है। त्रिशिरा पेशी बांह फैलाते वक्त स्वयं सिकुड़ती है, मगर चूंकि उसके कार्य से बाह-फैल जाती है अतः उसे 'बाहु-प्रसारणी' पेशी कहा जाता है। इसी तरह यद्यपि सब पेशियां अपना-अपना काम – संकुचित होकर (सिकुड़-सिकुड़

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

कर ) ही किया करती हैं, तथा जिनके कार्य से कोई अङ्ग फैलता है "प्रसारणी" ( *Extensor* ऐक्सटेंसर मसल्स) पेशियां कही जाती हैं जैसे "ऊरुप्रसारणी"। जिनके संकोच से कोई अङ्ग सिकुड़ता है वे तो 'संकोचनी' (*Flexor* फ्लेग्जर) है ही जैसे 'पादांगुलि संकोचनी,' 'भ्रूसंकोचनी,' 'योनिसंकोचनी' या 'मलद्वार संकोचनी' पेशी। जिनके कार्य (संकोच) से कोई अङ्ग झुकता है वे "नमनी" कहलाती हैं, जैसे-"कूर्पर नमनी" पेशी। जिनके संकोच से कोई अङ्ग उठता है वे "उत्तानिनी" कही जाती हैं, जैसे– "करोत्तानिनी" पेशी। जिन पेशियों के संकोच से कोई अङ्ग अन्दर की ओर आता है वे "अन्तर्नायनी" (ऐडक्टर *Adductor* ) होती हैं जैसे "ऊरु अन्तर्नायनी"। जिनसे कोई अङ्ग बाहर की ओर – छाती की मध्य रेखा से दूर की ओर– हटता है, वे "वहिर्नायनी" या "वहिर्वाहिनी" (*Abductor* ऐब्डक्टर ) कहलाती हैं; जैसे "ऊरु वहिर्वाहिनी"। ऐसे ही नेत्र चलाने वाली पेशियों को इधर या उधर की "नेत्र–चालनी पेशी" कह देते हैं।

(२६०) इनके अलावा कई पेशियां उन-उन अङ्गों के नाम से पुकारी जाती हैं, जहां से- जहां तक वे जाती हैं। जैसे–छाती से कानों के नीचे तक जाने वाली "उर: कर्णमूलिका"। हनु से कंठ तक जाने-वाली "हनु–कंठिका" छाती और पेट के बीच की "वक्षोदरा"। विशेष नाम चित्रों में देखे।

कई पेशियां अपने सिरों या आकार के नाम से बोली जाती हैं। जैसे– त्रिकोणी-पेशी, चतुरस्रा पेशी ( चार कोने वाली ), द्विशिरा, त्रिशिरा, कृमिरूपा ( कीड़े जैसी ), कला कल्पा, ( झिल्ली जैसी पतली )।

कभी ऐसी कोई विशेषता न दीखे तो पेशी के स्थान पर ही उसका नाम रख देते हैं। जैसे कंधे के ऊपर चढ़ी रहने वाली को "अंसाच्छादनी" या "अंसच्छदा" पेशी, पेट को ढंकने वाली को "उदरच्छदा"। आदि।

(२६१) परन्तु कभी-कभी एक ही स्थान पर या एक ही आकार की अथवा एक ही कार्य कराने वाली २-४ पेशियां होती हैं। तब उनके नाम-भेद यह देख कर किये गये हैं कि उनमें कौन छोटी है, कौन बड़ी, या कौन आगे रहती है, कौन पीछे या बीच में। अथवा कौन सीधी ( सरल ) है और कौन तिरछी ( वक्र ) पडी हुई। कौन ऊपर है, कौन नीचे, आदि-आदि इन्हीं भेदों के कारण कई पेशियों के नाम काफी लम्बे-चोड़े हो जाते हैं, चाहे वह पेशी तनिक सी ही हो। उन नामों की कल्पना भी विविध विद्वानों ने कुछ भिन्न-भिन्न की हुई है। अत वे सब किसी परिशिष्ट मे ही दिये जा सकेंगे। आपके सामने जब जिसका भी नाम आये - तब उसके अर्थ पर विचार करके ही समझ सकते है कि कौन सी पेशी अभिप्रेत है।

(२६२) प्राय: यह भी रिवाज है कि पेशियों के नाम के आगे "पेशी" ( मसल *Muscle* ) शब्द नहीं लगाया जाता। यथा—

"मध्यस्था उदराच्छादनी पेशी" इतना लिखें या "उदरच्छदा मध्या" मात्र। दोनों का मतलब एक ही समझना चाहिये। "वक्रोर्ध्वनेत्र चालनी" लिखें या "नेत्रीया वक्रोर्ध्वा" अर्थ यही लेना है कि नेत्र चलाने वाली वह पेशी जो तिरछी है और ऊपर को है।

## एक कांटे पर अनेक कार्य–

(२६३ क) हम आराम से बैठे, खड़े, जाग्रत, अर्ध जाग्रत या ध्यानस्थ अवस्था में भी रहें तब तक हमारी अनेक पेशियां सिकुड़ी रह कर हमे उस दशा मे टिकाये रहती हैं। जैसे हम खाली खड़े हों उस समय भी हमारी गर्दन कड़ी रखने, धड़ को टांगों पर साधे रहने, टांगों को सीधा रखने और पाद-तल की महरावें कायम रखने के प्रयत्न मे अनेक पेशियां संकोच किये रहती हैं। उस समय यदि सिर या रीढ़ या किसी मर्मस्थल पर ऐसी चोट लग जाय कि दिमाग का काम बन्द हो जाय या बहुत गड़बड़ हो जाय, तो वे सब पेशियां ढीली छूट पड़ती हैं और हम फ़ौरन बेहोश गिर जाते हैं। सब पेशियां ढीली रहते हुए तो हम बैठ या खड़े भी नहीं हो सकते। हां, जब हमें फिर होश आने लगे – दिमाग अपना काम संभाल ले— तब फिर उससे उत्तेजनाऐं पाकर आवश्यक पेशियां सिकुड़ने लगती हैं और हम करवट बदल, बैठ या खड़े हो सकते हैं।

सिर को रीढ़ पर साधे रहने वाली पेशियां गर्दन में आगे और पीछे दोनों ओर हैं। हम जब सिर आगे को झुकाते हैं, तब आगे वाली ( ठुड्डी से जुड़ी हुई ) पेशियां सिकुड़ कर "शक्ति" लगाती हैं और खोपड़ी का पिछला भाग रूपी 'भार' ऊपर को उठता है। फलतः रीढ़ की 'कील' पर सिर आगे को खिंच जाता है।

इसके विपरीत जब सिर पीछे को ले जाते हैं, तब ठोड़ी आदि का भाग तो 'भार' होता है और रीढ़ तथा मन्या से जुड़ी हुई पिछली पेशियां 'खींचने वाली शक्ति' होती हैं। धुरी वही 'शीर्षाधार' होता है, और सिर उस पर पीछे को झूल जाता है।

इसी तरह सिर बायीं या दाहिनी ओर भी मुड़ता है। आम तौर से भी सिर की धुरी मध्य-भाग से कुछ पीछे को होती है, अतः सीधा स्थिर रहने को, उसका पिछली पेशियों द्वारा खिंचे रहना आवश्यक होता है। यदि चिंता-शोक, थकान या मूर्छा के कारण वे शिथिल पड़ जायं, तो सिर आगे को ढुलक आता ( झुक जाता ) है।

## एड़ी के जोड़ की ढेंकी–

( २६३ ख ) इस जोड़ पर तीनों ढङ्ग के कांटे काम करते हैं। (क) यदि हम अपने अंगूठे से ज़मीन दबावें या कोई छड़ दबा रखें तो उस समय जोड़ प्रथम ढङ्ग के कांटे का काम करता है। धुरी तो इसमे एड़ी का जोड है ही, "शक्ति" पार्ष्णि के पीछे लगी हुई पेशी का सिकुड़ना है और "भार" वह दबाव है जो हमारा पादांगुष्ठ–भूमि या छड़ पर डालता है। [ इसका चित्र "क" देखें। ]

( ख ) अब हम अंगूठे के बल पर पंजा उठा कर खड़े होने लगे। यह दूसरे ढङ्ग का कांटा होगया। इस में धुरी या 'आधार' (फ़ुलक्रम) पंजे का अग्रभाग हो गया और 'शक्ति' वही टांग के पीछे की पेशी का संकोच है। मगर उस से उठने वाला 'भार' अब जघास्थियों द्वारा एड़ी पर पड़ने वाला तमाम शरीर का वजन है और स्वयं एड़ी का जोड़ ही वह उठने वाला 'भार' है। अर्थात् अब शक्ति और 'आधार' के बीच में 'भार' है। [ चित्र मे 'ख' देखें ]

( ग ) और यदि हम एड़ी पर ज़ोर देकर खडे हों तथा पंजे का अग्रभाग उपर उठावें- अथवा अंगुली के पंजे पर रखा हुआ २-४ छटांक का वजन ही ऊपर उठावें, तो यह उसी जोड़ पर तीसरे ढङ्ग

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

का कांटा काम करने लगा। इसमें नं० १ की भांति पंजे पर 'भार' और एड़ी के जोड़ पर 'कील' या 'आधार' है। मगर शक्ति कील के पीछे की बजाय, कील और भार के बीच मे लगती है; अर्थात् टांग के आगे रहने वाली पेशी पंजे को ऊंचा खींचती है। (जैसे कोहनी के मोड़ने पर होता है)। [ देखिये इसके चित्र में 'ग' ]

चलते-या दौड़ते समय-ये कांटे पैर मे बड़ी शीघ्रता पूर्वक बदल-बदल कर काम करते हैं, जो तनिक ध्यान से देख कर ही भली-भांति समझ सकते हैं।

## पेशियों की संवेदना-

(२६४) कोई वस्तु गरम है या ठण्डी, मोटी या नोकीली, चिकनी या खुरदरी ये बातें तो त्वचा अनुभव करती है। परन्तु कोई वस्तु कम भारी है या अधिक, कड़ी है या नरम और लचकदार है या दृढ़ यह पेशियां बताती हैं। उस वस्तु के संघर्ष में आने पर पेशियों को कम या अधिक, जितना बल लगाना पड़े उसी से यह अंदाज़ होता है। यह संवेदना, पेशी द्वारा मस्तिष्क के पेशी-संज्ञा केन्द्र में पहुंचती है जो आगे यथावसर आवेगा।

## इच्छानुगा पेशियों की संख्या

(२६५) हमारी इच्छा के आधीन चलने वाली "इच्छानुगा या ऐच्छिक (*Voluntary* वालंटेरी) पेशियां कहलाती हैं। वे पांच आकारों की देखी जाती हैं-

१-रज्जुरूपा (डोरे जैसी *Cordlike*) लम्बी पतली,

२-तर्क्वाकारा (सूत की कुकड़ी जैसी *Spindle shaped*) बीच मे मोटी।

३-त्रिकोणी (ताड़ के पंखे जैसी *Triangular*)

४-बाणपुच्छी (*Bipennate* अनेक सिरों वाली) और-

५-चतुरस्रा (चादर जैसी *Quadrilateral*)

इनकी संख्या भी पांच सौ है :—

८२ मुखमण्डल और सिर में,
८१ ग्रीवादेश (गर्दन) में,
१११ मध्याङ्ग (धड़) में,
९८ दोनों हाथों मे, और-
१०८ दोनों पैरों में-
२० छोटी-मोटी पेशियां पुरुषों और स्त्रियों में अलग-अलग होती हैं।

५००

आयुर्वेदाचार्यों ने भी इतनी ही पेशियां बताई हैं। परन्तु आजकल शारीर में कई पेशियां अलग-अलग न मान कर एक ही मानी जाती हैं, जैसे करपृष्ठ की पेशी की ५ शाखायें। अतः हाथ-पैरों में पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अब कम पेशियां मानी जाती हैं। इसके विपरीत सिर में कई ऐसी पेशियां अलग-अलग गिनी जाती हैं जिन्हें पूर्वाचार्यों ने एक ही पेशी की शाखायें बताया है। अतः सिर में उनकी संख्या बहुत अधिक गिनी जाती है। इस प्रकार अर्वाचीन शारीर में ६ सौ पेशियां गिनी जाती हैं।

(२६६) अनैच्छिक अर्थात् हमारी इच्छा के वश में न रहने वाली पेशियां इस गिनती से बाहर हैं। वे तीन तरह की होती हैं।

१-कोषाकार (*Sphincters* स्फिंक्टर्स) जैसे हृदय, मूत्राशय, और आमाशय की पेशियां, जो कोठा बना देती हैं।

२–नलकाकार ( *Circular* सक्यूलर ) जो अपने गोल छल्ले जैसे सूत्रों द्वारा लम्बे-लम्बे नल बना देती है– जैसे–आंत, बड़ी आंत, मलाशय, और तमाम धमनी तथा शिराओं की मांस पेशियां। श्वासमार्ग, अन्ननली, कर्णनलिका इत्यादि।

३–सूत्राकार ( *Fibre* फाइबर जैसी ) पेशियां जैसी प्लीहा, स्तन, यकृत आदि अङ्गों मे रहती हैं।

इनमे से कोपाकार-पेशियां लघु-मस्तिष्क से आने वाली उत्तेजनाओं से, प्राय: नियत समय पर धीरे-धीरे फैलती हैं। हृदय, फुफ्फुस और धमनियों की सबसे शीघ्र चलती हैं। आमाशय की कभी-कभी और मूत्राशय की – जब मूत्र भर कर उत्तेजना उठे तब खिकुड़ती हैं।

नलकाकार पेशियों मे जब उनका अभीष्ट पदार्थ – आता है तब वे उत्तेजित होती हैं। जैसे आंतों में आहार या धमनियों मे रक्त। उनके (उत्तेजना पाकर) सिकुड़ने से वह रस उससे आगे के अभीतक फैले हुए भाग मे को वढ़ जाता है। तब वह भी सिकुड़ता है तथा रस या रक्त और भी आगे को बढ़ जाता है। इसी प्रकार आहार-रस, आंतों मे ऊपर-नीचे घूमता है और रक्त धमनियों से बहते हुए खोपड़ी तक की चढ़ाई कर आता है।

सूत्राकार पेशियां केवल विशेष उत्तेजना आने पर ही सिकुड़ती हैं अन्यथा उन अङ्गों की रचना बनाये हुए स्थिर रही आती हैं।

ये अनैच्छिक पेशियां शरीर मे इतनी अधिक हैं कि कहां तक गिना जाय, और फिर उनमें विकार भी अलग-अलग न होकर, प्राय: उनके एक पूरे "सैट" में ही हुआ करते हैं।

## पेशियों का विवरण

(२६७) प्रत्येक पेशी के विषय में अनेक बातें जानने योग्य होती हैं जैसे–

(क) उस पेशी का "मूल" आरम्भ कहां है ?

(ख) वह समाप्त कहां होती है। "पूँछ" कहां जुड़ी है ?

(ग) उसके संकोच से क्या कार्य होता है ?

(घ) मस्तिष्क या किस नाड़ी-जाल की कौनसी नाड़ उसे चलाती है ?

(ङ) अन्य पेशियां उसके जवाब मे क्या क्रिया करती हैं ? और–

(च) वह पेशी कहां स्थित है, उसके आस-पास कौन-कौन अङ्ग हैं। इत्यादि–

उदाहरणार्थ :—

## द्विशिरा पेशी

(क) मूल--२ हैं। लम्बासिरा अंस-पीठ के ऊपर जो उभार है वहां से चलता है और छोटा सिरा कंधे की चोंच ( अंसतुंड ) से लगा हुआ है।

(ख) उसकी पूँछ वहि.प्रकोष्ठास्थि पर कोहनी से २ इंच चल कर जुड़ी होती है।

(ग) इसके संकोच से कोहनी मुड़ कर हाथ उठता है।

(घ) गर्दन के मुहरों में पांचवे और छठे कशेरुका से आने वाली नाड़ियों के तार इसे चलाते हैं।

(ङ) जब यह पेशी सिकुड़ती है, तब वांह के पीछे की त्रिशिरा-पेशी फैलती है, और जब यह फैलती है, तब वह सिकुड़ती है।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

(च) यह बीच में मोटी और सिरों पर पतली होती है। इसके ऊपर बड़ी "उरच्छदा" और "अंस-च्छदा" रहती है, नीचे वसा ( चरबी ) रहती है। इसके पीछे एक कुहनी नमाने वाली, एक उसे उठाने वाली पेशी, और एक नाड़ी होती है।

इसी प्रकार हर पेशी पर ध्यान देकर विवरण स्वयं समझा जा सकता है। तथापि अनेकों पेशियों की प्रमुख बातें यहां दी जाती हैं :—

(२९८) कपाल के ऊपरी भाग पर "शिर-च्छदा ( *Epicranial* ऐपीक्रेनियल या *Occipito frontalis* औक्सीपीटो फ्रन्टेलिस ) पेशी छाई हुई है। यह पिछली कपालास्थि से आगे ललाटास्थि की उस मोड़ तक आती है, जहां दोनों भौंह हैं। इसके दोनों सिरे मांस-मय और बीच का भाग कंडराओं ( डोरियों ) की झिल्ली जैसा है। चहरे की नाड़ी ( येसब नाड़ियां आगे वर्णित होंगी) अर्थात् 'फेशल' नर्व की दो शाखायें इसका संचालन करती हैं। घब-राहट, भय आदि के अवसरों पर कपाल सिकोड़ना, भौंहें ऊंची उठाना और ललाट पर सिकुड़नें डालना इसी पेशी का काम है।

(२९९) आंखों में एक- "नेत्र निमीलनी" पेशी (*Orbicularis Occulii* ओर्बीक्यूलेरिस ओक्यूलाई) नेत्रगुहा के द्वार के चारों ओर लिपटी हुई हैं। दूसरी—भ्रू-संकोचनी" ( *Corrugator Supercilli* कोरुगेटर सुपरसिलिआई) हर भौंह के नीचे लगी है। इसी का एक भाग अश्रु—वाही नली के आस-पास भी लगा हुआ है। तीसरी पेशी "ऊर्ध्व दर्शिनी" ( *Superior rectus* सुपीरियर रैक्टस) आंख ऊपर को चढ़ाती है। चौथी "अधोदर्शिनी" (*Infereior R* इन्फीरियर रैक्टस ) नीचे को घुमाती है। पांचवीं "अन्तर्नेत्रचालनी" (*Internal R.* इन्टर्नल रैक्टस ) आंख का गोला अन्दर को घुमाती है। छठी—"बहिर्नेत्रचालनी" ( *External R.* ऐक्सटर्नल रैक्टस ) गोला बाहर को घुमाती है। सातवीं- "दृग्वक्रोत्तरा" (*Superior oblique* सुपीरियर ओब्लिक ) आंखें। तिरछी ऊपर को उठाने वाली है, आठवीं 'दृग्वक्रा-धरा' (*Inferior Oblique* इन्फीरियर ओब्लिक) आखें नीचे को लाने वाली तिरछी है और नवमी ( नेत्र-निमीलनी से उल्टी ) 'नेत्रोन्मीलनी' ( *S. Levator Palpebrae* सुपीरियर लीवेटर पैल्पेब्री) है। एक यही पेशी ऊपर पलकों से लगी है। शेष सब नेत्रगुहा के अन्दर से आकर, नेत्र-गोलक के अगल-बगल या ऊपर-नीचे जुड़ी हुई हैं।

इनमें छठी पेशी को 'कपाल की छठी' नाड़ी चलाती है, ७ वीं पेशी को 'कपाल की चौथी' नाड़ी चलाती है, तथा शेष सबको 'कपाल की तीसरी' नाड़ी की शाखाये चलाती हैं। इन कपाल-नाड़ियों का वर्णन आगे वात-संस्थान ( नाड़ी-मण्डल ) में आवेगा। ये १२ होती हैं और कपाल के अग्रभाग से शुरू होकर पिछले भाग तक जगह-जगह इनके १-१ जोड़े ही निकलते है। दाहिने और बायें। अतः इन्हें कपाल-नाड़ी या जोड़ा नाडी नं० १-२-३ आदि या पहली, दूसरी, दसवीं, बारहवी कपाल नाड़ी बोलते हैं।

(३००) नासिका के पास एक-एक ( बायीं-दाहिनी ओर ) 'भ्रू-नमनी' ( *Procerus* प्रोसेरस) होती है। इसे 'पिरामिडेलिस नासी' भी कहते हैं। इसके अलावा नासावनमनी ( *Depressor Septi* डिप्रैसर सैप्टी ) नाक ( झुकाने को ) होती है। नासासंकोचनी ( *Compresser Nares* कंप्रैसर नेअर्स ) नथुने सिकुड़ने को होती है। नाक फलाने

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

लंबी पतली पेशी बहि:प्रकोष्ठास्थि के गात्र से चल कर सर्वांगुलि प्रसारणी पेशी की पहली कण्डरा से मिल जाती है और उसके साथ-साथ तर्जनी तक जाती है। इसे भी वही नाड़ी चलाती है और संकुचित होने पर यह तर्जनी अँगुली पीछे को खींच कर सीधी करती और फैला देती है।

(४०६) मणिबन्ध [ कलाई *Wrist* ] की रचना बड़ी महत्वपूर्ण है। इसमें ४-४ अस्थिमणिकों की २ क़तारें रहती हैं। उन दोनों के आगे [ हथेली की ओर ] तथा पीछे एक-एक झिल्ली की पट्टी चिपकी रहती है जो प्रकोष्ठ के निचले सिरों और उन मणिकों को संभाले रखती है। इन्हें अगला या पिछला "प्रकोष्ठाधो बंधन" (*Volar* वोलर या *Dorsal* डोर्सल *Carpal Ligament* कार्पल लिगामेंट ) कहते हैं। इनके अलावा मणिकों की अर्धचन्द्राकार रैट के ऊपर 'ढोल पर खाल' की भांति एक और महत्वपूर्ण झिल्ली "कंकण-बंधन" [ *Transverse carpal Lig.* ट्रांसवर्स कार्पल लिगामेंट ] चढ़ा रहता है। इस वन्धन और अस्थियों के बीच जो पुल जैसा पोला स्थान बचा, इसमें होकर दो अंगुली-संकोचनी पेशियों की ८ कण्डरायें जाती हैं तथा बड़ी अंगुष्ठाकुंचनी की कण्डरा और मध्यप्रकोष्ठा नाड़ी गुज़रती है। बाह्य मणिबंधाकुंचनी की कंडरा इस झिल्ली में एक छेद कर के उससे गुज़रती है। अन्तप्रकोष्ठा धमनी सिरा और नाड़ियां जाती हैं तथा मध्य-प्रकोष्ठा नाड़ी की चर्म-शाखायें भी। करतल प्रसारणी और मणिबन्धाकुंचनी पेशियों का कुछ भाग, तथा अंगुलियों की अनेक नन्ही पेशियां इस 'कङ्कण-बंधन' से लगी रहती हैं। ये तीनों बंधन प्रकोष्ठप्राकरणी झिल्ली से चलते हैं। इनमें से 'कङ्कण-बन्धन' हथेली में 'करतलबंधन' से जा मिलता है। शेष दोनों पट्टियां इधर-उधर के सिरे वाले बहुकोण, फणधर आदि मणिकों से जा जुड़ते हैं।

पहिले संधिखण्ड में बता आये हैं उसके अनुसार उपरोक्त तमाम कडराओं और नाड़ियों के ऊपर एक-एक झिल्ली का खोल चढ़ा रहता है, जिसके अन्दर, वे बिना इधर-उधर के अङ्गों से घिसाव खाये, मजे में सरक सकती हैं।

(४०७) पंजे में करपृष्ठ की ओर तो कोई अलग पेशी है ही नहीं। अंगुलि-प्रसारणी पेशियों की कंडरायें ही उधर से, अंगुलियों के जोड़ सँभाले रहती हैं। हां, करतल (हथेली) की ओर १६ पेशियां हैं। ४-४ अंगुष्ठ और कनिष्ठा अँगुली की जड़ों में तथा ११ शलाकास्थियों के बीच में आगे तथा-पीछे की ओर। इन सबके ऊपर हथेली पर "करतल-बंधन" नामक झिल्ली चढ़ी होती है। इसका आकार "कंटकारी" या स्वर्णक्षीरी के पत्तों जैसा टेढ़ा-मेढ़ा होता है। बीच में अधिक मोटा और मज़बूत दंड जैसा होता है। कंकण-स्नायु से चलकर पहिले इसकी तीन शाखायें होती हैं और फिर पांच छोटी २ शाखा होकर पांचों अगुलियों की जड़ से जा लगती हैं, मगर उनमें अंगूठे वाली शाखा सबसे छोटी और पतली होती है। इसे पामर ऐपोन्यूरोसिस *Palmer Aponeurosis* कहते हैं।

(४०८) अंगूठे की ४ पेशियों में– छोटी अंगुष्ठकर्षणी (*Abductor pollicis brevis* ऐबडक्टर पोलिसिस ब्रेविस ) एक छोटी सी मोटी पेशी है जो नौकाकार और उसके निकटवर्त्ती अस्थि-मणिक तथा 'कंकणबन्धन' से चलकर अंगूठे के बड़े पोर्वे की जड़ में पीछे को जुड़ती है। इसके संकोच से

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

अंगूठा बाहर ( उंगलियों से दूर की ओर ) को खिंच कर सीधा होजाता है। इसे मध्य-प्रकोष्ठा-नाड़ी चलाती है।

दूसरी-अंगुष्ठ अन्तर्नायनी (*Opponeus pollicis* ओपोनीयस पोलिसिस ) यह भी उपरोक्त के पास से ही चलकर अंगूठे की जड़ में अन्दर की ओर आलगती है। जब यह सिकुड़ती है तो अँगूठा (अन्दर) उंगलियों के पास को मुड़ आता है। इसे भी मध्यप्रकोष्ठा चलाती है।

(४०६) तीसरी – छोटी "अँगुष्ठाकुंचनी" (*Flexor pollicis brevis* फ्लेग्जर पोलिसिस ब्रेविस ) है। यह पेशी "कंकण-बन्धन" से चलकर दो कंडरा बन जाती है। मणिबन्ध की मटर जैसी कूर्चास्थि "चणकास्थि" इन्हीं में से एक कंडरा में रहती है। ये दोनों कंडरा अँगूठे के बड़े पोर्वे में दाहिने-बायें जा लगती हैं और जब सिकुड़ती हैं तब अँगूठा मुड़ आता है। इसे मध्य-प्रकोष्ठा और अन्त-प्रकोष्ठा नाड़ियां चलाती हैं।

(४१०) अँगुष्ठमूलकर्षणी ( *Adductor poollicis* ऐडक्टर पोलिसिस )। इस पेशी के दो भाग हैं, एक तिरछा और एक आड़ा। वे एक कूर्चास्थि, तर्जनी तथा मध्यमा की शलाकास्थियों, के मूल और गात्र तथा 'कंकणबन्धन' इन तीनों स्थानों से चलकर अँगुष्ठ के बड़े ( जड़ के) पोर्वे में हथेली की ओर जा लगते हैं। इसे अन्तःप्रकोष्ठा नाड़ी चलाती है और यह अँगूठे की जड़ को हथेली की ओर खींचती है, जब कि ऊपर का पोर्वा सीधा ही तना रहे।

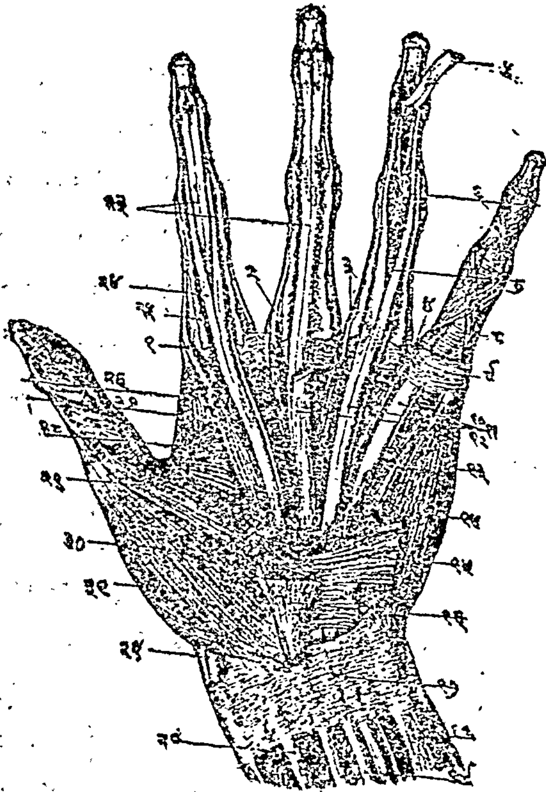
(४११) ऐसे ही कनिष्ठा अँगुली की जड़ में भी ४ पेशियां हैं। इन चारों को अंतः प्रकोष्ठा नाड़ी चलाती हैं। इनके नाम और काम हैं – करभ-संकोचनी ( *Planteris brevis* प्लांटेरिस ब्रेविस ) यह 'कंकणबन्धन' तथा 'करतल-बन्धन' से चलकर करपृष्ठ की त्वचा के निकट – कनिष्ठा की जड़ में जा लगती है और सिकुड़ने पर करपृष्ठ को सिकोड़ती अर्थात् हथेली और पंजे को फैला देती है।

दूसरी– कनिष्ठाकर्षणी ( *Abductor digiti* ऐबडक्टर डिजिटी ) यह वर्तुलक ( मटराकार ) कूर्चास्थि तथा अन्तःमणिबन्धाकुंचनी पेशी की कंडरा से चल कर कनिष्ठा के बड़े पोर्वे की जड़ से जा लगती है। इसके संकोच से कनिष्ठा बाहर को हटती है।

तीसरी-"कनिष्ठा मूलकर्षणी" (*Opponeus Digiti quinti* ओपोनीयस डिजिटी क्विंटी ) "फनधर" कूर्चास्थि और "कँकण-बन्धन" से चल कर कनिष्ठा की शलाकास्थि से अन्दर की ओर जा लगती है और सिकुड़ने पर कनिष्ठा का सिर्फ मूल और मध्यभाग मोड़ती है। चौथी–'कनिष्ठाकुंचनी' (*F. d. q. brevis* फ्लेक्ज़र डिजिटी क्विंटी ब्रेविस) भी इसी प्रकार उत्पन्न होकर कनिष्ठा के बड़े पोर्वे के मूल में लगती है, और उसे सिकोड़ने में काम देती है।

(४१२) कंडरानुगा करतलिका (*Lumbricalis* लम्ब्रीकेलिस ) – यह जौंक जैसी लम्बी पेशियां, हथेली में अग्रपर्वा अंगुलि–आकुंचनी पेशी की ४ कंडराओं से चलकर अँगलियों की जड़ के पोर्वों में आजुड़ती हैं। इनके संकोच से अंगुलियों के बड़े पोर्वे हथेली की ओर मुड़ आते हैं – चाहे ऊपरी पोर्वे सीधे ही तने रहें। अन्तः और मध्य-प्रकोष्ठा नाड़ियां इन्हें चलाती हैं।

## पंजे की पेशियां



नं० १-२-३-४ पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी कृमि जैसी पेशियां (वाक्य ३६८)।
नं० ५-७-२३ अगले पोर्वे तक आने वाली अंगुलि कर्षणी की कटी हुई कंडराएें (वाक्य ३६३);
नं० ६-१०-१६-२४ मध्यपर्व तक आने वाली अंगुलि संकोचनी की कटी हुई कंडराएें (३६१)
नं० ८-कंडरा-कोष (झिल्ली के जिस खोल में कंडरा सरकती रहती हैं)
६-२५-कंडरा-कोष का मोटा भाग (वाक्य ४०६)
नं० १३-छोटी कनिष्ठा कुंचनी (वाक्य ४११)
नं० १४-कनिष्ठा कर्षणी पेशी (वाक्य ४११)
नं० १५-कंडरानुगा करतलिका पेशी ( „ ४१२)
नं० १६-करतल सिकोड़ने वाली शलाकांतर पेशियां (वाक्य ४१३)
नं० १७-वाक्य ४०६ में वर्णित बंधन,
नं० १८-अंतः मणिबंधाकुंचनी (करसंकोचनी) पेशी (वाक्य ३६२) नं० २०-बाह्य मणिबंधा कुंचनी (करसंकोचनी) पेशी (वाक्य ३८६)
नं० २१-अंगुष्ठ-कर्षणी या अंगुष्ठ वहिर्नायनी (वाक्य ४०३)
नं० २३-२४-२५ ऊपर आचुके हैं –
नं० २६-कर-पृष्ठ की ओर वाली करभ-शलाकांतर पेशियां (वाक्य ४१४)
नं० २७-पहली कृमिवत् पेशी (वाक्य ३६८)
नं० २८-अंगुष्ठ अन्तर्वायनी पेशी (वाक्य ४०८)
नं० २६-अंगुष्ठा कुंचनी छोटी (वाक्य ४०६) और–
नं० ३०- अंकुष्ट कर्पणी (अंगुष्ठ वहिर्नायनी) छोटी (वाक्य ४०८)

(४१३) अगली शलाकांतर पेशियां (*Planter Inter-ossei* प्लान्टर इन्टर ओसियाई ) ये तर्जनी, अनामिका और कनिष्ठा अंगुलियों की शलाकारूपा करभास्थियों के गात्र से चलकर, उन-उन उंगलियों के बड़े पोर्वे के इधर-उधर जुड़ी रहती हैं। इनके संकोच से वे उंगलियां क्रमशः मध्यमा अंगुली के पास आती या उससे दूर हटती हैं। अर्थात् अंगुलियां परस्पर इकट्ठी होती या अलग फटती हैं। इन सबको अकेली अन्तःप्रकोष्ठा की शाखायें ही चलाती हैं।

(४१४) पिछली शलाकांतरा (*Dorsal Inter-ossei* डोर्सल इन्टर ओसीआई) ये ४ पेशियां करतल की पीठ की ओर हैं। इनका आरम्भ हर दो-दो मूल-शलाकाओं से होता है। फिर इनकी कंडरायें दो तो मध्यमा के बड़े पोर्वे की जड़ में—बाहर—अन्दर दोनों ओर को लगी रहती हैं। अनामिका में वह कंडरा अन्दर की ( अंगुष्ठ से उल्टी ) ओर जुड़ती है और चौथी कंडरा तर्जनी में बाहर [अंगुष्ठ] की ओर जुड़ती है। इन्हें भी अन्तःप्रकोष्ठा नाड़ी चलाती है और इनके सिकुड़ने से अँगुलियां परस्पर पास आजाती हैं।

## अधोशाखा (पैर) की पेशियां

(४१६) पूर्व वर्णित पेशियों में बड़ी "कटिलम्बिनी" और "श्रोणितटी" पेशियां जघनदेश में रहती हैं तथा "शुण्डापेशी" और श्रोणि-गवाक्षा-नितम्ब में रहती हैं। इनके अतिरिक्त ७ और भी नितम्ब में होती हैं, १५ ऊरु ( जांघ ) में, १३ जंघा (निचली टांग) में एवं १९ पैर के पंजे में। कुल इन ५४ पेशियों का वर्णन और रहा।

इन पेशियों के बीच-बीच में झिल्लियों के पर्त्त धँसे हुए हैं कमर और जांघ की सन्धि – वंक्षण— में भी ऐसी २ झिल्लयां हैं। एक बहिःवंक्षणधरा ( *S. fascia* सुपरफियल फेशिया ) तो वंक्षण की सब पेशियों के ऊपर गिलाफ़ की भांति चढ़ी हुई है।

दूसरी अन्तः वंक्षणधरा ( *fascia latae* फेशिया लाटा ) है जिसे "ऊरु-कंचुक" भी कहते हैं। वंक्षण में पीठ की ओर यह त्रिक और गुदास्थि से चलती है, बाहर की ओर जघनअस्थि के गात्र से लगी होती है। अन्दर ( जननेन्द्रिय की ओर ) नीचे "गवाक्षद्वार" के बाहरी किनारे से, "कुकुंदर पिंड" से तथा "त्रिक कुकुंदर वन्धन" से लगी होती है तथा आगे की ओर भगास्थि के ऊपरी उभार और वंक्षण बन्धन से जुड़ी रहती है।

नीचे को यह "ऊरुकंचुक" वंक्षण-संधि के चारों ओर चिपका हुआ है। वहां यह ऊरु-प्रावरणी झिल्ली से मिल जाती है। इसी का एक भाग नितंब को ढके रहता है, वह नितंब प्रावरणी ( *Gluteal fascia* ग्लुटियल फेशिया ) कहाती है। वंक्षण के बाहर की ओर एक ऊरुकंचुक कर्षणी-पेशी (*Tensor fasce latae* ) होती है जो इस कंचुक को बाहर की ओर खींचे रहती तथा जकड़े रखती है।

आगे की ओर इस झिल्ली में एक अण्डाकार छिद्र होता है जिसमें होकर "दीर्घ ऊर्ध्वगा" नामक सिरा वंक्षण के भीतर गहरे भाग में से बाहर आती है। फिर यह सिरा ऊपर को चली जाती है। उस छिद्र को "ऊरुसिराद्वार" ( *fossa ovalis* फोसा ओवेलिस ) कहते हैं।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

ऊरु से ऊपर, पीछे की ओर इस ऊरुकंचुक की दो शाखायें—पेशियों के बीच में भी धंसती हुई-पीछे ऊरुअस्थि से जा जुड़ती हैं उस संधि स्थान को "चतुर्भुजा प्राकारिका" ( *Linea Aspera* लाइनिया ऐस्पेरा ) कहते हैं।

(४१७) इस अन्तःजघनधरा या ऊरुकंचुक के अन्दर लिपटी हुई अनेक पेशियां हैं। यथा–बड़ी "नितम्बपिण्डा" ( *Gluteus maximus* ) यह मोटी पिंडी जैसी पेशी लगभग तमाम नितम्ब बनाती है। यह जघनास्थि के बाहरी गात्र के ऊपरी भाग से, त्रिक और "त्रिक-कुकुंदर" बंधन से शुरू होती है। आस-पास लगी हुई मांसधरा-झिल्ली से भी अनेक सूत्र आकर इसमें मिलते हैं। इन सब सूत्रों की यह पेशी, नीचे को चलकर दृढ़ कंडरा बन जाती है जो ऊर्वस्थि में सिरे के नीचे-पैर के पीछे की ओर जा जुड़ती है।

इस पेशी के कुछ तन्तु ऊरुकञ्चुक में भी लगे हैं, ऊरु-अस्थि के ऊपरी सिरे पर होकर इस पेशी की कंडरा जाती है उसके और अस्थि के बीच में एक रसभरी झिल्ली का खोल रहता है। यह पेशी सिकुड़ती है तब 'ऊरु नलक' को बाहर की तरफ घुमाती और पीछे को खींचती है। हम आगे को झुकें तो उसके बाद इसी पेशी की मदद से फिर सीधे (खड़े) होते हैं। उस समय यह पेशी तमाम श्रोणिचक्र को पीछे खींचती है 'ऊरु-कंचुक' द्वारा यह पेशी वंक्षण-गुहा में ऊरु-अस्थि को टिकाए रहती है, इसी से हम अपना तमाम भार दो पैरों पर रखकर खड़े हो सकते हैं। चतुष्पद पशुओं में यह पेशी कमज़ोर होने के कारण वे पिछले दो पैरों पर न खड़े रह सकते हैं न चल सकते हैं। इस पेशी को अधरा 'जघनी नाड़ियां' चलाती हैं।

(४१८) "मध्यम नितम्ब पिंडा" ( *Gluteus medius* ग्लूटियस मीडियस) यह पेशी भी ऊपर की भांति है। यह जघनास्थि की पीठ पर से और पास की वस्तिधरा झिल्ली पर से चलती है और इसके मोटे-मोटे मूल मिलकर बने हुये कंडरा 'ऊरु नलक' के बड़े सिरे पर ही जा जुड़ता है। इसे उत्तरा: "जघनी नाड़ी" चलाती है और हम बांए या दाहिने ओर को, इसकी मदद से झुकते हैं।

इन दोनों पेशियों के नीचे पंखा जैसी एक और छोटी पेशी होती है जिसका प्रारम्भ, अन्त, कार्य और नाड़ी "मध्यापेशी" की भांति ही हैं। इसे लघु नितंवपिंडा ( *Gluteus minimus* ग्लूटियस मिनिमस ) कहते हैं। इनके पास ही अन्तःगवाक्षा [ वाक्य ३६३ ) और शुण्डा पेशी ( वाक्य ३६४ ) रहती हैं। 'श्रोणीगवाक्षा' के ऊपर नीचे दो छोटी २ पेशियां रहती हैं जो "कुकुन्दरास्थि" से चलकर "ऊरु नलक" के बड़े सिरे पर अन्दर को जा लगती हैं। इन दोनों को उत्तरा और अधरा "यमला" *Gemelli* जैमली) कहते हैं। और ये दोनों पेशियां जांघ बाहर की ओर को घुमाती हैं। इन्हें कमर की ५ वीं नाड़ी और त्रिक की पहली नाड़ी चलाती है।

(४१९) "ऊरुचतुरस्रा" ( *Quadratus femoris* क्वाडरेटस् फीमोरिस ) यह पेशी छोटी चौकोर है कुकुन्दर पिंड से चलकर ऊरुनलक के ऊपरी सिरे पर आड़ी आ लगती है, इसका कार्य और नाड़ियां भी 'यमला' की ही भांति हैं।

(४२०) वहिर्गवाक्षा (*Obturator Externus* औबचूरेटर एक्सटरनस ) यह पतली और तिकोनी पेशी गवाक्ष के सामने से और उस छिद्र की झिल्ली पर से चलकर ऊरुनलक के सिरे

पर जो दरार है उसमें आलगती है। और इस तरह श्रोणि का अगला भाग ढके रहती है, यह भी जांघ को बाहर की ओर घुमाती है और इसे वंक्षण नाड़ी चलाती है।

(४२१) ऊरु देश में जो पन्द्रह पेशियां हैं। उनमें से सात आगे को तीन पीछे को और पांच अन्दर को होती हैं अग्रभाग की सात पेशियां ये हैं–

'ऊरुकंचुक कर्षणी' (*Tensor fasciae Latae* टेन्सर फेशीलाटे) यह पतली पेशी जघन–अस्थि के ऊपरी भाग और गात्र पर से चलकर ऊरुकंचुक की झिल्ली में तिर्छी लगी है। इसे उत्तरा जघनी नाड़ी चलाती है और हमारे पैर लम्बा करने पर; जब ऊरु ढीला होजाता है तब यह पेशी उसको तंग कर देती है।

(४२२) दीर्घायामा ( *Sartorius* सारटोरियस ) यह शरीर की सबसे लंबी पेशी जघनास्थि के ऊपरी शिरे और गढ़े के आधे भाग से उत्पन्न होकर तिर्छी नीचे उतरती और जांघ में अन्दर की ओर आती है और वहां से सीधी नीचे आकर घुटने से लगती है यह पेशी भी जांघ बाहर को घुमाती है और जंघास्थि ( *Tibia* टिबिया ) को पीछे की तरफ खींच कर पैर मोड़ने में मदद देती है। इसे अगली 'ऊरु-नाड़ी' चलाती है।

(४२३) अब चार ऐसी पेशियां आती हैं जो एक ही और्वी ( ऊरु की) पेशी के चार मूल मालूम पड़ते हैं। इसे *Quadriceps femoris* क्वाडरीसेप्स फिमोरिस कहते हैं। परन्तु ये इस प्रकार अलग अलग पेशियां हैं :–

ऊरुदण्डिका ( *Rectus femoris* रेक्टस्-फेमोरिस ) यह बीच में मोटी पेशी ऊरु में आगे की ओर ठीक बीचों-बीच में है यह जघन फलक के दो उभारों पर से एक-एक कंडरा रूप में प्रारम्भ होती है और दोनों मूल मिल कर, एक कण्डरा बन कर घुटने की पाली अस्थि से आ जुड़ते हैं।

"ऊरुप्रसारिणी", वाह्या, अन्तरा और मध्या (*Vastus Lateralis, Medialis intermedius* वासटस् लेटरेलिस या इन्टर मिडियस् )। ये तीन पेशियां क्रमशः -ऊरु-अस्थि के ऊपरी सिरे पर से और उन दोनों के बीच दरार पर से शुरू होती है; तथा "ऊरुपिंडा कण्डरा" से इन की कण्डरायें मिल कर घुटने की पाली-अस्थि से आ-जुड़ती हैं। ये चारों ऊरु ( जांघ ) को फैलाने वाली पेशियां हैं। इनकी कण्डरायें नीचे एक होकर ऊरुपिंडा कण्डरा ( *Q. f. Tendon* क्वाडरीस्पेस-फिमोरिस टेन्डेन) कहते हैं यह जांघ-अस्थि या-पाली नामक घुटने की टोपी से मिल जाती है और उससे भी नीचे उतर कर, पाली बन्धन ( *Ligamentum Patellae* लिगामेंटम्म पटेली ) नामक स्नायु से जा-जुड़ती है।

(४२४) जानु-कोष कर्षणी (*Articularis Genu* आर्टिकुलेरिस जेनु ) यह नन्हीं पेशी सबसे नीचे है यह ऊरुअस्थि के आगे के नीचे वाले अर्द्ध-भाग से चलकर जानु-कोष्ट ( घुटने के जोड़ को ढके रहने वाले थैली ) के ऊपर लगी रहती है और जब पैर को सीधा करते हैं तब वह थैली ढीली होने पर इस पेशी द्वारा खिंची रहती है। इसे ऊरु की अगली नाड़ी चलाती है और ये सिकुड़ती हैं तब

टांग आगे को खींच कर सीधी कर देती है। वास्तव में यह पेशी "ऊरुपिंडाकंडरा" का ही एक भाग है।

(४२६) ऊरु के अगल-बगल में जो पांच-पेशी रहती हैं उनमें सबसे ऊपर एक पतली पट्टी सी होती है इसे ऊरुअन्तः पट्टी ( *Gracilis* ग्रेसिलिस ) कहते हैं। यह भगसंधि के दाहिने या वायें पार्श्व पर से चल कर जांघ-सन्धि ( घुटने ) के पीछे होती हुई जंघास्थि ( *Tibia* टिबिया ) के ऊपरी सिरे से अन्दर की ओर आलगती है। यह पेशी सिकुड़ती है तब जंघास्थि अन्दर को घूमती है और घुटना मुड़ता है। जांघ ( ऊरु ) को मध्य रेखा की ओर लाकर दायें वायें दोनों घुटने मिलाने वाली यही पेशी है, इसे वंक्षण नाड़ी चलाती है।

(४२७) कंकतिका ( *Pectineus* पैक्टिनिअस ) यह छोटी चौकोर पेशी श्रोणिफलक से तिर्छी उतरती हुई ऊरु अस्थि के पीछे की ओर छोटे उभार के नीचे लगती है, यह ऊरु ( जांघ ) को ऊँची खींचती या अन्दर को खींच कर दोनों जांघे मिलाती हैं, इसे ऊरु की अगली नाड़ी तथा वंक्षण नाड़ी चलाती हैं।

(४२८) वड़ी, छोटी और मोटी, ऊरु-आकुंचिनी पेशियां *Adductor longus Brevis and Magnus* अडक्टर लौंगस, ब्रेविस, मैगनस, ये तिकानी हैं, मोटी हैं, और ऊपर से नीचे को चौड़ी होती हुई आती हैं ये भगास्थि से शुरू होकर ऊरु-अस्थि के गात्र में वाहर की ओर आ जुड़ती हैं, इनके संकोच से जांघ ( ऊरु ) अन्दर की ओर खिचती है, और इन्हें वंक्षण-नाड़ी चलाती हैं, इनमें मोटी ( *Magnus* मैगनस ) पेशी को गृध्रसी नाड़ी ( *Sciatic* साइटिक नर्व ) भी चलाती हैं। इस पेशी और ऊरु-अस्थि के बीच में पांच छिद्र हैं, जिनमें ऊपर के चार छिद्रों में से जांघ की गम्भीर धमनियां पीछे को जाती हैं। पांचवें बड़े छिद्र में से ऊरु की धमनी और शिरा घुटने के पीछे की ओर जाती हैं।

(४२९) ऊरु की पिछली ओर ३ पेशियां हैं एक जांघ की द्विशिरा ( *Biceps Femoris* विसेप्सफिमोरिस ) इसके दो मूल हैं। एक लम्बी कंडरा जैसा कुकुन्दर पिंड पर से आता है तथा दूसरा ऊरु-नलक के बाहरी भाग से और पेशियों के नीचे में रहने वाली झिल्लियों से। फिर ये दोनों सिरे मिल कर एक मोटी पेशी बनाते हैं, जो नीचे आकर अनुजंघास्थि ( *Fibula* फाइबूला ) के वाहरी ओर लगती है, यह पेशी निचली टांग को कुछ वाहर की ओर घुमाती या घुटने के जोड़ पर मोड़ती है। इसे गृध्रसी नाड़ी चलाती है।

(४३०) जानुकर्षणी कंडरा (*Semitendinosus* सेमीटेन्डीनोसस ) यह अधिकांश डोरी जैसी पेशी कुकुन्दर पिन्ड ( जघनास्थि ) से पैदा होकर नीचे, जंघास्थि ( टिबिया ) के ऊपरी सिरे पर अंदर लगी हुई है, और यहां से उसकी अनेक शाखाओं के सूत्र निकल कर घुटने के जोड़ का बन्धन और भी मजबूत बनाते हैं। इसे जंघा-नाड़ी चलाती है और यह भी पैर मोड़ती है परन्तु यह टांग को अन्दर ( मध्यरेखा ) की तरफ खींचती है।

(४३१) कला कल्पाजानुकर्षणी (*Semimembranosus* सेमीमेम्ब्रानोसस् ) यह पेशी भी जानुकर्षणी कंडरा की जगह से ही प्रारम्भ होती, गुजरती, और अन्त होती है। परन्तु इसका मूल मजबूत झिल्ली का बना है। इसकी पूंछें भी-घुटने के जोड़ के पीछे चारों ओर फैली होती हैं। इसे भी

जंघा नाड़ी चलाती है और यह भी घुटना मोड़ती है।

(४३२) जंघा देश में कुल १३ पेशियां हैं जो दोनों जंघास्थियां और उनके नीचे की झिल्ली द्वारा तीन भागों में वट जाती हैं। जंघा के आगे की पेशियां, पीछे की पेशियां और वाहर की ओर की पेशियां। जंघा में अन्दर की ओर कोई पेशी नहीं होती है अतः वहां जंघास्थि को ऊपर से ही त्वचा के नीचे टटोल सकते हैं। आगे की ओर की पेशियां ये हैं :–

जंघा पुरान्तर पेशी ( टिबिएलिस ऐंटीरियर) ( *Tibialis anterior* ) यह मोटी पेशी जंघा के सामने वाहर की ओर रहती है। आप टटोल सकते हैं। जंघास्थि के ऊपरी सिरे और गात्र के वाहरी भाग से पैदा होकर वह नीचे कण्डरा बन जाती है और गुल्फ ( गट्टे ) पर आगे की ओर आड़े लगे हुए दो वन्धनों के नीचे से गुजरती हैं। ये वन्धन "ऊर्ध्व गुल्फ वन्धन" और "गुल्फ स्वस्तिक वन्धन" कहलाते हैं। पैर के तले तक पहुँच कर यह "अन्तःकोणक" नामी अस्थि से और अँगूठे की शलाका अस्थि से मिल जाती है। इसे गम्भीरा जंघाग्रनाड़ी चलाती है और यह गुल्फ के जोड़ को सिकोड़ती तथा पैर की तली को अन्दर मोड़ती है।

(४३३) वड़ी पादांगुष्ठ प्रसारणी (*Extensor hallucis longus* ऐक्सटेंस हैल्यूसिस लौंगस ) यह पतली पेशी जंघापुरान्तर पेशी के नीचे रहती है, वह अनुजंघास्थि के गात्र और जंघास्थियों के बीच की झिल्ली से चलती है और उपरोक्त दोनों वन्धनों के नीचे से जाकर अंगूठे की जड़ से जुड़ जाती है यह जव खिचती है तो पैर का अँगूठा तन जाता है।

(४३४) वड़ी पादांगुल प्रसारणी-यह पेशी जंघास्थि के वाहरी उभार और अनुजंघास्थि के गात्र पर से पैदा होती है और दोनों वन्धनों के नीचे से निकल कर चार शखाओं में वँट जाती हैं। ये चारों शाखायें पैर की चार अंगुलियों के अगले और विचले पोर्वों की पीठ पर जा लगती हैं। यह पेशी सिकुड़ती है, तव अंगुलियां सीधी ( लम्वी ) हो जाती हैं तथा कुछ ऊपर को खिच जाती हैं। इसे ऐक्सटेन्सर डिजिटोरम लौंगस कहते हैं।

(४३५) पाद विवर्त्तनी तृतीया ( *Peroaeus Tertius* पैरियस टरशस ) यह भी ऊपर की ही पेशी से मिल कर आरम्भ होती है और पैर के तले में आकर छोटी अंगुली की शलाका अस्थि की जड़ से जा लगती है। इन ऊपर कहीं चारों पेशियों को "गम्भीरा जंघाग्रा नाड़ी" चलती है।

(४३६) पिंडली के पीछे जो सात पेशियां हैं उनमें ४ अन्दर की ओर, गहरे में, हैं और तीन ऊपर। ये तीनों चौपाये पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में वहुत मांसल–और शक्ति-शाली होती हैं। इसी से मनुष्य दो पैरों पर मजे में सधा हुआ–सीधा खड़ा रहता और चलता-फिरता है, परन्तु अन्य प्राणी ऐसा अधिक देर तक नहीं कर सकते। ये तीनों पेशियां क्रमशः जंघा-पिंडिका, छोटी जंघा-पिंडिका और बड़ी जंघापिंडिका हैं। वड़ी 'जंघापिंडिका' ( *Gestrocnemius* गैस्ट्रोक्नेमियस ) वह मोटी पेशी है जिससे पिंडली पीछे को भरी रहती है। यह ऊरु अस्थि के निचले सिरे के उभारों से चलती है और पिंडली के नीचले आधे-भाग में कंडरा वन कर, एड़ी की सवसे निचली हड्डी– 'पार्ष्णि'– से जा जुड़ती है। इसके संकोच से घुटने का जोड़ ढीला होता– यानी घुटना मुड़ता है–और एड़ी ऊपर को

खिंचती है– अथवा–"कांटा नं० १ की भांति—पंजा नीचे को दबता है।" कांटा नं० २ की भांति– पंजे पर ज़ोर देकर तमाम शरीर ऊपर को उचकाना भी इसी पेशी के संकोच से होता है। ( काटा नं० 'अ' 'क', 'ख', और 'ग', के चित्र देखें )।

(४३७) "छोटी जंघापिंडिका" ( *Soleus*-सोलीअस ) दोनों जंघास्थियों के ही ऊपरी सिरे तथा कुछ गात्र से शुरू होती और अधिकांश कंडरा बन कर ( उपरोक्त पेशी की कंडरा से ही मिलकर ) नीचे "पार्ष्णि" ( *Heel bone* ) से जा जुड़ती है। यह उक्त पेशी की चलने, दौड़ने, कूदने, उठने, उठाने में सहायता करती है।

(४३८) जंघापिंडिका ( *Plantaris* प्लांटेरिस ) यह ऊर्वस्थि के ( शरीर के मध्यभाग से बाहर की ओर के ) बड़े उभार से मोटी डोरी की भांति ही चलती है और पिंडली की कंडरा से मिल जाती है। यह उपरोक्त दोनों पेशियों को बल देती है। ये तीनों पेशियां जंघिका नाड़ी द्वारा चलाई जाती हैं, और इनसे बना हुआ निचला कंडरा-भाग– शरीर की सब कंडराओं से मोटा और दृढ़ होता है। इसे "पिंडि-कंडरा" (*Tendo Achillis* टेंडो ऐचिलिस ) कहते हैं।

(४३९) इन पेशियों के नीचे ( इनसे आगे की ओर )– एक "जानुपृष्ठा" ( *Popliteus* पोप्लिटीअस ) पेशी होती है। यह ऊर्वस्थि के निचले बड़े उभार से चलकर, जंघास्थि पर पीछे की ओर एक तिरछी रेखा है, वहां आलगती है। यह सिकुड़ती है तब घुटना सिकोड़ती है और जंघास्थि ( *Tibia* टिबिया ) को कुछ अन्दर की ओर घुमाती है।

(४४०) बड़ी पादांगुष्ठ-आकुंचनी ( *Flexor hallucis Longus* फ्लेग्ज़र हैल्यूसिस लोंगस ) यह दोनों जंघास्थियों और उनके बीच की झिल्ली से चलती है। आगे डोरी जैसी होकर, गट्टे पर अन्दर की ओर एक खाई है उसमें से गुज़र कर, तलवे में पहुंचती और उसे तय करके अँगूठे के छोटे (अगले) पोर्वे की जड़ में जा लगती है। इसलिये इसके संकोच से अंगूठा सिकुड़ जाता है।

(४४१) बड़ी पादांगुलि आकुंचनी ( *F. digitorum L.* फ्लेग्ज़र डिजिटोरम लोंगस ) यह पेशी जंघास्थि के गात्र पर से चलकर "पिंडि-कंडरा" के साथ गट्टे तक आती है और वहां से पूर्वोक्त खाई में होकर तलवे में उतरती है। वहां पादांगुष्ठाकुंचनी को तिरछा पार करके, यह ४ शाखाओं में बँट जाती है और पैर की चारों उँगलियों के अगले पोर्वों की, जड़ में, जालगती है। यहां छोटी पादांगुलि संकोचनी की शाखाओं को यह पेशी छेद कर निकलती है। इसके संकोच से पैर की अँगुलियां सिकुड़ती हैं। अगर इसकी २-१ शाखायें ही संकोच करें तो ये अँगुलियां बायें दाहिने ओर को हटती हैं।

(४४२) इन दोनों पेशियों के बीच में, इनसे भी आगे को ( जंघास्थियों के बीच की झिल्ली से सटी हुई ) "जंघानुगा" पेशी (*Tibialis posterior*) है। यह जंघास्थि के गात्र, अनुजंघास्थि और इनके बीच की झिल्ली पर से कई सूत्र ले-लेकर शुरू होती है। नीचे यह कण्डरा बन कर उसी खाई में से गुज़रती है और नौकाकार अस्थि से आजुड़ती है। इसकी कुछ शाखाएं आस-पास की अन्य कूर्चास्थियों से भी जुड़ी होती हैं। इस प्रकार यह पेशी

संकोच करके, पैर की तमाम तली और एड़ी को अन्दर की ओर, तथा ऊपरी ओर खींचती है। इसीसे तलुवों का मध्य-भाग की ओर का किनारा कमान जैसी खिच कर जमीन से कुछ ऊँचा उठा रहता है।

इन सब पेशियों को भी "जंघिका" नाड़ी ही चलाती है।

(४४३) बड़ी पाद विवर्त्तिनी ( *Peroneus longus* पैरोनीअस लोंगस ) यह पेशी अनुजंघास्थि के सिरे गात्र और कुछ पेशियों को ढँकने वाली झिल्ली से शुरू होकर- गट्टे तक आती है और वहां बाहर की ओर के 'मणिक' तथा 'घनास्थि' के नीचे की खाई से होकर, तलुए में पहुँचती है। वहां एकदम तिरछी तलुए को पार करके, 'अन्तःकोणक' कूर्चास्थि और "अंगूठे की शलाकास्थि" की जड़ में जा लगती है। अतः इसके सिकुड़ने से पैर का तलुवा मुड़ता तथा कुछ बाहर की ओर घूमता है।

(४४४) छोटी पादविवर्त्तिनी ( *Peroneus brevis* पैरोनिअस ब्रेविस ) यह अनुजंघास्थि के सिरे से चल कर, सीधी डोरी की भांति, बहिर्मणिक की खाई से गुजरती हुई, पैर की कनिष्ठा अंगुली की शलाकास्थि से जा जुड़ती है। यह सिकुड़ती है तब भी, पैर का पंजा कुछ बाहर की ओर घूम जाता है। इन दोनों पेशियों को "ऊपरी जंघाग्रा नाड़ी" चलाती है।

(४४५) गुल्फ-सन्धि ( गट्टे ) पर झिल्ली के ३ बन्धन उपरोक्त तमाम पेशी-कण्डराओं को सँभाले-जकड़े- रहते हैं। उनमें "ऊर्ध्वगुल्फ" तथा "स्वस्तिक बन्धन" पहिले कह आये हैं। ऊर्ध्वगुल्फ बन्धन ( *Transverse* ट्रांसवर्स *Crural ligament* क्रूरल लिगामेंट ) गुल्फ से ऊपर जंघास्थियों पर आड़ा लिपटा रहता है और वहां की तमाम पेशियां, तथा जंघाग्रा धमनी, सिरा एवं गम्भीरा नाड़ी भी इसी के नीचे होकर गुजरती हैं।

दूसरा स्वस्तिक गुल्फ बन्धन ( *Cruciate* क्रूशियेट-क्रूरल लिगामेंट ) टांग और पंजे की ऐन मोड़ पर आगे की ओर लगा हुआ है। इसके नीचे भी उपरोक्त सभी धमनी, सिरा, नाड़ी और कण्डरायें गुजरतीं तथा जकड़ी रहती हैं।

तीसरा है– अन्तः गुल्फ बन्धन (*Laciniate ligament* लेसीनियेट लिगामेंट) यह अन्तर्मणिक और "पार्ष्णि" नामक कूर्चास्थि के बीच में हड्डियों पर रहता है जिससे उनका गढ़ा ढक कर सुरंग सी बन जाती है। बड़ी पादांगुष्ठ संकोचनी और जंघानुगा की कण्डरायें इसी सुरंग में होकर जाती हैं। जंघापश्चिमा धमनी, सिरा और "जंघिका नाड़ी" भी इसी में होकर तलुवे को आती जाती हैं। कुछ बन्धन, गुल्फ ( गट्टे ) की सन्धि से बाहर भी आकर इधर-उधर अस्थियों से जुड़े रहते हैं। उनसे छोटी और बड़ी "पादविवर्त्तनी" कण्डराओं को सहारा मिलता है।

## पंजे की पेशियां

(४४६) पंजे में कुल १८ पेशियां तो नीचे तलवे की ओर हैं और केवल एक ऊपर ( पादतल-पृष्ठ ) की ओर। वह एक है– "छोटी पादांगुलि-प्रसारणी" ( *Extensor digitorum brevis* ऐक्सटेंसर डिजिटोरम ब्रेविस )। इसके ऊपर बड़ी पादांगुलि प्रसारणी की कण्डरायें ढकी हुई हैं। यह पेशी एड़ी की अस्थि "पार्ष्णि" से शुरू होती है। फिर पार्ष्णि को अन्य कूर्चास्थियों से जोड़ने वाले–

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

बाहर की ओर के — "बन्धन" से भी कुछ सूत्र लेती हुई यह पेशी पंजे के ऊपर तिरछी चल कर चार शाखा होजाती है। उनमें एक शाखा अंगूठे के पिछले (बड़े) पोर्वे की पीठ से जा लगती है और तीन शाखायें— बड़ी अंगुलिप्रसारणी की कण्डराओं से जा जुड़ती हैं। पैर की अँगुलियां (अगर सिकुड़ी हुई हों तो) इस पेशी के संकोच से, खिंच कर सीधी होजाती हैं। गम्भीरा जंघाग्रा नाड़ी इसे चलाती है।

(४४७) पंजे के निचले भाग में १८ पेशियां चार तह में बिछी हुई हैं। इन सबको नीचे आधार देने वाली और नीचे से ढके रखने वाली "पादतलिका"- झिल्ली है। इसके सफेद-सफेद रेशे, एड़ी से अँगुली तक 'खड़े' बिछे हुए हैं जिससे वह बड़ी कोमल गद्दी बन जाती है। हथेली में जैसे "करतल-बन्धन" है वैसे ही तलुवे में यह "पादतल-बन्धन" (*Planter aponeurosis* प्लांटर ऐपोन्यूरोसिस) होता है। यह "पार्ष्णि" के आंतरिक उभार से डोरी जैसा चलता है। फिर इसका मध्य-भाग पत्ते की भांति चौड़ा होकर- तलुवे भर में फैलता हुआ, पांच छोटी शाखाओं में बँट कर हर एक अंगुली और अंगूठे की जड़ से जा लगता है। इसके दाहिने-बायें किनारे वाले भाग, पंजे के आंतरिक या बाहरी किनारे पर रहकर, छोटी-छोटी पेशियों को सँभालते हैं। ये तलुवे की पीठ (पंजे के ऊपरी भाग) पर लगी हुई गहरी झिल्ली से मिल जाते हैं।

(४४८) पंजे में सबसे मोटी पेशी "पादांगुष्ठ कर्षणी" (*Abductor hallucis* ऐब्डक्टर हैल्यूसिस) है। यह पंजे में अंगूठे की ओर (अन्दर) की किनारी पर रहती है और "पार्ष्णि" के उसी ओर के उभार से चलकर अंगूठे के पिछले- बड़े- पोर्वे में अन्दर की ओर जा लगती है। इसके संकोच से पैर का अंगूठा कुछ अंगुलियों की ओर तथा नीचे को खिंचता हुआ मुड़ता है। इसे "अन्तः पादतली" नाड़ी चलाती है।

(४४९) छोटी पादांगुलि-आकुंचनी (*Flexor digitorum brevis* फ्लैगजर डिजिटोरम ब्रेविस) यह "पार्ष्णि" के अग्रभाग से शुरू होती है। इसका मोटा मध्यभाग "पादतलिका-झिल्ली" से कुछ जुड़ा होता है। आगे उसकी ४ कंडराऐं बन कर- हर अंगुली के बिचले पोर्वे से जा लगती हैं। उससे कुछ पहिले "बड़ी पादांगुलि आकुंचनी" (वाक्य ४४१) की शाखायें इन्हें छेद कर गुजरती हैं। इन शाखाओं के संकोच से अंगुलियां सिकुड़ कर नीचे को मुड़ती हैं। इसे भी अंतः पादतली नाड़ी चलाती है।

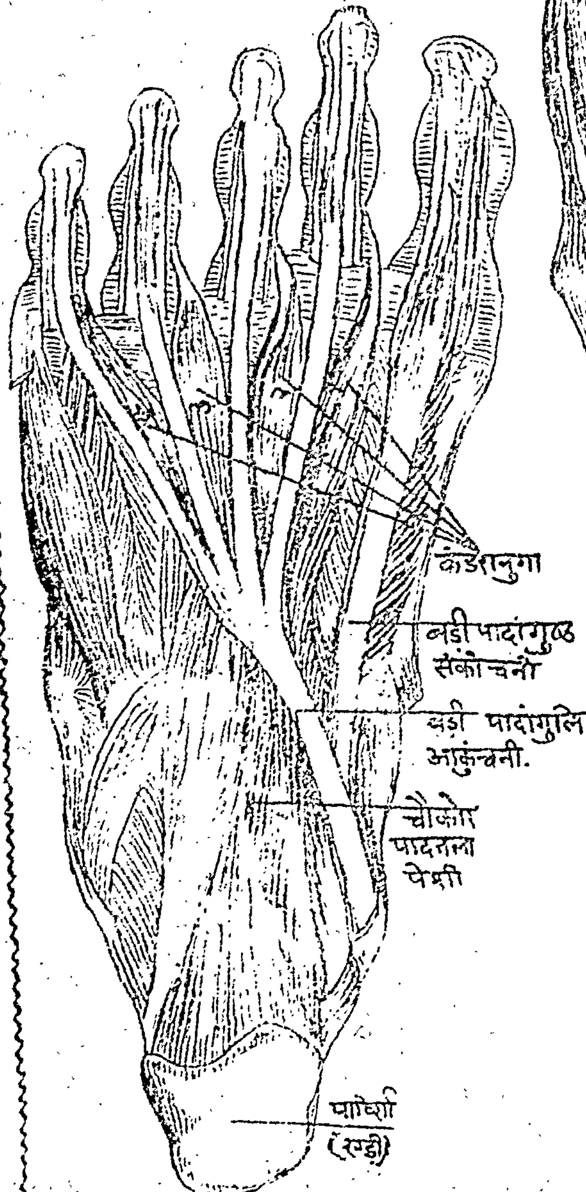
(४५०) पादकनिष्ठा-कर्षणी (*Abductor digiti quinti* ऐब्डक्टर डिजिटी क्विंटी) यह डोरी जैसी पेशी पंजे के बाहरी किनारे पर रहती है। यह "पार्ष्णि" के बाहरी किनारे से चलकर- कुछ सूत्र पादतलिका झिल्ली से भी लेते हुए छोटी अंगुली के पिछले (सबसे बड़े) पोर्वे से जा लगती है। इसे बाह्य "पादतली नाड़ी" चलाती है और इससे कनिष्ठा अंगुली सिकुड़ती है।

(४५१) दूसरी तह में एक तो "चौकोर पादतलिका" पेशी (*Quadratus plantae* क्वाड्रेटस प्लांटी) है जो "पार्ष्णि" के तले से, दो सिरों में चल कर—"पादतल बंधन"-के मध्य-भाग से जुड़ती हुई- बड़ी पादांगुलि आंकुचनी (वाक्य ४४१) की कंडरा से मिल जाती है। इसके कारण पैर की

## पाद-तल की पेशियां—

एक तह हटाने पर दूसरी तह

(वाक्य ४४८–५८)







पाद-तल (तलवे) की पेशियां

दूसरी तह भी हटा देने पर—

अंदर की तीसरी तह

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

अंगुलियां सिकुड़ते वक्त अन्दर को मुड़ने से रुक कर सीधी ही सिकुड़ती हैं। इसे भी "वाह्य पादतली नाड़ी" चलाती है।

(४५२) पाद कण्डरानुगा पेशियां (*Lumbricules* लंब्रीकेल्स) ये जौंक जैसी ४ पेशियां हैं (जैसे हाथ की अंगुलियों के चित्र में नं० १–२–३–४ थीं)। ये बड़ी पादांगुलिआकुंचनी (वाक्य ४४१) की चारों कण्डराओं से चलकर, चारों अंगुलियों के बड़े (पिछले) पोर्वे को आड़ा पार करती हैं और उन पोरुओं की पीठ पर, बड़ी पादांगुलि-प्रसारणी (वाक्य ४३४) की शाखाओं से जा लगती हैं। इसलिये ये सिकुड़ती हैं तब बड़े पोर्वे पर से तो अंगुली मुड़ती है परन्तु अगले दोनों पोर्वों को खींच कर सीधा करती हैं, अर्थात् पादांगुलियां सीधी की सीधी ही तमाम मोड़नी हों तब यह पेशी काम करती है। इसे अन्तः और वाह्य दोनों पादतली नाड़ियां चलाती हैं।

(४५३) तीसरी तह में एक तो– "छोटी पादांगुष्ठ- आकुंचनी (*Flexor hallucis brevis* फ्लेक्ज़र हैल्यूसिस ब्रेविस) है। यह पेशी घनास्थि और अन्तः कोणक कूर्चास्थि से चलकर "जंघानुगा" (वाक्य ४४२) की कंडरा से सूत्र लेती हुई सीधी अंगूठे की जड़ तक आती है। वहां दो कंडरा बनकर अंगूठे के पिछले पोर्वे की दोनों ओर आ-जुड़ती हैं। यह अंगूठा सिकोड़ती है तथा इसे 'अन्तः पादतली नाड़ी' चलाती है।

(४५५) दूसरी– पादांगुष्ठ कर्षणी (*Abductor hallucis* ऐब्डक्टर हैल्यूसिस) है। इस छोटी सी पेशी का एक तिरछा भाग, बीच वाली तीनों शलाका- अस्थियों पर से, तथा बड़ी पादविवर्त्तनी पेशी की कण्डरा के कोष (वाक्य ४४३) पर से शुरू होकर, अंगूठे के पिछले पोर्वे से, अंगुलियों की ओर, आलगती है। पेशी का दूसरा पतला भाग चारों अंगुलियों की जड़ में आड़ा लगा हुआ है। और उपरोक्त तिरछी पेशी से भी लगा है। यह पेशी अंगूठे को, पैर के पंजे के मध्य-भाग (अर्थात् अंगुलियों) की ओर खींचती है या— अंगुलियों को अंगूठे की ओर लाती है। इसे "वाह्य-पादतली" नाड़ी चलाती है।

(४५६) इसी तह में एक "छोटी कनिष्ठा-कर्षणी (*F. d. q. brevis* फ्लेक्ज़र डिजिटी क्विंटी ब्रेविस) भी होती है जो कनिष्ठा की 'शलाकास्थि' से चलकर उसी के पिछले पोर्वे की जड़ में जा-जुड़ती है। यह कनिष्ठा को सिकोड़ती है और उपरोक्त 'वाह्य पादतली' इसे चलाती है।

(४५७) चौथी तह में– सात "शलाकांतर" पेशियां (*Interossei plantares* इन्टर ओसियाई प्लांटेरस) होती हैं। ३ नीचे तथा ४ ऊपर। तले की ओर वाली तीनों पेशी, मध्यमा, चौथी और कनिष्ठा अंगुली की शलाकास्थियों के गात्रों से चल कर उन अंगुलियों की जड़ से आलगती हैं। ये अंगुलियों को अन्दर (अंगूठे) की ओर खींचती हैं। तथा 'वाह्य पादतली' नाड़ी से चलती हैं।

(४५८) ऊपरी शलाकांतर पेशियां (*Interossei dorsal* इन्टर ओसियाई डोर्सल)। ये– पांचों शलाकास्थियों के बीच के ४ अन्तरों में क्रमशः रहती हैं। हर पेशी अपने इधर-उधर की दोनों शलाकाओं से एक-एक सिरा लेती है। फिर उनकी २ कण्डरायें तर्जनी अंगुली के पिछले पोर्वे की पीठ से जा लगती हैं; तथा एक-एक मध्यमा एवं अनामिका की जड़ में अन्दर की ओर। इन पेशियों के संकोच से उंगलियां अलग-अलग होती हैं। इन चारों को भी "वाह्य पादतली पेशी" चलाती है। *

* महामहोपाध्याय कविराज श्री गणनाथ सेन जी सरस्वती के प्रख्यात 'प्रत्यक्ष–शारीर' के आधार पर।

# रक्त-संस्थान Blood ब्लड

## रुधिर की रचना, संचरण और कार्य

[ लेखक—श्री० डा० गणपतिचन्द्र केला ]

(४४६१) वाक्य ६२ ( पृष्ठ १८२ और उसके आगे पीछे ) यह आचुका है कि तमाम शरीर छोटे-बड़े अङ्ग-अवयवों का बना है, और यह अवयव भांति-भांति के जीवाणुओं से बने हैं। ये जीवाणु अपनी २ जगह पर ही रहकर काम करते रहते हैं, इसीसे यह शरीर कायम है। परन्तु हर जीवाणु को कुछ भोजन ( पोषक पदार्थ ) चाहिये, कुछ हवा चाहिये, जिसके सहारे से वह भोजन पचा सके और कुछ पानी भी चाहिये।

भोजन पाचन के बाद जीवाणु जो मल-त्याग करे उसके वहां से हटाये जाने की भी जरूरत है। इन सब लाने लेजाने के कामों को धारा--प्रवाह वहता हुआ रक्त करता है। उसके बिना जीवाणु जीवित नहीं रह सकते; यही कारण है कि रक्त "प्राणों का आधार" और शरीर का सर्वस्व है।

यह पतला प्रवाही पदार्थ है जो बड़ी छोटी नलियों द्वारा शरीर के हर हिस्से में पहुंचता है। सिर्फ तरुणास्थियां, नख, उपचर्म, और केश के अन्दर रक्त नहीं पहुंचता। शेष मांस-पेशियों के हर एक सूत्र में झिल्ली के हर एक पर्त में और हड्डियों की भी दीवार में तथा अन्दर मज्जा में रक्त बराबर फेरी लगाता है।

(४६२) यह भी आचुका है कि छाती के किले में "हृदय" रक्त को चलाते रहने वाला पम्प है, वह बड़े जोर के साथ "महाधमनी" नामक सवा इंच मोटी नली में, हर मिनट में ७०-८० बार १॥-१॥ छटांक रक्त धकेलता रहता है। उस नली से आगे शाखायें छूटती हैं, जोकि सिर को, दोनों भुजाओं को, छाती और पेट के अङ्गों को तथा दोनों पैरों को जाती हैं। ये नालियां लचकदार होती हैं, अर्थात् धौंकनी की तरह फैल और सिकुड़ सकती हैं, इसलिये इन्हें 'धमनी' कहते हैं। वाक्य २७८ में बता आये हैं कि रक्त आने पर फैल जाने; और फिर सिकुड़ कर, उसे और भी वेग के साथ आगे को धकेल देने का काम धमनी-नालियां करती हैं। इसीसे रक्त दूर-दूर के अङ्गों तक बहता और चढ़ता-उतरता चला जाता है। अन्त में रक्त जगह-जगह केश से भी ज्यादा बारीक नालियों तक पहुंचता है। उन्हें केशिका-नालियां कहते हैं। इनमें रक्त बहुत धीरे-धीरे बहता है और उसमें से बहुत पतला भाग, नलियों की दीवारों से पार छन जाता है। इस पतले भाग को लसीका या श्लेष्मा ( *Lymph* लिंफ ) कहते हैं। इसमें से शरीर के जीवाणु ऑक्सिजन वायु तथा पोषक पदार्थ ले-लेते हैं, और अपने मल इसमें त्याग देते हैं। पोषक

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

पदार्थ (*Protein* प्रोटीन, चिकनाई, मधुरांश) औक्सिजन की मदद से सुलगते (जलते) हैं, इससे उनजीवाणुओं को शक्ति मिलती हैं (जो वाक्य २७३ में बता आए हैं) और, इस औक्सीजन द्वारा कार्बन के यौगिक पदार्थ खांड आदि जलने से पैदा हुई (*Carbon dioxide* कारबोनिक एसिड गैस) भी उसी लसीका में मिल जाती है।

(४६३) अब इस लसीका में से कारबोनिक एसिड गैस (*Carbon dioxide*) फिर केशिका नलियों में चली जाती है जिससे वह रक्त कुछ काला होजाता है इसे अशुद्ध रुधिर (*Impure blood* इम्प्यौर ब्लड) कहते हैं। आगे बढ़ कर केशिकायें फिर मिलते-मिलते एक पतली नली बन जाती हैं जो आगे मोटी नलियों में मिल जाती हैं। इन्हें सिरा (*Vein* वीन) कहते हैं। ये लचकदार नहीं होती हैं, बल्कि इनके अन्दर जगह-जगह ऐसी सिलवटें पड़ी होती हैं जो किवाड़ों का काम देती हैं। उन्हें *Valve* वाल्व कहते हैं। इनके कारण सिरा में लौटता हुआ (अशुद्ध) रक्त हृदय की ओर ही चलता आता है, वापिस नहीं लौट सकता। वह वापिस लौटने लगे तो ये किवाड़ें बन्द होजाती हैं। इस प्रकार रक्त हृदय से जाकर धमनियों, केशिकाओं और फिर सिराओं में होता हुआ हृदय को ही लौट आता है। निकट के अङ्गों का चक्कर चार-पांच सेंकिंड में ही पूरा होजाता है, और हाथ या पैर के पंजों तक पहुंच कर लौटने में रक्त को २२-२३ सेकिंड लगते हैं। इसीलिये इन्जैक्शन वगैरः द्वारा रक्त में प्रवेश की हुई औषध या विष चौथाई मिनट में ही शरीर भर में पहुंच जाती है।

(४६४) रक्त में कई चीजें मिली होती हैं। सौ भाग में ८० तो पानी होता है और २० भाग अन्य पदार्थ। उनमें १० भाग कणरंजक पित्त (*Haemoglobin* हिमग्लोबिन) और १० भाग तर्पक श्लेष्मा (*Proteids* प्रोटीड्स) होता है। इन १० में भी एक भाग स्नेह (*Fat* फैट) मधु (*Carbohydrates* कारबोहाइड्रेट्स) खनिज लवण और यूरिया नामक तत्व होता है।

(४६५) परन्तु ये पदार्थ परस्पर घुले-मिले हुये दूसरे ही रूप में होते हैं। यदि रक्त को निकाल कर देखें तो उसमें तीन तरह की चीजें मिलेंगी। एक पतला रस जिसे 'रक्त-रस' (*Serum* सीरम) कहते हैं। दूसरा तन्तुजन (*Fibrinogen* फाइब्रिनोजन) एक ऐसा घुला हुआ पदार्थ जो गाढ़ा होकर जम सकता है, और तीसरे–'कण' (*Carpuscles* कौरपसकल्स) जो फिर तीन तरह के होते हैं:–

(४६६) इनमें एक कण तो अंजीर या कुचले के बीज जैसी चकतियां–चकतियां होते हैं; इनमें बहुत बारीक खोल के अन्दर पतला 'रक्तरस' (*Serum* सीरम) भरा रहता है। उस रस में भी २ पदार्थ होते हैं। स्नेह-मज्जा (*Albumin* एलब्यूमिन), और "रंजक पित्त" (*Haemoglobin* हेमोग्लोबिन)। यह रंजकपित्त बहुत महत्वपूर्ण है। यह वायु में से औक्सिजन झट सोख लेता है; और जल में उसे झट छोड़ भी देता है, अगर यह क्षण भर भी स्थिर रह जाय। हृदय से जो रक्त चलता है, उसके इन कणों में भरा हुआ "रंजक पित्त" ओषजन से भरपूर होता है, इसलिये वे कण लाल दीखते हैं और उनका नाम ही "रक्तकण" (*Bloob* के *Red corpuscles* रेड कौरपसकल्स) पड़ गया है। इनके कारण ही रक्त गहरा लाल दीखता है। वैसे रक्त कोई लाल रंग का पदार्थ नहीं है। परन्तु प्राणवायु भरे हुये रंजक-पित्त (जिसे *Oxy-Haemo-*

*globin* "औक्सी हिमोग्लोबिन" कहते हैं ) के रंग से ये कण गहरे लाल होने के कारण ही, रक्त लाल दीखता है। ऐसे रुधिर को शुद्ध रक्त या धमनी रक्त ( *Arterial blood* आर्टीरियल ब्लड ) कहते हैं, और प्रायः तमाम धमनियों में ऐसा ही रक्त बहता है।

सिराओं द्वारा लौटने वाले 'श्याम वर्ण' रक्त को "सिरा-रक्त" ( *Venous blood* वीनस ब्लड ) कहते हैं। प्रायः तमाम सिराओं में अशुद्ध रुधिर ही बहता है, अर्थात् जिसमें ओषजन कम होती है और कर्बनद्विओषिद अधिक।

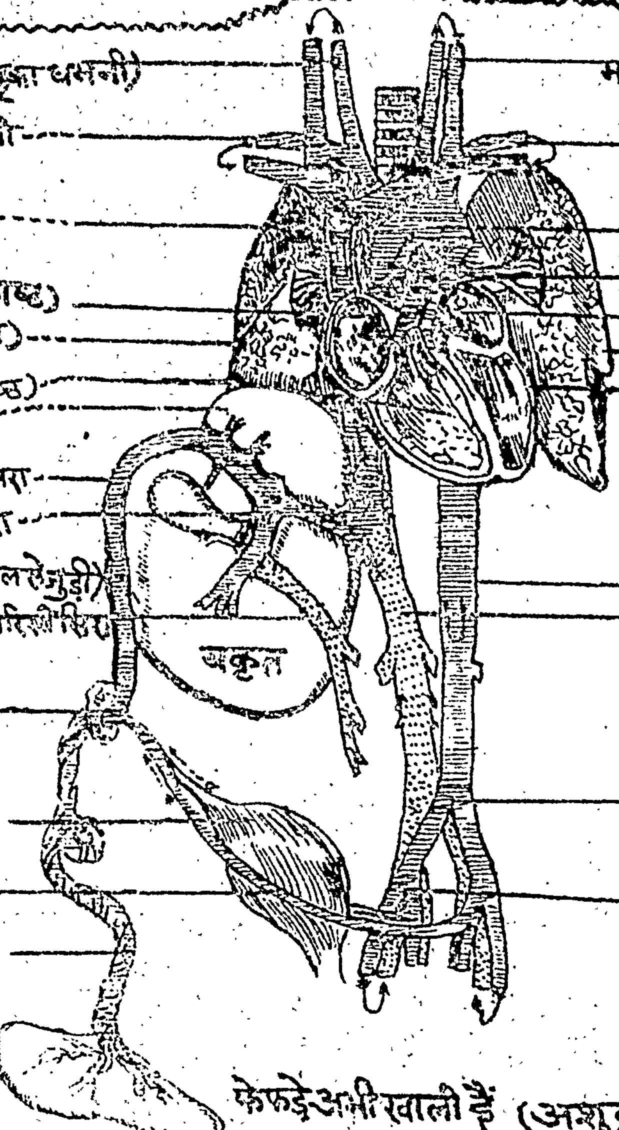
(४६७) रक्त के ये लाल कण एक इंच का बत्तीस सौवां (१का३२००वां) भाग चौड़े होते हैं और उनकी मोटाई तो इससे भी चौथाई होती है। एक सर्सों के दाने जितनी जगह(*1m.m.*)में ये रक्तकण पचास लाख आजाते हैं ( वाक्य ४७६ देखें )। रक्त की एक बूंद निकाल कर अणुवीक्षण-यन्त्र से देखें तो रुपयों की गड्डियां जिस तरह लगी हों ऐसे इन कणों की अनेकों गड्डियां बिखरी दिखाई देती हैं ये बारीक कण भी कई केशिका रगों में से एक-एक करके ही गुजर पाते हैं। इसीसे उन केशिका रगों की भी बारीकी का अन्दाज लगाया जासकता है।

वहां पहुंचकर रक्त की गति बहुत धीमी पड़ जाती है, फलतः रंजकपित्त ओषजन छोड़ देता है और वह कफ ( लसीका *Lymph* लिम्फ ) में मिलकर केशिकाओं के पार छन जाता है और वहां जो जीवाणु हों उनके आस-पास भर जाता है।

(४६८) वे जीवाणु इस लसीका में से ही अपने पोषक तत्व लेलेते हैं जो हर एक की जरूरत के अलग-अलग होते हैं। हड्डियों के जीवाणु क्षार और नमक लेते हैं। परन्तु लचकदार धमनियां बनाने वाले जीवाणु नमक से बेकार होजाते हैं, उनको मधु और चिकनाई की जरूरत होती है पेशियों के जीवाणु अपनी सिकुड़ने फैलने की गति करने के लिए ( वाक्य २७३ ) खांड और स्नेह का अंश लेते हैं; तो मस्तिष्क के जीवाणु अपनी विचार-धारा चलाने के लिए पौष्टिक तत्व ( *Protein* प्रोटीन ) अर्थात् नत्रजन ( *Nitrogen* ) वाले तत्व ग्रहण करते हैं। अंडकोष के जीवाणु वीर्य बनाने के लिए तमाम तत्वों को ही थोड़े-थोड़े रूप में ले-लेते हैं। इसी प्रकार स्त्रियों में रज ( डिम्ब *Ovum* ओवम ) या आर्तव बनाने के लिये, डिम्बाशय के जीवाणु सभी तत्वों को चाहते हैं।

गर्भ के दिनों में यही सब तत्व गर्भाशय में स्थित भ्रूण ( बच्चे ) की रचना के लिये जरूरी होते हैं। परन्तु गर्भ में प्रायः ६-७ मास तक अस्थियां नहीं बनतीं, मांसल अङ्ग बनते हैं, इस लिये गर्भिणी को मधु और स्नेह तथा पौष्टिक पदार्थ अधिक जरूरी होते हैं। छटे मास बाद गर्भ की तरुणास्थियां क्षार ले-लेकर अस्थियां बनने लगती हैं। इसलिये सब वे इस "रक्त की रेल" में से, नमक और क्षार अधिक ग्रहण करती हैं।

बालक प्रसव होते ही-यह सब सामग्री स्तनों की ओर मांगी जाने लगती है जिससे दूध बने और नव-जात बालक का पोषण हो। ज्यों २ बालक बड़ा होता है अर्थात् प्रसव होने के बाद दिन बीतते जाते हैं, त्यों २ जननी के स्तन चिकनाई अधिक ग्रहण करने लगते हैं, जिससे दूध अधिक पौष्टिक ( और गरिष्ठ ) होता जाता है।




गर्भस्थ बालक (भ्रूण) के शरीर में रक्तसंचार

फेफड़े अभी खाली हैं (अशुद्ध रक्त सिर्फ ऐसी सोतों में बहता है)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

इस प्रकार रक्त में घुले हुये पदार्थ लसीका में जाते हैं जिसमें से सब अङ्ग अपनी २ जरूरत की चीजें ले लेते हैं। साथ ही अपने-अपने संचित मल ( निरुपयोगी पदार्थ या छूंछे ) उस लसीका में छोड़ देते हैं। ओषजन से खाली हुआ रक्त-पित्त *Reduced Haemoglobin* रिड्यूस्ड हीमोग्लोबिन कहाता है।

इससे आप समझ गये होंगे कि ये लाल कण जीवाणु तक नहीं पहुंचते, केवल उनके रंजक पित्त में से ओषजन निकलकर लसीका में चला जाता है। ( ओषजन से खाली हुआ रंजक-पित्त—रिड्यूस्ड हीमोग्लोबिन *Reduced Haemoglobin* कहाता है। ) पित्त पंगु की तरह कोशिकाओं के अन्दर ही पड़ा रहता है। ( पित्तः पंगु )

(४६६) परन्तु रक्त में एक और कण होते हैं जो लसीका के साथ ही कोशिकाओं के पार रिस जाया करते हैं। वे श्वेतांग ( *Leucocytes* ल्यूकोसाइट्स ) कहलाते हैं। वे लाल कणों की अपेक्षा कुछ बड़े होते हैं, और लगभग ४०० लाल कणों के बीच में ऐसा एक श्वेतकण रहता है, जैसे किसी जुलूस में ४००–५०० आदमियों के बीच२ में पुलिस का एक-एक सिपाही रहे। उस कण का काम भी पुलिस की भांति रक्षा करना ही है। इसमें यह गुण है कि शरीर को हानि पहुंचाने वाले किसी जङ्गम विष या रोगाणु ( *Bacteria* बैक्टिरिया या *Bacilli* बेसिल्ली ) को यह श्वेतांग दौड़कर पकड़ता है। इसीलिये परमात्मा ने यह लीला रखी है कि, कोशिका की जिन दीवारों से छोटे-छोटे रक्त-कण पार नहीं जा सकते उनसे भी, यह उनकी अपेक्षा बड़े कण, पार चले जाते हैं और कफ के साथ २ हर जीवाणु के इर्द-गिर्द चक्कर लगा आते हैं। वहां किसी भी जंतु ने काटा हो या स्पर्श-दोष के कारण कोई रोगाणु पहुंच गया हो तो ये जीवाणु उसे अपने अन्दर लपेट कर नष्ट कर डालने की कोशिश करते हैं। हर क्षण में हजारों लाखों ही बार ऐसी कोशिशों में ये सफल भी होते रहते हैं जिसका हमें पता तक नहीं चलता।

## देवासुर संग्राम—

(४७०) मान लीजिये कि शरीर में पैर की पिंडली पर ततैया ने काटा तो यह खबर नाड़ियों द्वारा सुषुम्ना ( रीढ़ ) में पहुंची; वहां से फौरन पैर को खींचने की आज्ञा हुई और दिमाग को खबर भेजी गई। ( यह सब आगे नाड़ी-मण्डल के खण्ड में समझाया जायेगा। ) दिमाग में तत्काल आंखों को वह दंश-स्थान देखने की आज्ञा दी और हाथों को मदद करने की। फलतः हमने पैर की पिंडली उठाकर देखी और वहां कोई दवा वगैरः लगादी।

परन्तु इसके अलावा कहीं अधिक क्रियायें ऐसी भी होगईं जिनका हमें ध्यान नहीं हुआ था। डङ्क में जहर था। उसने जीवाणुओं को जलाना शुरू किया। यह खबर भी चुनमुनी या पीड़ा द्वारा सुषुम्ना के पास-पास लगी हुई पिंगला-नाड़ी में पहुंची; और वहां से "छोटे मस्तिष्क" को भेजी गई। बस, वहां से रक्त वाहिनियों को आज्ञाएं जारी होगईं। जिनके अनुसार पैर की पिंडली की ओर जाने वाले रक्त की तादाद बढ़ गई। अब डंक की जगह रक्त अधिक पहुंचने लगा और उसके साथ में श्वेताणु भी।

(४७१) ये श्वेताणु जहर के कणों को खाने लगे। अगर जहर तेज हुआ तो सैकड़ों श्वेताणु उससे

मर भी गये और नये-नये श्वेताणु आकर जहर के कणों को निबटाने लगे। इसी तरह जैसे तेज जहर का डंक लगा हो उतने ही अधिक श्वेताणु वहां पहुंचाने पड़ते हैं। इसलिये उधर को उतना ही अधिक रक्त जा पहुंचता है। यह रक्त की भीड़ जमा होना ही शोथ या वरम् है। अगर विष ठण्डा है तब यह वरम् कम होता है और यदि विष गरम हो तो यह वरम् अधिक, तथा जलन करने वाला होता है। तब इसे प्रदाह ( *Inflammation* इनफ्लामेशन–सोजिश ) कहते हैं।

जब काफी रक्त के श्वेताणु पहुंचकर उस जहर को मार लेते और हजम कर लेते हैं तब रक्त का जमाव हट जाता है, अर्थात् वरम् अपने आप घट जाता और जाता रहता है। इसके पहिले जबर्दस्ती वरम् घटा देने से, वह जिस जहर को मारने के लिए हुआ था वह जहर अधमरा बाकी रह जाता है। यदि वह धीरे-धीरे रक्त की सामान्य धारा से नष्ट न किया जासके तो फिर व्रण आदि उपद्रव उत्पन्न करता है।

(४७२) फोड़े में क्या होता है ? ऐसे जहरीले अणुओं को मारने के लिये रक्त के श्वेताणु कोशिश करते और स्वयं भी मरते जाते हैं। विष और श्वेताणुओं की लाशें मिलकर एक ऐसा पदार्थ बन गया जो शरीर के लिये बेकार और हानिकारक है। इसे पीप ( पीव, पूय, *Pus* पस या राध ) कहते हैं। इसे शरीर बाहर निकालना चाहता है और इस के लिये वह चमड़ी वगैरः का खोल तोड़ कर रास्ता करता है। यही फोड़े का दर्द या टीस है। रास्ता होने पर संचित पीव निकल जाता है और आगे तब तक निकलता रहता है, जब तक विष और श्वेताणुओं की वह लड़ाई खतम न हो। इसके बाद, (सब लाशें निकल चुकने पर ) रक्त के पौष्टिक तत्व उस मार्ग को स्वतः बन्द कर देते हैं। फोड़ा आराम होजाता है और खुरंट आजाता है।

यदि मलहम आदि ऐसे उपचार किये जांय जिनसे वह पीप निकलने में कुछ शीघ्रता होजाय तो श्वेताणुओं को मदद मिलती है और वे विष को शीघ्र मार देते हैं।

(४७३) इसके विपरीत यदि हमारे उपचार ऐसे हों जो विष और पीप को निकलने से रोक दें। फोड़े का मुंह बन्द करके वरम् जबर्दस्ती शान्त कर दें; तो इससे उस समय तो आराम होगया, मालूम पड़ता है परन्तु परिणाम भयंकर होता है। वह विष और पीप शरीर के अन्दर तो रह जाता ही है, जहां वह बेकार और हानिकारक है। फलतः वह धीरे २ इधर-उधर के अङ्गों पर असर करने लगता है। उनके जीवाणुओं को नष्ट करके वहां जगह जमाने लगता है। यदि उसके चक्कर में कोई नाड़ी आजाय तो वहां दर्द या शून्यता ( सुन्न हो जाने ) की शिकायत खड़ी होजाती है। यदि वह विकार किसी मांस पेशी के सहारे-सहारे बढ़ता जाय तो वहां नासूर होजाता है, और ये सभी चीजें दुःखदाई हैं। क्योंकि तब अक्सर ऑपरेशन या अङ्ग-भङ्ग तक की नौबत आ सकती है।

## विष की अन्तर्गति का असर–

(४७४) परन्तु अगर वह विष, ये विकार न कर पावे तो भी शमन न होने पर अन्य गुरु-तर उपद्रव कर देता है। धीरे २ वह केशिकाओं के अन्दर प्रविष्ट होकर रक्त तक जा पहुंचता है, और फिर रक्त के साथ तमाम शरीर का दौरा लगाने लगता है। उसमें जहां कहीं भी कोई कमजोर जगह

( मर्मस्थल, *Vulnerable Point* बलनरेबल पौइंट ) उसे मिल जाता है वहीं वह रोगोत्पादक विष, अपना अड्डा जमा लेता और विकार उपजाता है। अधिकतर यकृत, तिल्ली या मस्तिष्क के सूक्ष्म जीवाणुओं को यह आफ़त भोगनी पड़ती है। और नाना भांति के शूल या सुन्नता के विकार पैदा हो जाते हैं। इससे दृष्टि-विकार, वहिरापन, कण्ठशोथ आदि भी हो सकते हैं। परन्तु यह दशा प्रायः महीनों और वर्षों तक उस विष के भीतर ही भीतर काम कर चुकने पर ही प्रकट होती हैं। तब तक वह फोड़ा आदि दवाये जाने की घटना, हमारे ध्यान से भी उतर चुकती है; और हमें उस असली कारण का ख्याल तक नहीं रहता। होमियोपैथी में तो इसी कारण यह नियम रखा गया है कि फोड़ा फुंसी या खाज़ द्वारा शरीर से कोई ज़हर निकल रहा हो, तो उसे ऊपरी उपचारों से रोका नहीं जाता, बल्कि ऐसी दवाइयां दी जाती हैं जिनसे वह विष शीघ्र निकल कर साफ़ होजाय।

आयुर्वेदिक-चिकित्सा में भी यही ध्यान रख कर पहिले "शोधन" और फिर "रोपण" चिकित्सा बताई गई है, जिससे प्रत्येक रोग या विष के विकार को शमन करते हुए श्वेताणुओं के मार्ग में, इलाज से मदद तो मिले परन्तु बाधा न पड़े।

(४७५) परन्तु मनुष्य की भूलों के सुधार का थोड़ा सा प्रबंध शरीर के अन्दर स्वयं मौजूद है। साधारण छोटे-मोटे अनेकों विष या विकार जो शरीर में प्रतिक्षण प्रवेश पाते रहते हैं उनको निबटाने का तो अन्दर ही काफी प्रबन्ध है। उसे विस्तार से तो आगे समझाया जायेगा। यहां इतना ही कहेंगे कि सिराओं के अलावा एक और नलियों का जाल भी है जो अङ्ग २ से केवल लसीका लेकर हृदय तक पहुंचाता है। ये नलियां हर जीवाणु के पास से चलती हैं और जुड़-जुड़ कर मोटी नाली होजाती हैं। ये वह लसीका सोख कर लाती हैं जो केशिकाओं से रिस कर जीवाणुओं के पास भर गया था और जिसमें उनके मल भी आ मिले थे। ये नलियां रसायनी (रस या लसीका वाहिनी) कहलाती हैं इंगलिश में लसीका को *Lymph* कहते हैं अतः नलियों को *Lymph ducts* लिंफडक्ट्स कहते हैं। या संक्षेप में *Lymphatics* लिमफेटिक्स भी।

ये ज्यों-ज्यों हाथ-पैर या अङ्गों से हृदय की ओर आती हैं; त्यों-त्यों इनके मार्ग में गुंजा या निम्ब-फल जैसी अनेक गांठें पड़ती हैं। जांघ और बदन में गांठें और भी बड़ी होती हैं। इन गांठों में लसीका ( श्लेष्मा ) में से जीवाणुओं के मल या रोग और विषों के विकारी कण छांट-छांट कर उन्हें परस्पर ऐसा मिला दिया जाता है कि वे शरीर को अधिक हानिकारक न रहें और तब वह श्लेष्मा आगे यकृत ( जिगर ) में होता हुआ या सीधा ही महासिरा के अशुद्ध रक्त में फिर जा मिलता है और भिन्न २ अङ्गों में यथा-क्रम शुद्ध होता है।

(४७६) जब कोई तेज जानवर काट खाय या प्लेग जैसे विषैले रोग का आक्रमण हो, तब लसीका नलियों के मार्ग में जो गिल्टियां पड़ती हैं, उन्हें बहुत अधिक काम करना पड़ता है। शरीर का यह नियम है कि जिन अङ्गों का काम बढ़ जाय वे अङ्ग भी कुछ बढ़ जाते हैं। इसलिये प्लेग आदि में जांघ, बग़ल या कानों के नीचे की गिल्टियां बढ़ जाती हैं—सूज जाती हैं।

उस समय उनमें आकर शुद्ध होने वाले जहर की गर्मी से, वे गिल्टियां गरम भी होती हैं। परन्तु उनका उपचार विष नाशक उपाय करना है। जबर्दस्ती उनकी गर्मी कम करके या चीर कर उनके कार्य में बाधा डालना समुचित नहीं।

## रक्त की ख़ास बातें-

(४७७) रक्त कुछ चिकनाई दार तरल होता है जो वज़न में पानी से १६ वां भाग अधिक होता है जिस पात्र में पानी १००० तोले आवेगा उसमें रक्त १०५५ तोले। अतः रक्त का गुरुत्व ( *Specific gravity* स्पेसीफिक ग्रेविटी) १.०५५ है। उस की गन्ध एक विशेष तरह की होती है और गर्मी लगभग १०० अंश (*F.* फौरनहीट)। इसका स्वाद कुछ खारा होता है और वह खटास मारने वाला होना ही चाहिये। यदि अधिक चिन्ता करें, बैठे रहें या मादक द्रव्य सेवन करें तो रक्त में खटास बढ़ती हैं। कपट से भी रक्त में खटाई बढ़ जाती है। साधारणतः रक्त के १००० भाग में ३२ शतांश भाग खटाई होती है और यह तनिक बढ़कर चौंतीस शतांश भाग होजाय तभी शरीर में निन्द्रा, तन्द्रा जाड्य ( जकड़न ) और आलस छा जाता है। साहस गिर जाता है और किसी काम को उत्साह नहीं होता। इसके ऊपर अम्लता बढ़े तब तो मौत ही समझनी चाहिये।

(४७८) रक्त में अम्लता घटाने के लिये एक तो क्षार पदार्थ ( पापड़ा खार आदि ) भोजन में थोड़े से अवश्य रखने चाहिये। दूसरे कुछ व्यायाम या परिश्रम नित्य नियमित रूप से करते रहें। तीसरे चित्त की वृत्ति ऐसी सादा और क्रिया-शील रखें कि चाहे अपने, या पराये कामों में, दिन भर ध्यान बटा रहे और अधिक चिन्ता-शोक, कपट और द्वेष के लिए अवसर ही न बचे।

(४७९) तन्दुरुस्त व्यक्ति के सरसों बराबर स्थान में जितना रक्त आवे, उतने में (१ घन मिलीमीटर में) ५० लाख लाल कण होते हैं ( वाक्य ४६७ )। स्त्रियों में ये ४५-४६ लाख होते हैं। गर्मियों के दिनों में, कारखानों या बन्द कमरों की मजदूरी में और पांडुरोग में ये 'लाल कण' घट जाते हैं, या उनमें रहने वाला रंजक-पित्त घट जाता है। इससे वे उतने लाल नहीं रहते अर्थात् उतनी ओषजन ( प्राणवायु ) नहीं ले पाते, इससे तमाम शरीर का पोषण और बल घट जाता है।

लौह ( *Iron* आइरन, फौलाद ) के प्रयोगों से, रक्त के लाल कणों की ताक़त और तादाद भली-भांति बढ़ जाती है, और स्वच्छ वायु में गहरी सांसे लेने, (*Deep-breathing* डीप ब्रीदिंग ) से रक्त-कण प्रबल होते हैं। शीत-ऋतु या पृथ्वी के शीत कटिबन्ध वाले ठण्डे देशों में तथा पहाड़ी स्थानों में रहने से रक्त के लाल कण खूब बढ़कर मनुष्य को गुलाबी बना देते हैं। नये-नये रक्त-कण, अस्थियों के पोले भाग में जो मज्जा ( *Bone-marrow* बोनमैरो ) रहती है, उसमें बना करते हैं।

(४८०) रक्त के श्वेत-कण ( *Leucocytes* ल्यूकोसाइटस् ) सरसों जितने रक्त में आठ हजार से १२००० तक होते हैं। रोगों का आक्रमण अधिक हुआ करता हो उस शरीर में ये पुलिसमैन भी अधिक होते हैं। सदा स्वस्थ रहने वालों में इनका औसत ५००० भी रह जाय तो कोई हर्ज नहीं।

परन्तु क्षय ( *Phthisis* थाइसिस *T. B.* ) और मोतीझाला ( *Typhoid* टाइफाइड ) ये दोनों रोग विकट हैं। इनमें शरीर के अन्दर विकार तो पैदा होता है, परन्तु उसे शमन करने के लिए श्वेताणु नहीं बढ़ते, बल्कि और घट जाते हैं। यही इन रोगों की घातकता का प्रबल कारण है। सन्देह की दशा में रोगी के रक्त की परीक्षा करके उसमें श्वेताणुओं का औसत गिन कर, इन रोगों का निदान किया जाता है।

ये सफ़ेद कण रक्त के अन्दर रहने वाली नत्रजनीय पौष्टिक चीज़ों ( प्रोटिनों ) से बनते हैं, और प्राय: तिल्ली में पैदा होते हैं। मैलेरिया आदि के रोगाणु मारते रहने के लिए इनकी अधिक जरूरत पड़ती है। तब तिल्ली का काम बढ़ जाता है। इससे तिल्ली बढ़ जाया करती है। अगर उसे आराम करना हो तो सबसे पहिले रहन-सहन ऐसा स्वाथ्यप्रद बनावें जिससे तिल्ली पर काम का भार घट जाय।

आंतों में से पोषक तत्व ग्रहण करने में भी ये कण मदद करते हैं और रक्त को जमा देने में भी इनका हाथ होता है।

(४८१) <u>रक्त जम जाना</u>-शरीर में रक्त हर समय खूब पतला-पतला दौड़ता रहता है। परन्तु शरीर से बाहर निकलते ही वह जमना शुरू होजाता है। उस दशा में रक्त थोड़ी देर रखा रहने के बाद देखें तो एक ओर कुछ छिछड़ा सा जमा हुआ मिलेगा जिसे थक्का ( *Clot* क्लोट ) कहते हैं। दूसरी ओर कुछ पानी संचित मिलेगा जिसे रक्त-रस ( *Serum* सीरम) कहते हैं।

(४८२) *Clot* ( थक्का ) रक्त के उस जमने वाले घोल से बनता है जो तन्तुजन (*Fibrinogen* फाइब्रीनोजेन ) के नाम से ( वाक्य ४६५ में ) बता आये हैं। यह थक्का जमते समय रक्त में जो कण रहे हों, वे भी तन्तुजन के साथ मिल जाते हैं। तन्तुजन से पतले-पतले सूत्र बन जाते हैं, और उसमें वे कण उलझे होते हैं। यदि रक्त निकालते ही उसका पात्र बरफ़ में दबा दिया जाय तो यह तन्तुजन बहुत धीरे-धीरे जमता है। उस दशा में रक्त के कण तो पात्र की तली में जल्दी बैठ जाते हैं और तन्तुजन की पपड़ी जमकर उनके ऊपर मलाई की भांति जा लगती है यह "रक्त जमना" ( *Coagulation* कागुलेशन ) बड़ी महत्वपूर्ण क्रिया है। शरीर का कोई भाग बाहर कट जाय, या किसी कारण अन्दर के किसी अङ्ग की दीवाल ही तड़क जाय, तो वहां से रक्त निकलने लग जाता है। परन्तु इस क्रिया द्वारा वह फौरन ही जमकर उस कटे हुए छेद को बन्द कर देना है। साइकिल के ट्यूबों में जो काम "हीलो पाऊडर" करता है, वह काम भी शरीर में रक्त करता है।

कभी २ शरीर के अन्दर धमनी जैसी हर समय रक्त से भरी रहने वाली-रग कट जाती है। उसको भी रक्त बहुत तेज़ी से ठीक करता है। परन्तु यदि छिद्र बड़ा होजाय, या कोई बड़ी रग कट जाय तो फिर वहां रुधिर इतने वेग से निकलता है कि, छेद पर रक्त जमने ही नहीं पाता। ऐसी दशा में परिणाम भयंकर हो सकता है। अत: शीघ्र *operation* औपरेशन करके वह नस सी देनी चाहिये। कुछ डाक्टर तो हृदय के कोष्ठों में हुए छिद्र भी बन्द कर सकने में समर्थ हुये हैं। बाहर से अङ्ग

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

कट जाय तो चूना या चीनी लगाने से वहां रक्त को जमने में बड़ी मदद मिलती है।

## रक्तस्राव प्रकृति-(haemophilia)

(४८३) परन्तु कुछ लोगों की प्रकृति में यह खास दोष होता है कि उनका रक्त शीघ्र जमता ही नहीं। ऐसे लोगों को जरा भी घाव आजाय, या छोटासा भी औपरेशन कर दिया जाय, तो उससे रक्त वहना नहीं रुकता और प्राण संकट आजाता है। एक वृद्ध का हिलता हुआ दांत उखाड़ने के वाद उसकी खोखल से दो माह तक रक्त वहता रहा और वड़ी कठिनता से उसके प्राण वचाये जासके।

अतएव कोई औपरेशन करने से पहिले रोगी का पूर्व इतिहास पूंछकर या अंगुली में सुई वगैरः चुभाकर थोड़ी देर तक रक्त का जमना देख लेना और यह निश्चय कर लेना चाहिये कि उसमें यह "रक्त-स्रावी प्रकृति" ( *Haomophilia* हिमोफिलिया ) तो नहीं है। यदि हो तो उस रोगी को थोड़ा सा सर्प-विष का इंजेक्शन दें या औपरेशन करने के वाद *Dressing* में ( मरहम-पट्टी करते समय ) सर्प विष के हलके घोल का भी प्रयोग करें। काले नाग या भूरे नाग ( *Cobra* कोवरा ) का विष इस हिमो-फ़िलियक दोष की सबसे उत्तम औषधि है। मात्रा रोगी के बलाबल और विकार को देख कर बूंद का शतांश या न्यूनाधिक दी जाती है।

(४८४) इस रोग में एक विचित्र विशेषता हैं। वह यह कि जिस पुरुष को यह दोष हो उसके पुत्र को यह दोष नहीं होता। वल्कि उसकी पुत्री को यह दोष होता है और फिर उसकी पुत्री को न होकर पुत्र को होता है। अर्थात् यह मां से वेटे को तथा पिता से वेटी को आता है; और नाना से धेवते को। ऐसे ही कई और भी गुण-दोष हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी न उतर कर, लिंग-परिवर्तन करते हुये, नाना से धेवते और दादी से पोती में ही आते हैं।

हिन्दूशास्त्रों में सम्भवतः इस तथ्य को भी लेकर धेवते का नाना-नानी से वंश संबन्ध रक्खा है और उसे पिंड तर्पण का भी अधिकारी वताया है।

अतः जिसके नाना या मां को ऐसा दोष रहा हो, उस पुरुष का औपरेशन विशेष सावधानी से से करना चाहिए, यथा संभव न करना ही अच्छा।

(४८५) यदि किसी कारण शरीर से बहुत अधिक रक्त निकल जाय तो क्या किया जाय ?

इस दशा में रक्त एक या दो दिन में शरीर के जीवाणुओं से तरल खींच २ कर अपना पनीला भाग पूरा कर लेता है, और फिर धीरे २ उसमें श्वेत कण, लालकण, रंजकपित्त स्नेह-मज्जा आदि भी पूरी होती रहती हैं। लाल और श्वेतकणों के अलावा कुछ चकतियां ( *Blood Ptatelets* व्लड सेट लेट्स ) भी रक्त में होती हैं, रक्त को जमाने या उसकी कमी पूरी करने में मदद देती हैं। चिकित्सक तो अवतक यही सहारा देते थे कि सिरा में नमक मिला हुआ स्वच्छ पानी उचित तादाद में प्रविष्ट करदें, जिससे रक्त का पतला भाग पूरा होजाय। अब स्वस्थ पुरुष का रक्त भी सीधा रोगी के शरीर के रक्त में दाखिल किया जाने लगा है। परन्तु रक्त प्रवेश करने से पूर्व रक्त-दान करने वाले व्यक्ति का थोड़ा सा रुधिर निकाल कर यह जांच करलें कि उसमें कोई रोग तो नहीं है, और उस रक्त की प्रकृति

ोगी के रक्त से मेल खाती है या नहीं। दोनों का ोड़ा रक्त मिलाकर यह भी देखें कि एक के करण सरे के कणों को नष्ट तो नहीं करते, उनसे शत्रुता ो नहीं रखते जैसा कि बहुधा देखा जाता है।

(४८६) अब एक प्रधान चीज और रह गई। वह है "रक्तरस" अर्थात् 'सीरम *Serum*'। इसमें रक्त के प्रायः सभी गुणागुण रहते हैं, इसलिए आजकल चिकित्सा में इसका बड़ा हाथ है। यह जाना जाचुका है कि नाना रोगों और विकारों को दूर करने की शक्ति रक्त के सीरम में रहा करती है। और वह हर व्यक्ति में कुछ भिन्न-भिन्न होती है। उसके अनुसार ही कोई आदमी तो शीतला या प्लेग के जरा से स्पर्श से ही उस रोग का शिकार हो जाता है, जहां दूसरा उनके बीच में निर्भय काम करते हुए भी बचा रहता है, या रोग-ग्रस्त होने पर शीघ्र आराम होजाता है। जिस रक्त में यह शक्ति (किसी विशेष रोग से लड़ सकने की सामर्थ्य) (इम्यूनिटी *Immunity*) न हो उसमें वह पैदा की जा सकती है। इसके दो उपाय हैं। एक तो रक्त कणों को उस रोग से लड़ना सिखा देना (*Inoculation* इनओकुलेशन)। दूसरा—उस रोग के नाशक तत्व रक्त में पहुंचा देना (*Vaccination* वैक्सीनेशन)।

(४८७) रक्त-शिक्षण (*Inoculation* इनऔकुलेशन) की रीति यह है कि यदि हैज़े से रक्षा करना सिखाना हो तो हैजे का जितना विकार मनुष्य को मार सकता है, उसकी अपेक्षा बहुत थोड़ा अंश दशांश या शतांश भाग) तन्दुरुस्ती की हालत में सुई की पिचकारी द्वारा रक्त में इंजैक्ट कर दिया जाता । बस, रक्त उसे नष्ट करने लगता है, शरीर का श्लेष्मा और श्वेताणु उस विकार को मारने की कोशिश करते हैं और वह विकार थोड़ा सा ही होने के कारण, कोशिश में सफल भी होजाते हैं। साथ ही वे आगे के लिये उस विकार की बड़ी तादाद से भी लड़ने का ढंग और तैयारी कर लेते हैं।

फिर उस रोग का आक्रमण हो तो उनका शरीर, उसे सहज ही दबा लेता है।

(४८८) टीका (*Vaccination* वैक्सीनेशन) इसमें एक बात और समझ लें। परमात्मा की लीला है कि हर-एक प्राणी के लिये उसी का मल हानिकारक होता है। मनुष्य के शरीर में जो पदार्थ निरुपयोगी समझकर, मल रूप में त्यागे हों उनका कुछ अंश या मनुष्य शरीर की लाश का कुछ अंश ही, मनुष्य को घातक होते हैं। इसी प्रकार अनेकों रोगों के जो अणु या कीटाणु हैं, उनके मरे या सड़े हुये अंश ही उन रोगाणुओं को सबसे जल्द नाश करते हैं।

शरीर में एक बार शीतला के रोगाणु पहुंच जायं और हमारे श्वेताणुओं द्वारा नष्ट कर दिये जायं तो उनकी जो लाशें या अवशेष बचा, वही हमारे लिये परम रक्षक होजाता है।

हां, उसकी तादाद इतनी थोड़ी ही रहनी चाहिये जो शरीर के अन्य कार्यों में असर न डाले। अब यदि शीतला रोग धावा करता है तो ये शीतला शव (मल) ही उसके जीवाणुओं को मार देते हैं। और हमारा शरीर उस रोग से अभय (*Immune* इम्यून) होजाता है।

अतएव जब रोग के जीवाणु शरीर में या उसके आस-पास फैले हुये मौजूद हों, तब रक्तशिक्षण

का अवसर नहीं होता, और रोगाणुओं के नाश में तत्काल मदद पहुंचाने के लिये, इस टीका-पद्धति से काम लेते हैं और सीधे रोगाणुओं की लाशें अन्दर पहुंचा देते हैं।

इन लाशों को शवाणु ( *Toxin* टोगजीन ) कहते हैं और इस इलाज को उस रोग का ऐन्टीटोक्शिन या सीरम थिरापी *Anti-Toxin* या *Serum therapy*। कई बार प्लेग, हैजा या शीतला फैले हुए मुहल्लों में खूब सेवा कार्य या सफाई करने वाले लोगों को उन छूतदार रोगों से बिलकुल बच जाते देखते हैं। इसका यही रहस्य है कि स्पर्श से उसके शरीर में जहां कुछ रोगाणु पहुंचते हैं, वहां उनके शवाणु भी और वे जमा-खर्च बराबर कर देते हैं।

( ४८६ ) शरीर में प्रवेश करने के लिये इन रोगाणुओं का सीरम या शवाणुओं ( *Toxins* ) का प्राप्त करना भी बड़ा भारी शास्त्र है। संक्षेप में विधि यह है कि वह रोग जिस प्राणी को अधिक हुआ करता हो उस जाति का एक तन्दुरुस्त प्राणी लिया जाता है। जैसे शीतला के लिये गौ का बछड़ा और अन्य अनेक रोगों के लिये घोड़ा आदि। उसके दाने, चारे और सफाई से रखे जाने का खास प्रबंध किया जाता है। फिर थोड़े-थोड़े समय बाद उसके शरीर में बहुत थोड़ी मात्रा में उस "रोग" के अणु प्रविष्ट किये जाते हैं, जिसका सीरम, टीका या ऐंटीटौक्सिन बनाना है। इससे, कुछ समय में उस प्राणी के शरीर में वह रोग पैदा होजाता है। तब दवा पहुंचाना बन्द कर देते हैं। रोग बहुत हलका ही होता है अतः कुछ या अधिक कष्ट देकर, प्रायः आराम होजाता है।

उसके कुछ समय बाद उस पशु के शरीर में पहिले से भी अधिक रोगाणु दाखिल किये जाते हैं। परन्तु अब उसके शरीर में उस रोग से लड़ने की तैयारी मौजूद है। इसलिये वह पशु उस रोग का झटका सह जाता है और बीमार नहीं होता। उसका शरीर सब रोगाणुओं को मार लेता है। कुछ समय बाद फिर और भी अधिक मात्रा प्रविष्ट करते हैं और यों धीरे-धीरे बढ़ाते जाते हैं। अन्त में जब उस प्राणी के रक्त में उस रोगाणु के नाशक शवाणुओं की तादाद इतनी काफी होजाती है कि उस रक्त की तनिक सी बूंद से स्वस्थ मनुष्य को वह रोग होसके, तब उस जानवर के शरीर से रक्त निकाल निकाल कर सुरक्षित रख दिया जाता है। वह बाहर निकलते ही जमता है, और उसके तन्तुजन आदि का थक्का जमकर, "रक्तरस" ( *Serum*) अलग छंट जाता है। उस 'रक्त-रस' में ही ( जो पित्त प्रधान है) वे तमाम रोगाणु या शवाणु आजाते हैं। उस रस को फिर 'अल्कोहल' आदि स्थिर रखने वाले द्रवों में मिलाकर छोटी-छोटी नलिकाओं में भर लिया जाता है और उनका मुख ऐसा बन्द कर दिया जाता है कि उनके अन्दर न तो हवा रहे, और न नयी हवा जा सके। यही इंजैक्शन के 'कैपशूल' हैं और उनमें भरी हुई औषधि यही दूषित रक्त-रस होता है। विज्ञान-विशारद हर कैपशूल में उचित संख्या में ही रोगाणु या शवाणु रखते हैं, तथा वह अवधि भी लिखदी जाती है, जिसके बाद वे कैपशूल अव्यवहार्य हो जायंगे।

आजकल इनसे चिकित्सा में बहुत सहायता मिल रही है। कई रोगों में ऐसा सीरम काम में लाया जाता है जिसमें उस रोग के ही अणु मौजूद हों और उनके आक्रमण द्वारा शरीर आगे को लड़ना सीख जाय। यह 'रक्त-शिक्षण' हुआ और ऐसा रोकने के लिये किया जाता है। कई रोगों के लिये केवल

उनके होने पर ही उस रोग के नाशक रावाणु (*Antitoxins*) दाखिल किये जाते हैं, यह "रोगनाशन" का उपाय हुआ। और कुछ रोगों में दोनों उपाय काम देते हैं। तीव्र आवश्यकता के समय यह उपाय आशु-प्राण रक्षक होते हैं। परन्तु आजकल हम कई जगह इनका अनावश्यक अवसरों पर, या अधिक प्रयोग कर बैठते हैं, उससे भी बचना चाहिये। अन्यथा रक्त में सीधे विकार पहुंचाकर–हम चाहे भलाई की ही इच्छा से–एक हत्या जैसा पाप कर बैठते हैं, इसमें संदेह नहीं।

भारत में इस सिद्धांत का प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से एक विचित्र कार्य में होता रहा है। वह था "विष-कन्या" द्वारा शत्रुओं को मार देना। किसी बालिका को छोटी उमर से ही थोड़ा थोड़ा विष खिलाते थे और क्रमशः उसकी मात्रा बढ़ाते जाते थे। अंत में वह कन्या उस तीव्रविष की काफ़ी बड़ी मात्रा ऐसी पचाने लगती थी कि उसे कोई विकार न होता था न रूप ही बिगड़ता था। परन्तु अंदर उसके रक्त में उस विष का पुट इतना काफ़ी होजाता था कि जो पुरुष उससे सहवास करे उसे अंगों के स्पर्श और स्खलन में ही विष का संस्पर्श होकर वह बेसुध होजाय तथा मर जाय। महाराजा चन्द्रगुप्त के समय इन विष-कन्याओं का प्रयोग बहुत प्रचलित था।

आजकल भी शत्रु-नाशन के लिये विषों, विषैली गैसों और रोगाणुओं का प्रयोग होता है, परन्तु वह और तरह से। आजकल रोगाणुओं से भरे हुये फाउंटेन पेन या विष में बुझे सेफ्टी उस्तुरे शत्रु देश में बेचे जाते हैं तथा घातक गैसें फैलादी जाती हैं जिससे असंख्य प्रजाजन सदा को सोजायं। परन्तु अभीष्ट व्यक्ति को ही मारने की वह "विषकन्या प्रणाली" अभी पाश्चात्य वैज्ञानिकों के हाथों चलरही है या नहीं, पता नहीं। हां, कुछ दिन हुए बंगाल के एक राजा अमरेन्द्रनाथ को उनके ही एक कुटुंबी ने प्लेग का विष शरीर में पहुंचा कर मार डाला था।

(४६०) साथ ही, एक और दैवी कृपा भी शरीर की रक्षा करती है। वह है "भक्षकाणु" (बैक्टीरियोफेज *Bacteriophage*)। ये ऐसे जीवाणु हैं जो हमें हानि पहुंचाने वाले रोगाणुओं को ही खाजाते हैं। इनकी तादाद भी थोड़ी नहीं है। भिन्न २ रोगों के भक्षक अणु भी भिन्न २ हैं। जो उसी रोग के कीटाणुओं को बड़े स्वाद से निबटाते हैं। जहां जिस रोग के अणु (*Germs* जर्म्स) पैदा होते हैं वहीं यह भक्षक अणु भी (चूहे के पीछे बिल्ली की तरह) जा पहुंचते हैं। हमारे शरीर के आस-पास और अन्दर भी ऐसे बहुत से भक्षक अणु रहते हैं। तादाद किसी में कम और किसी में ज्यादा। हमारे रक्त के श्वेत अणु भी इन्हीं के ज़ाति भाई हैं।

(४६१) इस प्रकार परमात्मा ने शरीर बनाया है, तो उसे नष्ट करने को रोगाणु बनाये हैं, और बचाने को श्वेत कण तथा भक्षकाणु भी।

तीसरी एक चीज जीवनकण (*Vitamin* विटामिन) भी शरीर की रक्षा करते हैं जिनका विस्तृत वर्णन अन्यत्र देखियेगा।

ऐसी दशा में जिन *Germs* जर्म्स (रोगाणुओं) को हम लोगों ने हौवा बना रखा है, उनसे इतने भय की कोई बात नहीं रह जाती। वास्तव में तो यह हमारे शारीरिक गुण-दोष और बल (*Vitality* वाइटैलिटी) तथा आस्थिक दृढ़ता पर निर्भर है कि, हम किस रोग से कहां तक बचे रहते हैं।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

जांच करते-करते पता चला है कि प्रायः हरएक के शरीर में और आस-पास मैलेरिया, शीतला, हैज़ा, प्लेग, टाइफाइड, और क्षय तक के रोगाणु मौजूद रहते हैं, परन्तु उनका दाव उसी शरीर पर चलता है जो वीर्य-नाश, शक्ति-नाश, अपथ्य-आचरण और भीरुता से या, किसी विशेष कारण से अमुक रोगाणु के अनुकूल होजाता है। इसीलिये इनका उपाय भी रोगाणुनाशन की ओर दौड़ते फिरने की अपेक्षा शक्ति-सञ्चय और विटामिन का भण्डार बढ़ना ही अधिक सुगम है तथा श्रेयष्कर भी।

(४६२) इस प्रकार हम देख चुके कि शुद्ध रक्त हृदय से चलकर जीवाणुओं को जरूरत के अनुसार तत्व बांटता हुआ और उनके विकारी पदार्थ लेता हुआ हृदय को लौट आता है हृदय से जानेवाले रक्त में, रक्त के १०० भाग में औक्सिजन २० भाग और– करबनद्विओषिद ४० भाग होती है तथा ४ भाग नत्रजन भी।

जीवाणुओं को ओषजन देकर और उसका करबन लेकर लौटने वाले अशुद्ध–रुधिर में ओषजन १० भाग ही रह जाती है और करबनद्विओषितगैस बढ़कर ४६ भाग होजाती है। नत्रजन तब भी ४-५ भाग ही रहती है।

अब इस रक्त में कारबन घटाने और ओषजन बढ़ाने की क्रिया होती है। इसे रक्त का शुद्ध होना कहते हैं। यह काम फुफ्फुस करता है।

हृदय से रक्त फेफड़े को जाता है और वहां से शुद्ध होकर हृदय ही को लौट आता है। तब फिर हृदय उसे महाधमनी द्वारा समस्त शरीर में घूमने को भेज देता है। इसी चक्कर का नाम रक्तचक्र, रक्त-सञ्चार या रक्त-परिभ्रमण ( दौराने खून ) या *Blood Circulation* ब्लड सरक्यूलेशन है। अब इसके विविध अङ्गों का परिचय आवेगा।

## हृदय और रक्त वाहिनियां

(४६३) छाती के बीचों-बीच में मगर मध्य रेखा से दांई ओर को कुछ अधिक झुकी हुई यह एक थैली है, जो दिल या हृदय ( *Heart* हार्ट ) के नाम से विख्यात है। इसकी महिमा अनेक काव्यों में भी पूरी नहीं समाई और न जाने कितनी वातों का सेहरा इसके सिरे बन्धा हुआ है! शरीर की यह धौंकनी, अगर घड़ी भर को भी बन्द होजाय तो उस शरीर को जल्द से जल्द घर से बाहर निकाल देने, धर्ती में गाढ़ देने या जला देने तक में कुटुम्बीजन कुण्ठित नहीं होते। जिस शरीर के प्रति माता का वात्सल्य, पत्नी का प्रेम, पुत्र की कर्तव्य भावना और जनता की श्रद्धा अपने प्राण तक न्यौछावर करने को तैयार रही हो, उस शरीर में, इस दिल की धड़कन बन्द होते ही किसी का कोई मोह नहीं रह जाता। ऐसी जादू भरी है, यह हृदय की गांठ!

हृदय हर मनुष्य के अन्दर ठीक इतना बड़ा होता है जितनी उसकी पोली बन्द की हुई मुट्ठी। यदि हम बायें हाथ की मुट्ठी बन्द करके छाती पर इस तरह रखें कि हमारे अंगूठे की जड़ चूचुक ( स्तन की घुण्डी ) के पास रहे और अंगूठे के नख उरोस्थि पर, जहां दाहिनी पांचवी उप–पर्शु का ( पसली की तरुणास्थि ) जुड़ती है वहां रहे, तो यह मुट्ठी हृदय का ठीक आकार और स्थान बताती है। जहां वह पसलियों से अन्दर की ओर बैठा धड़क रहा है। यह बायें ओर थोड़ा सा ही अधिक होता है। हृदय के सबसे बायें भाग की धड़कन ही अधिक

साफ़ सुनाई देती है इससे, दिल को बिलकुल बाईं ओर समझ लेना भूल है।

हृदय जवान पुरुष में लगभग ५ इंच लम्बा और बीचों-बीच में ३। इंच चौड़ा होता है। इसके ऊपर हृदयधरा नामक झिल्ली चढ़ी रहती है और वह लौटकर दूसरा पर्त भी चढ़ा देती है। ऊपर का पर्त आस-पास के अङ्गों से लगा हुआ स्थिर रहता है और अन्दर का पर्त हृदय की धड़कन के साथ-साथ चलता रहता है। परन्तु इन दोनों पर्तों के बीच में भरा हुआ श्लेष्मा इन दोनों पर्त्तों को घिसाव से बचाये रहता है।

(४६४) दिल एक ऐसा मकान है जिसमें दो कोठे ( ऊपर और नीचे ) दाहिनी ओर होते हैं तथा दो बांयी ओर। ऊपर वाले कोठों को 'अलिंद' ( *Auricle* औरकिल ) अर्थात् 'ग्राहक कोष्ठ' कहते हैं। यह रक्त ग्रहण करते हैं। नीचले दोनों कोठों को दाहिना और बांया 'निलय' ( *ventricle* वैंट्रिक्लि ) अर्थात् "क्षेपक कोष्ठ' कहते हैं, क्योंकि ये रक्त क्षेपण करते ( धकेलते ) हैं।

(४६५) इन कोष्ठों में से दाहिना 'अलिन्द' हृदय में सबसे ऊपर और सामने की ओर होता है इसमें ऊपर की ओर से उत्तरा महाशिरा ( *Superior venacava* सुपीरियर विनाकेवा ) नामक नली आकर खुलती है जो शिर और भुजाओं से अशुद्ध रुधिर लाती है। लसीका वाहिनी रगों ( वाक्य ४७५ ) से आया हुआ श्लेष्मा भी इसी में होता हुआ हृदय में आता है हृदय में इस महासिरा का प्रवेशद्वार ऐसा छिद्र है जिस पर कोई पदार्थ या किवाड़ नहीं होती।

इससे कुछ नीचे दाहिनी ओर इसी अलिंद में अधरा महासिरा ( *Inferior* इनफ़ीरियर वीनाकेवा ) आकर खुलती है। यह महानाली तमाम धड़ और टांगों से अशुद्ध रक्त लाती है और आंतों से आया हुआ 'सोम्यरस' ( *Chyle* काइल ), तथा जिगर से आया हुआ 'आग्नेय रस' भी, इसी के द्वारा रक्त में मिलकर, हृदय में आते हैं। इसके मुख पर झिल्ली का एक अर्धचन्द्राकार पर्दा पड़ा होता है जिसे अधरा सिरा-कपाट ( *Eustachian valve* यूसटेकियन वाल्व ) कहते है। यह अलिंद में आये हुये रक्त को महासिरा में आने से रोकता है

तीसरी हृदयसिरा ( खास हृदय की दीवारों से ही अशुद्ध रक्त लाने वाली दाहिनी सिरा-*Coronary vein* कोरोनरी वीन ) का भी चौड़ा मुख इसी अलिंद में है। इसके ऊपर भी एक अर्द्ध गोल पर्दा लगा है जिसे हृदय-सिरा कपाट ( कौरोनेरी-वाल्व ) कहते हैं।

अब इस अलिंद की तली में, नीचे को छेद होता है जिसके चारों ओर सूत्रों का छल्ला लगा होता है ताकि वह छिद्र अधिक फैलने न पावे। इस छिद्र में होकर 'अलिंद' में आया हुआ सब रुधिर इसके नीचे वाले कोठे- निलय- में चला जाता है। और उस के भरते ही उसमें लटकती हुई- झिल्ली की ३ किवाड़ें नीचे भरे हुए रक्त के दबाव से, ऊपर को उठकर बन्द होजाते हैं। यह इसलिये कि यदि फिर 'निलय' भिंचे तब भी उसका रक्त 'अलिंद' में वापिस नहीं चढ़ सकता। इस ३ पटल के कपाट को ट्राइकस्पिड (*Tri-cuspid*) वाल्व कहते हैं।

(४६६) "दक्षिण निलय" (*Right ventricle* राइट वेंट्रिकल) अर्थात् दाहिना क्षेपक कोष्ठ

तिकोणा कोठा है। यह हृदय में नीचे सामने की ओर रहता है, इसका एक ऊपरी कोना लँवा बढ़कर फुफ्फुसगा धमनी ( पल्मोनरी आर्टरी *Pulmonary Artery* ) में मिल जाता है। इसमें कई डोरियां सी ऊपर के और आड़े कोने से नीचे कोने तक लगी रहती हैं, जिनसे खिंच कर इसकी पेशियां ऊपर की ओर ही सिकुड़ती हैं तथा त्रिपटल कपाट को अलिंद की ओर निकल जाने से भी रोके रहती हैं। फुफ्फुसगा धमनी के द्वार पर भी तीन अर्द्ध-चन्द्राकार किवाड़ियां लगी रहती हैं जो ऊपर धमनियों में खुलती हैं। जब हृदय सिकुड़ता है तब ये किवाड़ें रक्त के धक्के से ( बक्स के ढक्कन की भांति ) ऊपर को खुलती हैं और दाहिने "अलिंद" से निलय में आया हुआ अशुद्ध रक्त फुफुसगा धमनी में चला जाता है। इसके बाद ही हृदय फिर फैलता है परन्तु तब तक ( धमनी में रक्त भरते ही ) ये किवाड़ें फूल कर भिड़ जाती हैं और रक्त को धमनी में से लौटने नहीं देतीं।

उधर लचकदार धमनी, जो रक्त आते समय फैल गई थीं, अब सिकुड़ती हैं। इससे धक्का खाकर रक्त आगे फेफड़ों की ओर ही चला जाता है। थोड़ा ही ऊपर चलकर यह धमनी बायीं-दाहिनी दो शाखाओं में बट जाती है। ये शाखायें अपनी २ ओर के फुफ्फुस में पहुंच कर फिर तीन प्रशाखाओं में बटती हैं, जो फुफुस के हर खण्ड में प्रवेश करती हैं, फिर तो उनसे सैकड़ों ही शाखायें निकलती हैं, और फुफ्फुस की केशिका-रगों तक रक्त पहुंचाती हैं। केवल यह फुफुसगा धमनी ही ऐसी रग है जो लचकदार होते हुये भी अशुद्ध रुधिर लेजाती है। और इसीलिये इसका रङ्ग भी सुर्ख लाल न होकर नील-लोहित होता है।

(४९७) फुफ्फुस की केशिकाओं में रक्त शुद्ध होता है। वह आगे समझाया जायेगा। उन केशिकाओं के दूसरे छेद से फिर बारीक-बारीक सिरायें ( बिना लचक की रगें ) चलती हैं। वे एक दूसरे से मिलकर मोटी होती जाती हैं और अन्त में, हर फुफ्फुस खण्ड से एक-एक बड़ी शाखा बनकर निकलती हैं। ये तीनों शाखायें फिर दो-दो सिरा बन कर हृदय के "बायें अलिंद" से आजुड़ती हैं, और इनके द्वारा फेफड़ों में शुद्ध हुआ रुधिर हृदय में वापिस आजाता है।

शरीर भर में जितनी सिरायें हैं उनमें केवल ये चार फुफ्फुसियां सिराएं ही ऐसी हैं जिनमें शुद्ध रुधिर रहता है। फलतः उनका रंग भी नीला न होकर, लाल होता है।

(४९८) वाम अलिंद (*Left Auricle* लैफ्ट औरीकल ) अर्थात् हृदय का बायां, रक्त-ग्रहण करने वाला ग्राहक कोष्ठ दाहिने की अपेक्षा कुछ छोटा होता है। परन्तु इसकी पेशियां कुछ अधिक मोटी होती हैं। यह हृदय में पीठ की ओर ऊपर का खाना है, जिसके ऊपर और आगे की ओर दो-दो द्वार चारों फुफ्फुसिया सिराओं के लिये होते हैं, इन द्वारों पर भी कपाट नहीं होते। इस कोष्ठ में भी दाहिने ग्रह कोष्ठ की भांति नीचे को बड़ा छेद होता है, जिस पर तीन झिल्ली की किवाड़ियां लगी होती हैं।

(४९९) हृदय का चौथा खाना पीठ की ओर सबसे नीचे होता है। यह "वाम निलय" (*Left ventricle* लैफ्ट वेंट्रिकल) अर्थात् शरीर भर को रक्त भेजने वाला "बांया क्षेपक कोष्ठ" है। इसकी दीवारें (मांस-पेशियां) अन्य तीनों कोष्ठों की अपेक्षा अधिक मोटी होती हैं। उनमें भी तीन-चार मांस के



श्वास नलिका अर्थात फेफड़ों को रक्तकी शुद्धि के लिये वायु आने जाने का मार्ग। (वाक्य ६१४)

हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ १७ में लौटा हुआ अशुद्ध रक्त, क्षेपक कोष्ठ १८ में गया, वहां से फुफ्फुसगा धमनी ० में होता हुआ फुफ्फुस १९ में पहुंचा और वायु के स्पर्श में आया। कार्बन त्यागी, ओक्सिजन ग्रहण की और p शुद्ध होकर q फुफ्फुसी आशिराद्वारा बायें ग्राहक कोष्ठ ८ में लौट आया।

तमाम त्वचा, मांस, अंग, यकृत और गुर्दों से रक्त वापिस लेजाती हुई अधरा महाशिरा ।

४ धमनी से आये हुए रक्तमें से गुर्दे ४ में क्षार मल छांटकर मूत्र बना दिया गया। शेष शुद्ध रक्त ५ सिरा द्वारा महासिरा को गया। यह रक्त शरीर में सबसे अधिक निर्मल होता है। (वाक्य ६५०)

शुद्ध होकर ऊपर को महाधमनी ८ द्वारा आया हुआ रक्त सिर के धमनी चक्रों और केशिकाओं ३ में पहुंचकर मस्तिष्क और इन्द्रियों की पुष्टि करता है और फिर सिराओं, शिरासरिताओं द्वारा ऊर्ध्व महासिरा ६ में होता हुआ हृदय को लौट आता और शुद्ध होनेको फेफड़ों में चला जाता है।

फेफड़ों से शुद्ध होकर आता हुआ रक्त ८ बायें ग्राहक कोष्ठ में आकर क्षेपक कोष्ठ ६ में आया। फिर महाधमनी ८ में धकेला दिया गया वहां से ८ ऊपर की ओर और ९ नीचे को चला।

नीचे ४ आंतों को गया, ५ यकृत को उसमें १५ = आंतों का चूसा हुआ रस भी जा रहा है। ६ सीधा यकृत को जाता है। (वा० ५८१)

से १४ शोषक (लसीका) इकट्ठा कर करके रक्त में ला मिलाने वाली रसवाहिनियां हैं। जो अपनी ऊपरी शाखाओं से मिलने के बाद ऊर्ध्व महासिरा में आ मिलती हैं। (वाक्य ५८४)

से शरीर के छाती, पेट, भुजा और टांगें तथा शरीर के अंग आदि हैं जहां धमनियां केशिकाओं से आ मिलती हैं।

(Thornton)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

खम्भे निकले होते हैं, जिनमें "अलिंद" के किवाड़ों (झिल्ली के परदों) से आई हुई अनेक डोरियां बंधी रहती हैं। इन डोरियों को "हृद्द्वार बंधन" (*Chordae Tendineae* कोर्डी टेन्डिनी ) कहते हैं। वाम अलिंद में आया हुआ रुधिर नीचे इस "निलय" में उतर जाता है और जब हृदय सिकुड़ता है तब "निलय" से रक्त फिर बाहर निकलना चाहता है। परन्तु उस समय रक्त के धक्के से अलिंद के द्वार की किवाड़ें तो बन्द होजाती हैं, और *Chordae Tendinae* 'कोर्डी टेंडिनी' उन्हें अलिंद के अन्दर को भी जाकर खुलने नहीं देतीं। फलतः, वह रुधिर बांये निलय के ऊपर उरोस्थि की ओर वाले कोने में जुड़ी हुई–"महा धमनी" में चला जाता है। इस महाधमनी (*Aorta* आयोरटा) वाले छिद्र पर भी तीन किवाड़ियां लगी हुई हैं। निलय से महाधमनी में रक्त जाते समय तो ये खुल जाती हैं परन्तु महाधमनी में रक्त भरते ही वे फूलकर बन्द होजाती हैं, और फिर उसमें से हृदय को रक्त नहीं लौट सकता। परन्तु रक्त भरते समय फूली हुई महाधमनी फिर शीघ्र ही सिकुड़ती है। (वा०२७८) और वह रक्त को जितने वेग से हृदय में धकेला था, लगभग उतने ही वेग से आगे अपनी शाखाओं को धकेल देती है।

आगे उसका वेग धीरे-धीरे मन्दा होता जाता है और केशिकाओं तक पहुँचने पर बहुत थोड़ा रह जाता है।

इसके बाद सिराओं में चढ़ते समय रक्त का वेग दशांश भी नहीं रह जाता। परन्तु वहां एक और ताक़त उसे हृदय की ओर खींच लाती है। वह शक्तिशोषण (*Suction* सक्शन) की है। आगे बता आये हैं कि हृदय के दाहिने कोष्ठों में जो रक्त महासिराओं से पहुंचता है, वह हृदय सिकुड़ते वक्त फुफ्फुसगा धमनीमें को चला जाता है। परन्तु जब हृदय फिर फैलता है तब वह धमनी का रक्त लौट नहीं पाता। लेकिन हृदय के दोनों कोष्ठ खाली होकर फैलते हैं, वे खाली रह नहीं सकते। तब उनमें महासिराओं से और भी रक्त बलपूर्वक खिंच आता है। जैसे–किसी पिचकारी को खाली करके पानी में डुबा दें और फिर उसे पानी में डूबी रख कर ही पिचकारी की डंडी ऊपर को खींचे, तब वह पानी को अन्दर खींच लेती है। कारण यही है कि, उसके अन्दर हवा तो रहती नहीं और प्रकृति में तनिक भी स्थान खाली रहे कैसे? अतः वह पिचकारी नीचे से जल को खींच कर ही अपना खाली स्थान भर लेती है। इसी तरह हृदय के ग्राहक कोष्ठ बारंबार खाली होते रहते हैं और उन्हें भरने के लिये–सिराओं द्वारा रक्त खिंचा चला आता है।

# रक्तचाप (ब्लड प्रैशर)

[ ले० श्री० पं० पुरुषोत्तमदेव जी, गुरुकुल कांगड़ी ]

(५००) रक्त के इस वेग को ही रक्त-चाप (*Blood Pressure* ब्लड प्रैसर) कहते हैं जिसका आजकल बहुत ध्यान रक्खा जाता है। स्वस्थ दशा में बांये क्षेपक कोष्ठ से रक्त धकेला जाते समय यह दबाव १८० अँश होता है। महाधमनी में यह १६० और धमनियों में १४०, और छोटी शाखाओं में १२० से १०० तक रहता है, केशिकाओं में घूमते समय यह दबाव ८० से ५० तक रह जाता है। और वरम् (रक्त-संचय) के स्थान पर इतना भी नहीं रहता। उस संचित रक्त को फिर बहाने के लिये-उसमें गति पैदा करने के लिये-उसके ऊपर की धमनी को बंधन लगाकर कुछ भींच देते हैं। इससे उस धमनी में होकर आता हुआ रक्त, रुक नहीं जाता; बल्कि धमनी का मुख कुछ तंग होजाने से धारा अधिक वेग की छूटने लगती है; और वह उस जमे हुये रक्त को भी चलायमान कर देती है। बस, वह सिराओं तक जा पहुंचता है। फिर तो रक्त-चाप कम हो तब भी, ऊपर कही हुई शोषण की ताक़त (सकशन) द्वारा, वह रक्त ऊपर को खिंचा चला जाता है। साधारणतया महासिरा तक लौटते लौटते भी-रक्तचाप-३-४ अंश रहता ही है। दाहिने अलिंद में भी वह एकाध अंश रहता है, परन्तु जब हृदय फैलता है तब तो अलिंद में रक्त-चाप शून्य से भी २ अँश कम होजाता है।

यह *Blood Pressure* ( रक्त-चाप ) तीन बातों पर निर्भर है। १-हृदय- में हर वार फैलते समय कितना रक्त पहुंचता है। २- वह कितने वेग से हृदय द्वारा धकेला जाता है। तथा ३-धमनियों की चौड़ाई और लचक कितनी है ? यदि हम उत्तेजित होजांय या हृदय जल्दी २ धड़कने लगे तो धमनियों में *Blood Pressure* बढ़ जाता है। उससे धमनियों की दीवारों ( मांस-पेशियों ) पर ज़ोर अधिक पड़ने लगता है। उससे धमनी चटक सकती है, और वह रक्त-स्राव शीघ्र बन्द न हो तो शल्यक्रिया (*Operation*) करके उसे रोकना जरूरी होता है। यदि अण्ड-कोष, मस्तिष्क या किसी मर्मस्थल की धमनी फट जाय तो मूर्च्छा और मृत्यु तक हो सकती है। इसलिये रक्त-चाप ( *Bood Pressure* ) बढ़ने पर तत्काल विश्राम कर लेना उचित होता है। कुछ देर के लिये तो स्वयं प्रकृति भी उस व्यक्ति को मूर्छित करके काम छुड़ा देती है।

( ५०१) किसी कारण शरीर से रक्त बहुत निकल जाय या वह क्षीण होजाय, तो रक्त-चाप

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

बहुत घट जाता है उस दशा में शरीर के दूर बर्त्ती अङ्गों तक रक्त पूरा नहीं पहुंचता या वहां जमा हो-होकर शोथ (*Conjestion* कंजैशन) करने लगता है। निर्बलता में मुख और पैरों पर शोथ होने का यह भी कारण होता है। उस समय हृदय की गति बढ़ाने के लिये तो कुचला, नौसादर या मल्लचन्द्रोदय आदि देने होते हैं। और जो रक्त निकल गया हो उसकी पूर्त्ति के लिये नया रक्त या खाली नमकीन पानी ही शरीर में प्रविष्ट (*Transfusion* ट्रांसफ्यूजन) किया जाता है। रक्त की धमनियों को उत्तेजित करके, उनकी लचक बढ़ाना भी लाभदायक होता है। इसके लिये विविध अङ्गों को गुदगुदाना, मालिश करना या दबाना उपयोगी है।

(५०२) रक्तचाप (*Blood Pressure*) देखने के लिये यन्त्र भी आते हैं। परन्तु नाड़ी देख कर भी इसे जाना जा सकता है। स्वस्थ पुरुषों की नाड़ी जैसी चलती है, उसकी अपेक्षा अधिक ठोकर मारती हुई नाड़ी चले (कड़ी *Strong* स्ट्रौंग) या वह दबाने पर भी तार के समान कड़ी होकर चलती रहे (*Wiry* वाइरी) जो ब्लड-प्रेसर बढ़ा हुआ समझें।

यदि नाड़ी कुछ जल्दी २ ठोकर मारती हो तो *Blood Pressure* हृदय की उत्तेजना से बढ़ा हुआ समझें। इसका उपाय शान्त्वना और विश्राम है।

यदि नाड़ी जौंक की तरह हर वार बड़ी लंबी और मोटी लहर लेती हो तो रक्त की तादाद बढ़ने से *Blood Pressure* बढ़ा हुआ समझा जाता है। उस दशा में हृदय की गति कुछ मन्द करना भी लाभ करता है, परन्तु उपवास या फस्द द्वारा रक्त-प्रवाह कम कर देना भी आवश्यक होता है।

कलाई पर नाड़ी में आयु के अनुसार ११० से १३५ अंश तक रक्त-चाप तो दिल सिकुड़ने के समय होता है और ६० से ९० तक दिल फैलने के समय, फलतः धमनियों में (नाड़ी में) रक्त का चाप ५०-५५ अंश स्थिर रहता है। नाड़ी से और भी कई बातें जानी जा सकती हैं जो आगे आवेंगी।

परन्तु जब रक्त-चाप बहुत घट जाय तब नाड़ी में एक विचित्र गति पैदा होती है। वह एक वार आये हुये रक्त को जो उस दशा में अधिक जोर से नहीं आता, वापिस धकेलना चाहती है परन्तु इतने में ही शेष रक्त भी आजाने से उसे वापिस लौटाने में असफल होजाया करती है। फलतः नाड़ी हर वार दो-दो ठोकर खाती है। नाड़ी-दर्शक (स्फिग्मोग्राफ़) यन्त्र से देखा जाय तो नाड़ी की लहर ऊंची उठकर नीचे उतरने लगती है परन्तु बीच में ही फिर एक वार ऊंची उठकर तब नीचे तक आती है। इसे लहरीली नाड़ी (*Dicrotic wave* डाइक्रोटिक वेव) कहते हैं। और इसमें मध्यवर्त्ती लहर ऊंची उठती है उसे नाड़ी मध्या लहर (*Dicrotic notch* डाइक्रोटिक नोच) कहते हैं। इस नाड़ी को कंपित नाड़ी भी कह सकते हैं; जो "लवा की चाल" कहलाती हैं।

(५०३) इस प्रकार हृदय धड़क-धड़क कर शरीर से लौटा हुआ अशुद्ध रक्त फेफड़े को तथा वहां से शुद्ध होकर आया हुआ रक्त, समस्त शरीर को पम्प करता रहता है। उसकी धड़कन के समय कुछ शब्द होते हैं जो चिकित्सा(निदान)में बड़ा काम देते हैं। ५वीं और ६ ठी उप-पशुकाओं (कच्ची पसलियों) के बीच में उरोस्थि-से तीन अंगुल बांये स्तन की ओर जो स्थान पड़ता है, वहां हृदय की ध्वनियां

बहुत साफ़ सुनाई देती है। वहां कान रख कर या ध्वनि-श्रवण यन्त्र ( *Stethoscope* स्टेथोस्कोप ) का मुख रख कर ये धड़कन सुननी चाहिये और हाथ रख कर अनुभव भी की जा सकती हैं। ध्यान से देखें तो वहां त्वचा फड़कती हुई भी दिखाई देती है।

ध्वनि दो तरह की होती हैं। पहिले तो एक लम्बी सी मन्द आवाज़ सुनी जाती है जो "लुब" ( *Lubb* ) शब्द के समान होती है। फिर कुछ ही ठहर कर एक धमक ज्यादा ज़ोर की सुनाई देती है जैसे "डप" ( *Dup* )। इसके बाद कुछ देर फिर चुप्पी रह कर वही "लुब" ध्वनि आती है, और उस के बाद ही, फिर 'डप'। ये दोनों ध्वनियां युवावस्था में ठीक दो विपल समय लेती हैं, अर्थात् एक पल भर में ३०-३० बार होजाती है। १ मिनट में यह ७२ से ७५ बार तक सुनाई देती हैं अर्थात् १ मिनट में इतनी बार दिल धड़कता है, याने लगभग ७२-७४ बार वह सिकुड़ता और फैलता है।

इस गति संख्या पर कई चीज़ों का असर पड़ता है।

(१) एक तो–इस पर आयु का ज़बर्दस्त असर होता है। भ्रूणावस्था में यह संख्या १५० होती है, जन्म लेते ही यह संख्या १५० से १४० होजाती है। आयु के प्रथम वर्ष में ११५ होती है, द्वितीय वर्ष में १००, ७वें वर्ष में ९०, १४ वें वर्ष में ८०, युवावस्था में ७२ और फिर वृद्धावस्था में ही ६० होजाती है। हम देखते हैं कि यह संख्या क्रमशः घटती जाती है, सामान्यतया ७२, इसलिये कहा जाता है कि युवावस्था का काल सबसे बड़ा होता है।

(२) दूसरे–लिंग का प्रभाव पड़ता है। कन्याओं की धड़कन संख्या पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है। सामान्यतया युवक की ७२ तो युवती की ८० होती है।

(३) शारीरिक कार्य का भी प्रभाव पड़ता है। पूर्ण विश्राम ( शांति चित्त लेटे होने ) के समय युवा-पुरुष की यह धड़कन संख्या ५०, लेटे हुये भी हिलते हुए ६०, बैठे हुए ७०-७२, खड़े हुए ७५ और चलते हुए ये ८० और व्यायाम या कोई आसन करते हों तब १०० के लगभग होती है।

(४) मन का प्रभाव तो सबसे अधिक पड़ता है, यदि आप भयभीत हों तो संख्या पर्याप्त अधिक होती है। क्रोधावस्था में थोड़ी अधिक। बहुत चिन्ता में संख्या काफी घट जाती है, प्रसन्नता में संख्या सामान्य होती है। कभी इस हृदय ( दिल )की धड़कन से ही मानसिक अवस्था को देखकर कई अपराधियों के बयान की प्रमाणिकता का पता लगाया जाता है।

(५०४) पहिले बता आये हैं कि जब हृदय संकोच करता है उस समय अलिंद और निलय के बीच का द्वार बन्द होजाता है। संकोच शुरू होते ही उस की किवाड़ें बन्द होजाती हैं और तब तक बन्द रहती हैं जब तक हृदय सिकुड़ता रहे। इसलिये यह ध्वनि हृदय का संकोच शुरू होते ही सुनाई देती है। हृदय की पेशी जितनी बलवान होती है उतने ही ज़ोर से रक्त को धक्का लगाता है तथा उतने ही अधिक धमाके के साथ से कपाट बन्द होते हैं। अतः इस ध्वनिकी तेज़ी हृदय की पेशियों की ताक़तवर होना बताती है, तथा मन्द-ध्वनि होना उनकी निर्बलता का चिन्ह है।

कभी रोग के कारण इन किवाड़ों में छेद रह जाता है जिससे रक्त की थोड़ी सी धारा अलिंद में फू-फू करती हुई वापिस लौट आती है। ऐसी

दशा में उस समय लूब *Lubb* के बजाय *Phoo* "फू" शब्द सुनाई देता है। तब हृदय की धड़कन *Lubb-Dup* की जगह "फू-डप" "फू-डप" ऐसी सुनाई देती है। इस दशा में अलिंद और निलय के बीच की कपाटी में विकार समझना चाहिये। इसे "हृन्मध्य-द्वार विकार" ( *Mitral Regurgitation* माइट्रल रिगरजीटेशन ) कहते हैं।

(५०५) इसके बाद जब हृदय फैलता है तब 'फुफ्फुसगा धमनी' या महाधमनी में गया हुआ रुधिर वेग से निलयों में लौटना चाहता है। उस समय धमनी द्वार के कपाट झपट कर बन्द होते हैं। उनसे *Dup* डप शब्द होता है। रक्त की तादाद जितनी अधिक हो उतनी ही ज़ोर से ये किवाड़ें बन्द होतीं और उतनी ही जोर की यह ध्वनि होती है। अर्थात् डप शब्द तेज होना रक्त की तादाद और दबाव (प्रैशर) अधिक होना बताता है, तथा डप ध्वनि का धीरे से 'टप' की भांति होजाना रक्त एवं रक्त-चाप (ब्लड प्रैशर) की कमी का सूचक है।

यदि इन किवाड़ों में कोई छेद रहने लगे तो इनके बन्द होते समय भी "*Dup*" की बजाय वही "फू" आवाज़ करते हुये कुछ निलय में वापिस लौटता है। इस विकार को 'महाधमनी-द्वार विकार' (*Aortic regurgitation* आयोर्टिक रिगरजिटेशन कहते हैं। इस दशा में ध्वनि *Lubb–Phoo*, लूब–फू, लूब–फू, सुनाई देती है।

यदि दोनों ही द्वारों में विकार हो तो ध्वनि "लूब–डप" *Lubb–Dup* की बजाय केवल *Phoo-Phoo*, फू–फू, फू–फू, सुनाई देती है।

## धड़कन का समय

(५०६) हृदय की धड़कन के ३ भाग हैं जिसमें कुल २ विपल (पौन सैकिंड) लगता है; इसमें पहिला भाग चौथाई विपल का होता है उस समय रक्त के अलिंद सिकुड़ते हैं और निलय भरते हैं।

दूसरा भाग पौन विपल चलता है। उसमें हृदय के निलय सिकुड़ते हैं, अलिंद और निलय के बीच के द्वार बन्द होते हैं। फुफ्फुसगा धमनी और महाधमनी की ओर के अर्द्ध चन्द्राकार किवाड़ खुल कर, इन दोनों में रक्त जाता है। दिल उछलकर छाती की दीवार से लगता है, अलिंद थोड़े से भरते हैं, इसी समय "लूब" ध्वनि सुनाई देती है और फिर कुछ देर चुप्पी रहती है।

तीसरा भाग पूरे एक विपल चलता है। इसमें हृदय के दोनों कोष्ठ फैलते हैं और पहिले अलिंद भर कर फिर निलय भरते हैं, इस समय धमनियों के कपाट बन्द होते हैं जिससे प्रारम्भ में ही "डप" की आवाज़ होती है।

# रक्त वाहिनियाँ (रगों) का जाल

## धमनी, सिरा और केशिकायें

## ( *TheBloodvessels* ब्लड वैसल्स )

[ संकलित ]

(४०७) हृदय से छाती के बीचों-बीच में एक डेढ़ इंच ऊंची चलते ही महाधमनी बांए ओर को मुड़ती और मुड़ते २ नीचे को चलने लगती है। इस मोड़ को महाधमनी की महिराब ( *Aortic arch* आयोरटिक आर्क) कहते हैं। इस मोड़ से भी अनेक शाखायें छूटती हैं। पहिली शाखा दाहिनी भुजा की ओर चली जाती है। उसी में से एक प्रशाखा निकल कर सिर को जाती है जिसे मातृका धमनी ( *Right Carotid Artery* राइट कैरोटिड आरटरी ) कहते हैं। इसके बाद बाईं मातृका धमनी खास महाधमनी में से ही जाती है। फिर बाईं भुजा की धमनी भुज-धमनियों को जाती है जिसे *Innominate* इन्नोमीनेट आरटरी कहते हैं। भुजा की यह धमनी बाईं या दाहिनी ओर जरासी चलकर बगल में "कक्षा-धरा" कहलाती है। और कोहनी के नीचे उसकी दो शाखायें होजाती हैं। एक प्रकोष्ठ की बाहरी(*Radial* रेडियल ) और दूसरी अन्दरी (अलनार *Ulnar*) आरटरी )।

महाधमनी की महिराब से भुजधमनी के बाद एक कक्षाधो धमनि (*Left-Subclavian* लैफ्ट-सबक्लावियन आर्टरी) चलती है। जो बायें हाथ का पोषण करती है।

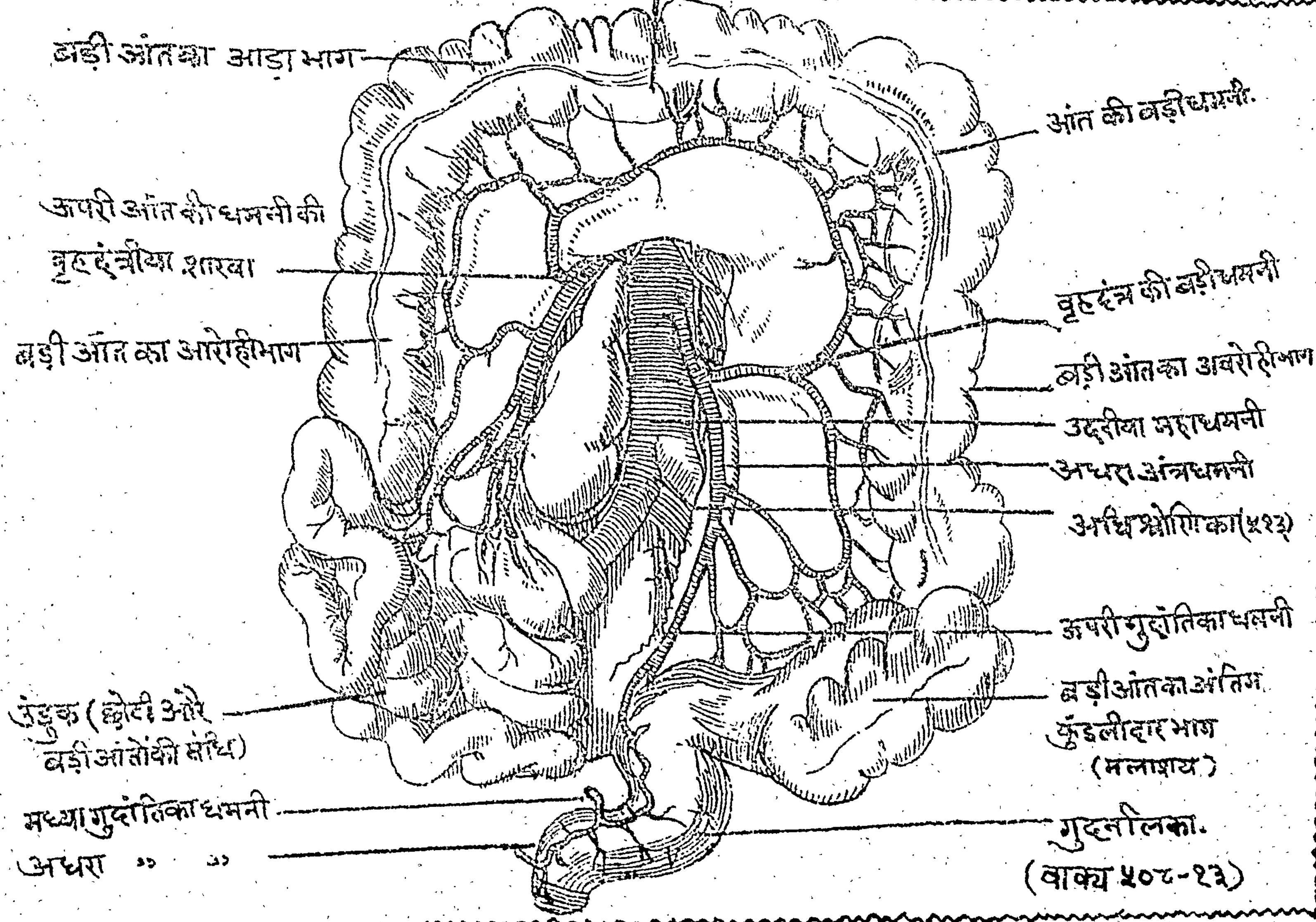
गर्दन से ऊपर को शिरोधिया धमनी (मातृका धमनी *Carotid* कैरोटिड आर्टरी) की दो शाखायें होजाती हैं।

एक बाहरी शाखा जो चेहरे पर नाक, मुख, ठोड़ी, कान और आंखों तक का पोषण करती है; दूसरी अन्तः शिरोधीया (*Internal carotid* इन्टरनल कैरोटिड ) जो कुछ गहराई में चलकर ललाटास्थि की पिछली तली के पार धंसती हुई, कपाल कोट के अन्दर पहुंचती है और मस्तिष्क का पोषण करती है। इसे 'महामातृका' धमनी भी कहते हैं

(४०८) महाधमनी, अपनी महराब द्वारा नीचे को मुड़कर, छाती में से गुजरती है और फेंफड़े, श्वास-नलियां, अन्न-नली एवं छाती की पेशियों को अपनी अनेक शाखायें भेजती है। नीचे उरोदरा पेशी पार करके पेट में पहुंचने पर इससे कई महत्वपूर्ण शाखायें निकलती हैं। एक शाखा (अर्द्धोदरिका *Coeliac axis* सिलियक ऐक्सिज) तनिक चल कर ही ३ प्रशाखाओं में बंट जाती है। एक याकृतिक धमनी, दूसरी प्लीहिका धमनी और तीसरी जाठरी धमनी।

## — अंत्र-धमनी का क्षेत्र और शाखायें —






(वाक्य ५०८-२३)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

इनमें से याकृतिक धमनी आमाशय के ऊपर होती हुई यकृत तक पहुंचती है और बीच में अपनी अनेक शाखायें छोड़ती है जोकि आमाशय की दीवार पर छाई रहती हैं।

जाठरी धमनी आमाशय के ऊपरी अर्ध-भाग का पोषण करने को अनेक शाखायें छोड़ती हुई उक्त यकृती शाखा ही से मिलती है, यह *Gastric Artery* गैस्ट्रिक आर्टरी कहलाती है।

तीसरी सीहिका ( *Splenic Artery* स्प्लेनिक आर्टरी ) सांप की चाल जैसी टेढ़ी-मेढ़ी चलकर तिल्ली पर पहुंचती है तथा मार्ग में ५ छोटी शाखायें छोड़ती है। वे क्लोम (अग्न्याशय *Pancreas* पैंक्रियस् ) का पोषण करती हैं। सीहा में जाकर उसकी धमनी सैकड़ों शाखाओं में बँट जाती है जिनसे तिल्ली के हर अंश में रक्त पहुंचता रहता है। तिल्ली उस रक्त में से श्वेताणु बनाया करती है।

और भी नीचे चलती है त्यों-त्यों महाधमनी छाती में बाईं ओर से नाभि की ओर आती-जाती है। नाभि से कुछ ऊपर इससे दो बड़ी शाखायें निकलती हैं जो ऊपरी अन्त्र-धमनी और निचली अन्त्र-धमनी हैं।

ऊपरी धमनी उत्तरा आंत्रिकी ( *Superior mesenteric* सुपीरियर मैसेन्टरिक ) फिर चार शाखाओं में बंटकर क्लोम, ऊपरी बड़ी आंत निचली बड़ी आंत तथा बड़ी आंत के प्रारम्भिक थैली जैसे भाग ( अन्तर संधि ) का पोषण करती है।

अधरा आंत्रिकी ( इनफ़ीरियर मैसेन्टरिक ) धमनी की ३ शाखा होकर बड़ी आंत के बांये भाग, मलाशय और गुदा के आस-पास के भाग का पोषण करती हैं।

इन दोनों धमनियों की शाखायें परस्पर मिल-जुल कर अन्दर एक धमनी-चक्र बनाती हैं।

(५०६) इनके बाद दो शाखायें दोनों गुर्दों पर रहने वाली पित्त-ग्रन्थियों ( सुपरा-रीनल कैपसूल *Supra-renal Capsule*) को जाती हैं और वहां धमनी-चक्र बनाकर इन छोटे-छोटे अंगों को भी बहुतसा रक्त पहुंचाती हैं, जिससे वे अपना उत्तेजक रस ( *Insulin* इनसूलिन ) तैयार कर-करके शरीर के अन्य अंगों को भेज सकें।

(५१०) इसके बाद दो शाखायें गुर्दों को जाती हैं जो वृक्क धमनी ( रिनल आर्टरी ) हैं। ये भी बहुत रक्त लेजाती हैं, जिनमें से गुर्दे क्षारीय अंश और छान सकने योग्य तरल चीजें अलग करके मूत्र बना देते हैं, तथा शेष शुद्ध रक्त फिर शिराओं द्वारा हृदय को लौट जाता है।

(५११) इसके अनन्तर महाधमनी दो बड़ी शाखाओं में बंट जाती है जो दोनों टांगों को चली जाती हैं। इन्हें वंक्षण-धमनी ( *Iliac* इलियक आर्टरी ) कहते हैं। इनमें से आगे फिर दो शाखायें होजाती हैं, जिनमें बड़ी शाखा ऊरु को चली जाती है और छोटी अण्डकोषों को। हर ऊरु में छोटी शाखायें 'अण्डगा धमनियां' ( *Testicular* टैस्टीक्यूलर आर्टरीज ) कहलाती हैं। पुरुषों में ये शाखायें सीवन से नीचे उतर कर दोनों अण्ड-ग्रंथियों में रक्त पहुंचाती हैं जहां उसका मंथन होकर वीर्य बनता है। स्त्रियों में ये दोनों शाखायें गुर्दों के नीचे स्थित दोनों रज-ग्रंथियों (*Ovaries* ओवेरीज ) को जाती हैं और ओवेरियन आर्टा कहलाती हैं। इनसे रक्त पाकर वहां रज छांटा जाता और डिंब(*Ovum* ओवम) तैयार होते हैं।

(५१२) महाधमनी से उदर में ही कई शाखायें और भी निकलती हैं, जिनमें चार कटि-धमनियां

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

( *Lumbar* लम्बर आर्टीज़ ) कमर का पोषण करती हैं, एक त्रिकमध्या ( *Middle sacral* मिडिल सेकरल आर्टी ) दो शाखा बनकर गुदा का पोषण करती है, और वही एक छोटे अण्डे जैसी ग्रन्थि का भी। यह गिल्टी इड़ा और पिंगला नाड़ियों के अन्तिम सिरे मिलकर बनी होती है।

(५१३) उदर महा धमनी की एक अधिश्रोणिका शाखा ( ऐक्सटरनल इलियक आर्टी ) रीढ़ और त्रिक के पास की कटिलम्बिनी आदि पेशियों को जाती है। दूसरी शाखा तिर्छी ऊपर को चढ़कर उसी "अंडगा धमनी" से जा मिलती है। तीसरी जघनास्थि की ओर जाकर उदरच्छदा पेशियों के बाहर फैलती है, और चौथी शाखा वस्ति-गुहा को जाती है; वह दोनों शुक्राशयों का और गुर्दे से मूत्र लाने वाली गवीनियों का पोषण करती हैं। इसे उत्तरावस्ति धमनी ( सुपिरियर वैसीकल ) कहते हैं। इसके नीचे एक शाखा अधरावस्ति धमनी (इनफीरियर वैसीकल) है जो पुरुषों में अष्ठीला ( मदग्रन्थि ) और स्त्रियों में वस्ति तथा योनि का पोषण करती है।

एक शाखा गुदा और उपस्थ दोनों अङ्गों का पोषण करती हुई गृध्रसी द्वार से बाहर आती है, और फिर मूलाधार की पेशियों का पोषण करती है। काम उत्तेजना होने पर शिश्न-चैतन्य करने को यही धमनी रक्त देती है। इसे गुदोपस्थिका (*Internal pudendal* इन्टरनल प्यूडैंडल ) कहते हैं।

एक शाखा "मध्यम गुदांतिका" ( *Middle Haemorrhoidal* मिडल हीमोरोइडल ) गुदा की तीन वलियां पोषित करती है। अर्श रोग में फूल जाने वाले मस्से प्रायः इसी धमनी से रक्त पाते हैं।

(५१४) स्त्रियों में एक विशेष धमनी गर्भाशय धमनी ( यूटेराइन आर्टरी *Uterine Artery* ) होती है जो गर्भाशय के दाहिने तथा बांये पार्श्व से प्रवेश करके अनेक शाखाओं द्वारा गर्भाशय की दीवार में छाई रहती है। विशेषता यह है कि जिन दिनों गर्भ में बालक होता है उन दिनों यह धमनी अपने आप बड़ी होकर उसका अधिक पोषण किया करती है।

और भी छोटी मोटी धमनियां वस्ति में होती हैं एक श्रोणि और वंक्षण के बीच की, दूसरी कटि और श्रोणि के बीच की, तीसरी त्रिक के आजू-बाजू, चौथी नितम्बों के ऊपर और पांचवीं नितम्बों के नीचे पोषण करने वाली।

## सिर और गर्दन की धमनियां–

(५१५) महामातृका या शिरोधीया नामक दो मोटी-मोटी ( *Carotid* कैरोटिड ) धमनियां शिर का पोषण करती हैं। इनमें से बाईं धमनी तो सीधी महाधमनी से निकलकर जाती है और दाहिनी दक्षिण भुजा को जाने वाली शाखा से निकलती है। इन्हीं शिरोधीया धमनियों के पास से एक-अक्षाधरा धमनी भी निकलती हैं। दोनों शिरोधीया गर्दन में चुल्लिका तरुणास्थि तक पहुंचकर दो-दो शाखाओं में बँट जाती हैं। एक तो सीधी कपाल के अन्दर को चली जाती है और दूसरी कान के आगे को होती हुई ललाट और खोपड़ी के ऊपरी तल का पोषण करती है। बाहर वाली बहिःमातृका(*External carotid* एक्सटर्नल कैरोटिड आर्टरी ) की अनेक प्रशाखायें होजाती हैं। यथाः–

(५१६) १–चुल्लिकोत्तरा ( सुपीरियर थाइरोइड *Superior-thyroid* ) इसकी चार प्रशाखायें कंठ,

महामातृकाधमनी
— का क्षेत्र —

कर्णपश्चिमा धमनी
कपालमूला
उरःकर्णमूला पेशी
अन्तः मातृकाधमनी
बहिःमातृका (शिरोधरा) धमनी
महामातृका धमनी और इड़ा नाड़ी
जिह्वामूला नाड़ी की शाखा
कक्षागामिनी नाड़ी
अंशाधमनी
ग्रैव पर्शुका ध०

उत्ताना शंखधमनी
अन्तः मुख-धमनी
अन्तर्हनु ध० (कटी हुई)
मुखनाड़ी की शाखायें (इनके पक्षाघात से ही लकवा होता है)
बहिःजिह्वा शिरा
जिह्वाधो धमनी
उत्तरग्रीवाधमनी
बहिर्हनुधमनी
स्वरयंत्र पोषणी ध०
ग्रैवेयी ग्रंथि
टेंटुआ (श्वासप्रणाली)

पृष्ठच्छदा पेशी
अक्षक
उरःकर्णमूला पेशी (कटी हुई)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

स्वरयन्त्र, स्वरयन्त्र की कृकाटक नामक तरुणास्थि और मन्या की उर:कर्णमूलिका पेशी का पोषण करती हैं।

२–जिह्वा धमनी (लिंग्वल आर्टरी *Lingual artery* ) इसकी भी चार प्रशाखायें, क्रमश: कंठ, जिह्वा का ऊपरी भाग, निचला भाग और भीतरी भाग को जाती हैं।

३–मुख धमनी (फेशल आर्टरी *Facial Artery* या एक्सटर्नल मैगजिलरी ) यह धमनी निचली हनु ( ठोड़ी ) के बाहर एक खाई से होती हुई, मुख-मण्डल पर आती है, वहां कपोल, मुख के कोने और नाक के किनारे होती हुई आंख के आन्तरिक कोए तक पहुंचती है। इसकी प्रशाखायें क्रमश: तलुवे को, जिह्वा को, कण्ठ के अन्दर उपजिह्वा को, ठोढ़ी के निचले भाग को, उसके पास लगती हुई लाला ग्रन्थियों ( गिल्टियों ) को, निचले ओठ को, ऊपरी ओठ को नाक के किनारे को और नाक की जड़ को जाती हैं।

(५१७) बहिर्मातृका धमनी (ऐक्सटर्नल कैरोटिड आर्टरी) की कान के नीचे फिर दो शाखायें हो जाती हैं, एक ऊपर कर्णपुटी को जाने वाली 'शंखोत्तरा', दूसरी आड़ी होकर कान, कपोल और ललाट तक पहुंचने वाली "अन्तर्हनु धमनी" ( इन्टरनल-मैग्जीलरी *Internal maxillery*)। इसकी प्रशाखाओं में से एक-एक तो कान में गहरी जाती हैं। तथा कान के पर्दे पर फैलती है। दूसरी दो शाखायें मस्तिष्क की झिल्ली को जाती हैं। एक दांतों के नीचे जाती है। एक हनु को, एक कपाल को। ऐसे ही दांतों के पीछे, नेत्रों के नीचे, तालुओं के ऊपर तथा जतूकास्थि के आस-पास भी इसी की शाखायें पहुंचती हैं।

"कंठ धमनी' ( *Ascending Pharyngeal* असैंडिंग फेरींजीयल आर्टरी) इसकी शाखायें अन्न-नली के ऊपरी भाग, तथा कान और मस्तिष्क की झिल्लियों को जाती हैं।

"कपाल मूला" ( *Occipital* औक्सीपीटल आर्टरी ) इसी की प्रशाखायें मन्या की उर:कर्ण मूला पेशी, शंखास्थि कान के बाह्य-भाग और मस्तिष्क की झिल्ली, सिर की पिछली पेशी और गर्दन के पीछे रहने वाली लम्बी मांस-पेशियों तथा त्वचा को रक्त पहुंचाती हैं।

पश्चिम कर्ण धमनी ( *Posterior auricular* पोस्टीरियर औरीक्यूलर )। इसकी शाखायें कान के पीछे और कर्णमूल-ग्रन्थि के आस-पास फैलती हैं और कर्ण विवर में होती हुई, कान के अन्दर पीछे की ओर तथा कपाल के पिछले भाग को रक्त पहुंचाती हैं।

"शंखोत्तरा" ( *Superficial Temporal* सुपरफिशियल टेम्पोरल ) बहि:शिरोधीया की यह सीधी मोटी शाखा कान के आगे तिर्छी ऊंची चढ़ती हुई कर्णमूला ग्रन्थि को पार करके कान के आगे आती है और कनपटी में दो शाखा होजाती हैं। वे कपालाग्रा और कपालपार्श्वा कहलाती हैं। और भी कुछ शाखायें मुख, कान, शंख और गंडस्थल का पोषण करती हैं।

(५१८) अन्त: शिरोधीया ( अन्त: मातृका *Internal carotid Artery* इन्टरनल कैरोटिड आर्टरी )। शरीर के सबसे नाजुक और मूल्यवान अङ्ग-मस्तिष्क और आंखों का पोषण इसी धमनी की चार शाखायें करती हैं। उनमें एक गले के आजूबाजू, दूसरी जतूकास्थि के अगल-बगल, तीसरी

खोपड़ी के अन्दरी किनारे का और चौथी मस्तिष्क के तले का पोषण करने वाली हैं।

तीसरी शाखा में से एक चाक्षुत्री धमनी ( *Occular Artery* औक्यूलर आर्टरी ) निकलती है जो दृष्टिनाड़ी के साथ-साथ नेत्रगुहा में जाती है और तीन शाखाओं युक्त होकर नेत्रगुहा की पेशियों, दिमाग़ की झिल्लियों, ललाट और नासिका की जड़ में रक्त पहुंचाती है।

चौथी शाखा की चार प्रशाखाओं में से एक बहुत मोटी होती है। वह "अभिमस्तिष्का धमनी" कहाती है यह मस्तिष्क के गोलार्ध में गहरी घुस कर सैकड़ों शाखाओं में बंटती हुई उसे रक्त पहुंचाती है।

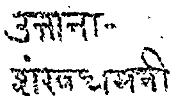
(५१९) गर्दन के पास से ही शिरोधीया के अलावा जो अक्षाधरा धमनी निकली थी उसकी एक एक शाखा ऊंची जाती है। यह मस्तिष्क मातृका ( *Vertebral Arteries* वर्टेब्रल आर्टरीज़ ) कहलाती हैं। ये गर्दन के ऊपरी छः मोहरों के दाहिने बांये प्रवर्धनों के सहारे-सहारे चलकर पश्चिम कपालास्थि के अन्दर सुपुम्ना वाले महाद्वार में होकर घुस जाती हैं, और आगे चलकर दोनों शाखायें मिल जाती हैं फिर वह अनेकों प्रशाखायें छोड़ती हैं जिनमें एक गर्दन की पिछली पेशियों का पोषण करती है, और दूसरी रीढ़ के मोहरों के बीच में रहे छिद्रों द्वारा सुपुम्ना के छिद्रों में घुसकर नीचे को तमाम सुपुम्ना में रक्त पहुंचाती है। अन्य छोटी-छोटी शाखायें मस्तिष्क की अगली पिछली पेशियों, सुपुम्ना के सिरे और पुल का पोषण करती हैं। (जो आगे नाड़ी-मण्डल में आयेंगे तथा तीन शाखायें "अणुमस्तिष्क" ( *Ceribellum* सैरीबलम ) का भी पोषण करती हैं। यह अणुमस्तिष्क वह निरन्तर काम करने वाला छोटा दिमाग़ है जो हृदय, रक्त-संचार, फुफ्फुस, आंतें, आदि सब प्रमुख अवयवों को हरदम संभालता रहता है।

(५२०) मस्तिष्क मूलीय धमनी चक्र (*Arteriar circle of willis* आर्टिरियर सर्कल ओफ विलिस) उपरोक्त दोनों ओर की मस्तिष्क मातृका-धमनियां मिलकर बनी हुई एक धमनी में से अनेक उपरोक्त शाखायें छूटने के बाद फिर दो शाखायें हो जाती हैं जो एक ओर मस्तिष्क-मध्याधमनी और दूसरी ओर उसी की मूल रग अन्तः शिरोधीया से से जा मिलती हैं।

उनसे आगे चलकर ये दोनों शाखायें फिर पास-पास आजाती हैं। बल्कि एक टुकड़ा इन दोनों शाखाओं को पुल की भांति मिला भी देता है जिसे अग्रयोजक धमनी(*Anterior Communicating* ऐंटीरियर कम्यूनिकेटिंग आर्टरी)कहते हैं। इस टुकड़े से भी तीन शाखायें निकलती हैं। इस प्रकार दोनों मस्तिष्क-मातृकाओं से मिलकर बनी हुई "अग्रमूला" ( *Basilar* वेसीलर आर्टरी *artery* ) तथा उसके आगे छूटी हुई शाखाओं का एक चक्र बन गया। यही मस्तिष्क मूलीय धमनी-चक्र है। इस चक्र में से अनेक शाखा निकलकर तमाम मस्तिष्क का पोषण करती हैं।

(५२१) गर्दन के नीचे अक्षाधरा धमनी की शाखायें तथा महाधमनी से भी छाती में निकली हुई कई शाखायें उल्लेखनीय हैं। कुछ तो हृदय से महाधमनी चलती है वहीं से निकलकर हृदय की मांस पेशियों का पोषण करती हैं।

फिर तीन-चार पतली शाखायें निकल कर हृदय धर-कोष ( *Pericardium* पैरिकारडियम )


दाहिनी अन्तर्हनुधमनी का क्षेत्र.
(वाक्य ५१९)
उत्ताना-शंखज धमनी
अन्तर्हनु ध०
बहिर्मातृका (शिरोधीया) ध०
अधः नेत्रीया धमनी
अधर-दंतिका
अधरदंतिका
दांत और ओठों का पोषण करनेवाली
अधर-दंतिका की शाखा
अधरदंतिका धमनी
अन्तर्मातृका (शिरोधीया)
अग्रयोजनी शाखा
अग्रमस्तिष्का
मध्यमस्तिष्का धमनी
धमनी चक्र
सिर के पीछे की पश्चिम योजनी शाखा
पश्चिमा-मस्तिष्क ध०
अग्रमूला ध०
शृंखला ध० (मस्तिष्क मातृका)
मस्तिष्कमूल धमनी चक्र (वाक्य ४२०)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

के पिछले भाग पर फैली होती हैं। दूसरी दो-तीन शाखायें श्वास-नली के सहारे-सहारे चलती हैं। श्वास नली बांये दाहिने को बंटती है तब यह भी बंट जाती हैं और फेफड़ों में चल कर भी श्वासनली की वारीक शाखाओं के सहारे-सहारे ही इसकी शाखायें भी छाई रहती हैं। ये धमनियां फेफड़े के पोषण और उसकी झिल्लियों के परिपालन को रक्त लेजाती हैं। दूषित कार्वन-गैस शुद्ध होने के लिये फेफड़ों में रक्त लेजाने वाली धमनियां दूसरी ही हैं, जो सीधी हृदय से जाती हैं।

महाधमनी से ही निकली हुई अन्य शाखाओं में एक फेफड़ों के बीच में रहने वाली श्लेष्म ग्रंथियों (*Lymphatic Glands* लिमफेटिक ग्लैन्डस्) को रक्त पहुंचाती है।

दूसरी-अन्ननलिका का पोषण करती है। तीसरी वक्षोदरा पेशी (डायाफ्राम) के पिछले अर्द्ध-भाग का पोषण करती है। इसके अलावा हर ओर को दस-दस शाखायें और जाती हैं, इन्हें पर्शु कानुगा (*Intercostal Arteries* इन्टरकोस्टल आर्टरीज) कहते हैं। ये दूसरी से ११ वीं पसली तक हर एक के नीचले किनारे के साथ २ चलती और वहां की पर्शु कांतर पेशी (*Intercostal muscle* इन्टर कोस्टल मसल) का पोषण करती हैं। इन्हीं में से कई शाखायें वाहर को आकर छाती की अगली मांस-पेशियों और स्तनों को तथा त्वचा को भी रक्त पहुंचाती हैं।

(५२२) हंसली (अक्षक) के नीचे होकर जाने वाली "अक्षाधरा" धमनियां (सवक्लावियन आर्टरीज *Subclavian arteries*) कहलाती हैं। "बांई अक्षाधरा" महाधमनी के मोड़ पर से सीधी निकलती है और दाहिनी अक्षाधरा दाहिनी भुजा की ओर जाने वाले भुजगा धमनी से निकलती है। ये अक्षक (हंसली) के नीचे, तथा पहली पसली के ऊपर होकर अक्षक (हंसली) तथा उसके नीचे की पहली पसली का भी पोषण करती हुई अपनी-अपनी ओर बगल तक जाती हैं, वहां यही कक्षाधरा धमनी कहलाती हैं। इसकी एक शाखा मस्तिष्क मातृका (वाक्य ५१६) होती है। दूसरी कंठधमनी।

(५२३) कंठधमनी की तीन प्रशाखा होती हैं। एक अधरा-जो छः नालियों में बंटकर क्रमशः श्वास-नली, स्वर-यन्त्र, अन्ननली, गर्दन की गिल्टियां तथा कंठ की अगली पेशियों का पोषण करती हैं। दूसरी कंठपश्चिमा - यह गर्दन के पीछे की पेशियों को रक्त पहुंचाती हैं, और तीसरी अध्यंसा - यह कंधे की हड्डी के ऊपर फैलकर गर्दन और खवे की पेशियों का पालन करती हैं।

(५२४) अक्षाधरा की तीसरी शाखा "कंठ-पर्शुकीया" (*Costo-cervical* कोस्टोसरवाइकल) है। यह दो नन्हीं शाखाओं में बंट जाती हैं जिनमें से एक गले की पेशियों में गहरी चली जाती है, और दूसरी पसली नं० १ और २ के बीच में जाती है।

"स्तन धमनी" यह हर ओर की अक्षाधरा में से निकलकर पहिली ६ पसलियों की तरुणास्थियों के पीछे २ नीचे उतरती है और ६ प्रशाखायें छोड़ती है। वे शाखायें फेफड़ों के बीच में, हृदयधरा झिल्ली में, उरोदरा पेशी में, उरोस्थि में, फुफ्फुसधरा झिल्ली में और पसलियों के वीच के भाग में फैलती हैं। फिर वे सामने की ओर वाहर आकर 'धमनी चक्र' वनाती हैं जिससे-स्त्रियों में विशेष कर- स्तनों को रक्त पहुंचता है।

छठी पसली के नीचे इस धमनी की दो शाखायें होकर उदर में उतरती हैं एक सीधी नाभि तक और नाभि से नीचे तक अपनी ओर की उदर-दीवार का पोषण करती है, दूसरी शाखा तिर्छी चलकर उरोदरा पेशी, स्तन और छाती के किले में अन्दर को गहरी बसी हुई पेशियों का पोषण करती है।

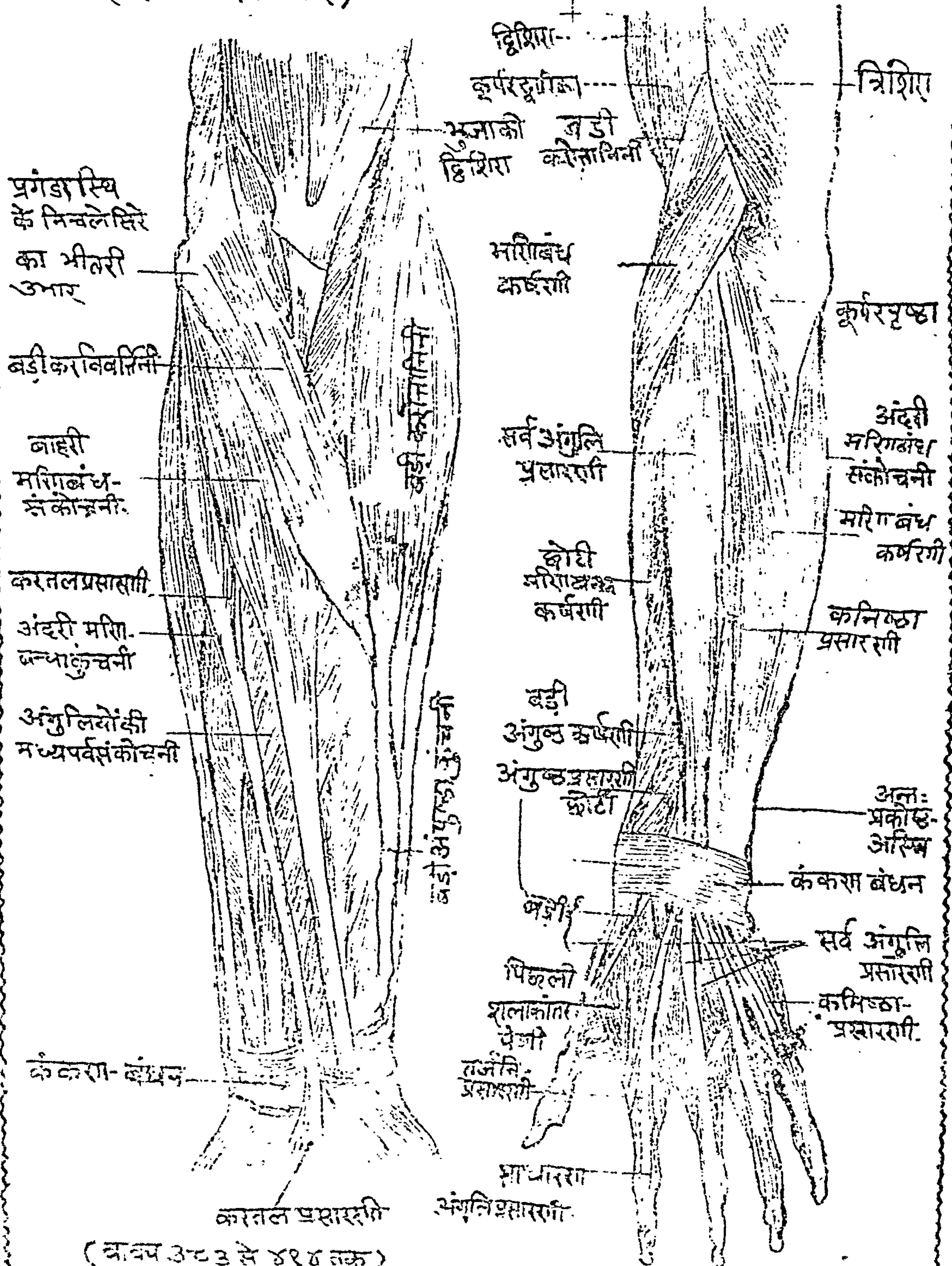
(५२५) भुजाओं की धमनी दाहिनी और बांई "अक्षाधरा" में से दाईं भुजा धमनियां ( *Innominate* इन्नोमीनेट आर्टरी ) निकलती हैं। ज्यों-ज्यों वे आगे बगल से बाहु में, नीचे-नीचे उतरती हैं त्यों-त्यों नई शाखाएं छोड़ती और पतली होती जाती हैं। गर्दन से बग़ल तक आने के बाद 'अक्षाधरा धमनी' ही कक्षाधरा (*Axillary* ऐग्जीलटी आर्टरी) होजाती है। इसकी ६ शाखायें ऊपर नीचे जाकर कंधे और छाती के पसवाड़े का पोषण करती हैं। स्त्रियों के शरीर में इस धमनी में से एक बड़ी शाखा (*Lateral thoracic* लेटरल थोरेसिक ) अर्थात् "बहिर-स्तन्या धमनी" निकलकर पूर्वोक्त स्तन-धमनी से मिलती है, और वह धमनी चक्र बनाती है जिससे स्तनों को रक्त जाता है।

(५२६) यह "कक्षाधरा धमनी" अंसाधरा पेशी की कंडरा को पार करने के बाद बग़ल से कोहनी तक भुज-धमनी ( *Brachial Artery* ब्रेशियल आर्टरी ) कहलाती है। कोहनी के बाद इसकी दो शाखायें बढ़कर कलाई तक जाती हैं वे प्रकोष्ठ धमनियां कहलाती हैं।

बग़ल से कोहनी तक इससे सात-आठ शाखायें निकलती हैं। एक गंभीर प्रगंडिका ( *Profunda brachii* प्रोफंडा ब्रेशियाई ) पेशी के पीछे तिर्छे चक्कर खाए रहती है त्रिशिरा पेशी को रक्त देती और कोहनी के पास धमनी-चक्र बनाती है। दूसरी शाखा खास प्रगंडास्थि का पोषण करती है। तीसरी और चौथी शाखायें ( अलनार कोलेटरल *Ulnar-collateral* ) कोहनी के आगे पीछे रहती हैं। तथा ३ शाखायें काकोष्ठा, द्विशिरा तथा कूर्पर पेशियों का पालन करती हैं।

(५२७) कोहनी से आगे भुज-धमनी की दो शाखायें होजाती हैं। उनमें से एक अंगूठे तक सीधी बड़ी करोत्तानिनी पेशी के सहारे-सहारे अन्दर की ओर अंगूठे की जड़ तक चली आती है। वहां से तिर्छी होकर अंगूठे के पीछे की ओर मुड़ जाती है। और फिर अंगुष्ठ तथा तर्जनी की शलाका करभास्थि के बीच में, फिर हथेली की ओर आजाती है और गहरी "करतल धन्वी" नामक धमनी बन जाती है, जिसे (डीप वोलर आर्क *Deep volar arch*) कहते हैं। अंगुष्ठ की जड़ से कोहनी की ओर तीन अंगुलियां रखकर जो नाड़ी देखी जाती है उसमें इसी धमनी की फड़कन मालूम देती है। इसी से इस बहिः प्रकोष्ठाधमनी (*Radial Artery* रेडियल आर्टरी) को "नाड़ी" भी कहते हैं। इसकी पांच ६ शाखायें भिन्न २ पेशियों को जाती हैं।

(५२८) भुज-धमनी की दूसरी शाखा अंतः-प्रकोष्ठा धमनी (लअनार *Ulnar* ) आर्टरी है। यह कोहनी से कलाई तक और उससे भी आगे हथेली के बीच तक कनिष्ठा अँगुली की ओर ही रहती है। वहां से धनुष की भांति मुड़कर बहिप्रकोष्ठा धमनी (नाड़ी वाली धमनी) की एक शाखा में जा मिलती है। इस धमनी की एक शाखा कोहनी पर, दूसरी


बायें हाथकी ऊपरी पेशियां
(सामने की ओर)
(पीछे की ओर)
प्रगंडास्थि के निचलेसिरे का भीतरी उभार
बड़ीकरनिवर्तिनी
बाहरी मणिबंध-संकोचनी
करतलप्रसारणी
अंदरी मणिबन्धाकुंचनी
अंगुलियोंकी मध्यपर्वसंकोचनी
कंकण-बंधन
करतल प्रसारणी
(वाक्य ३८३ से ४१८ तक)
भुजाकी द्विशिरा
बड़ी अंगुष्ठ कुंचनी
द्विशिरा
कूर्परद्रुमिका
बड़ी करोत्तानिनी
त्रिशिरा
मणिबंध कर्षणी
कूर्परपृष्ठा
सर्व अंगुलि प्रसारणी
अंदरी मणिबंध संकोचनी
मणिबंध कर्षणी
छोटी मणिबन्ध कर्षणी
कनिष्ठा प्रसारणी
बड़ी अंगुष्ठ कर्षणी
अंगुष्ठप्रसारणी छोटी
अन्तःप्रकोष्ठ-अस्थि
कंकण बंधन
सर्व अंगुलि प्रसारणी
पिछली शलाकांतर पेशी
कनिष्ठा-प्रसारणी
तर्जनी प्रसारणी
अंगुलि प्रसारणी

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

उसके पीछे, तीसरी मोटी शाखा दोनों प्रकोष्ठास्थियों की झिल्ली के आगे चलती हैं और चौथी उस झिल्ली को फोड़कर उसके पीछे २ आती है। दो शाखायें कलाई पर आगे और पीछे धमनी-चक्र बनाती हैं और एक हथेली में ऊपर की ओर, धनुष जैसी मुड़ी रहती हैं। इसमें से ३ शाखायें चारों अंगुलियों की शलाकाओं के बीच में रहती हैं तथा एक शाखा हथेली में गहरी जाकर फिर उसी ऊपर कहे धनुष में जा मिलती है।

वाक्य ५२५ में जो 'करतल धन्वी" बता आए हैं उसकी एक प्रशाखा दो भाग होकर, अंगूठे के दोनों ओर रक्त पहुंचाती है तथा एक शाखा तर्जनी अंगुली में अंगूठे की ओर जाती है। तीन अन्य शाखायें उंगलियों की शलाकाओं के बीच में रहती हुई, उनकी जड़ में जा मिलती हैं और शलाका-पृष्ठिका (डोरसल मैटाकारपल *Dorsal metacarpal*) नाम की चार शाखायें हथेली की पीठ पर छाई रहती हैं। इनमें से भी दो-दो शाखायें निकलकर अंगुलियों को जाती हैं। इस प्रकार अंगूठे और हर अंगुली के आस-पास चार-चार धमनियां होती हैं।

इनमें करतल (हथेली) वाली धमनियां, आगे की ओर अंतिम पोरुवों पर एक-एक धमनी-चक्र बनाती हैं। जब हम पोरुआ दबाते हैं तो इन्हीं के कारण वह लाल पड़ जाता है। इसी प्रकार कर-पृष्ठ वाली धमनियां नखों के नीचे एक-एक धमनी-चक्र बनाती हैं।

## पैरों की धमनियां-

(५२९) टांगों के ऊपरी सिरे (नितम्ब) "अन्तःश्रोणिका धमनी" (*Internal illiac Artery* इन्टरनल इलीयक आर्टरी) की छोटी २ शाखाओं से छाये हुए हैं, जो आगे और्वी धमनी की शाखाओं से मिलजाती है। और्वी धमनी ऊरु की धमनी (*Femoral* फीमोरल आर्टरी) है। नीचे टांग की तमाम धननियां इसी से निकलती हैं। यह नाभि के नीचे बंट जाने वाली महाधमनी की बांई और दाहिनी शाखा हैं जो वंक्षण सुरंग के पार होते ही "और्वी धमनी" कहलाती हैं। यह कनिष्ठा अंगुली जैसी मोटी है, और वंक्षण पर टांग के बीचों-बीच में होती है, परन्तु नीचे उतरती है त्यों-त्यों घुटने के अन्दर को होती जाती है। घुटने पर यह, उसके पीछे होकर गुजरती हुई, जानुपृष्ठा धमनी (*Popliteal Artery* पोपलिटियल आर्टरी) कहलाती है। फिर नीचे, भुजा के प्रकोष्ठ की भांति इसकी भी दो शाखायें होकर एड़ी तक चली जाती हैं।

(५३०) और्वी धमनी की एक दर्जन शाखायें हैं। एक वंक्षण के पास निकलकर पेट की दीवार में फैलती हुई नाभि तक जाती है और वंक्षण की श्लेष्मिक गिल्टियों का भी पोषण करती है। यह ऊर्वोदरी (सुपरफिशियल ऐपीगेस्ट्रिक) कहलाती है। दूसरी शाखा जघन अस्थि और वंक्षण की चमड़ी को रक्त पहुंचाकर गहरी श्लेष्म ग्रन्थियों को चली जाती हैं यह जघन-वेष्टनी (इलियक सरकमफ्लेक्स) हुई। तीसरी वंक्षण से आड़ी चलकर उपस्थ और भग-संधि तक जाती है यह उपस्थ धमनी (*External Pudendal* एक्सटर्नल प्यूडेन्डेल) है जिसकी एक शाखा ऊपरी होती है और एक गहरी जाती है। ५ वीं शाखा ऊरु में गहरी जाती है जो प्रोफन्डा फीमोरस (गंभीरोरुका) पहले भी बता

आये हैं। इसकी दो बड़ी शाखायें पुनः तीन-तीन शाखाओं में बंटकर ऊरु के ऊपर-नीचे इधर-उधर छाई रहती हैं। एक शाखा महाजानु धमनी है (*Highest Genicular* हायेस्ट जेनीक्यूलर ) जो घुटने को रक्त देती है, और वहां आगे की ओर धमनी-चक्र बनाकर अन्य पेशियों का भी पोषण करती है। ५-६ अन्य शाखायें भी इससे निकलकर जांघ की द्विशिरा आदि मांस-पेशियों को जाती हैं।

(५३१) घुटने के पीछे औवीं धमनी का जो भाग है उसे "जानुपृष्ठा" धमनी कहते हैं। उसकी कुछ शाखायें त्वचा को जाती हैं, दो-तीन जंघा की छोटी-छोटी मांस पेशियों को जाती हैं; दो घुटने के नीचे, दो ऊपर तथा एक मध्य में रहती हैं। उससे नीचे औवीं धमनी की दो शाखायें होजाती हैं। एक पिंडली में आगे को जाती है ( जंघाग्रा ) और दूसरी पीछे की ओर ( जंघा-पश्चिमा )।

जंघाग्रा घुटने से पैर के गट्टे तक पैर के आगे की ओर रहती है, तथा फिर स्वस्तिक-बंधन के नीचे से गुजरती हुई यह पैर के मणिकों और आधी शलाकास्थियों तक पैर के बीचों-बीच में जाती है। पंजे पर यह हाथ से भी टटोली जा सकती है। इसकी दो शाखायें अगली और पिछली "जानुरुहा" ( *Tibial recurrent* टिबियल रिकरेंट ) होती है। और भी दो शाखायें गट्टे पर हैं जो अगली और पिछली गुल्फ-धमनियां ( *Malleolar* मैली-ओलर ) कहलाती हैं।

(५३२) औवीं की दूसरी शाखा जंघापश्चिमा धमनी ( पोस्टीरीयर टिबियल आर्टरी ) है जो "जानुपृष्ठा" पेशी के निचले किनारे से चलकर पार्ष्णि ( एड़ी ) के बीच तक टांग के पीछे-पीछे आती है और फिर अन्दर के गट्टे के नीचे होती हुई तलुवे तक जाती है।

अंगूठे के नीचे जैसे हाथ में नाड़ी देखते हैं उसी तरह पैर के भीतरी गट्टे के नीचे भी अंगुली लगाकर नाड़ी देखी जाती है। उसमें इसी "जंघा-पश्चिमा" धमनी की फड़कन-अनुभव होती है। कभी हाथ पर चोट लग जाय, या अत्यन्त निर्बलता के कारण हाथ की नाड़ी प्रतीत ही न हो तब यह पैर की नाड़ी देखी जाती है। इस जंघा पश्चिमा से भी अनेक शाखायें छूटती हैं।

(५३३) एक वहिर्जंघिका (*Peroneal* पैरो-नियल) मोटी शाखा है जो घुटने से ३-४ अंगुल नीचे निकलती है और तिर्च्छी पिंडली के बाहर की ओर चली आती है। उसकी एक शाखा अनुजंघास्थि ( *Fibula* फीबुला ) का पोषण करती है, दूसरी इसके और जंघास्थि के बीच की झिल्ली को भेद कर पिंडली के अगले भाग का पोषण करती है। तीसरी एड़ी के पीछे जाती है तथा चौथी एड़ी में बाहर की ओर वाली कूर्चास्थियों तथा कुछ पेशियों का पोषण करती है।

(५३४) जंघापश्चिमा की दूसरी शाखा — जंघास्थि ( *Tibia* ) का पोषण करती है। तीसरी शाखा एड़ी के पीछे जाती और वहां धमनी-चक्र बनाती है। चौथी ३–४ शाखायें एड़ी के अन्दर की ओर धमनी-चक्र बनाकर पैर के तलुवे का पोषण करती हैं। ५ वीं पैर के अन्दर के गट्टे में पीछे की ओर पहुंच कर एक धमनी-चक्र बनाती है तथा इसी जंघा-पश्चिमा के दो अंतिम

पैर की पेशियां और धमनियां

भाग तलुवे में एक आन्तरिक और एक धनुषाकार धमनी बन जाते हैं जो क्रमशः पैर के तलुवे के अन्दर की किनारी, मांस-पेशियां और चमड़ी का पोषण करती हैं। छठी शाखा तिर्छे रूप में पैर के पंजे के अन्दर के भाग से बाहर की ओर छोटी अंगुली तक जाती है। वहां से घूमकर वह अंगुष्ठ शलाकास्थि की जड़ तक उल्टी लौटती है और पाद-पृष्ठा धमनी की शाखाओं से मिलजाती है। इस टेढ़ी-मेढ़ी धमनी में से अनेक शाखाएं छूटती हैं। चार तो पांचों शलाकाओं के बीच के चार स्थानों में रहती हैं, और दो-दो शाखाओं में बंटकर अंगुलियों के इधर-उधर रहकर अंगुलियों का पोषण करती हैं और दो शाखायें एक अंगूठे की अन्दर की ओर तथा दूसरी कनिष्ठा अंगुली के बाहर की ओर चली जाती हैं।

(५३५) पंजे की अन्य धमनियां दो भागों में बांट सकते हैं। तलुवे की ओर "नीचे वाली" और पंजे के "ऊपर वाली"। ऊपर वाली ४ शाखायें हैं; एक एड़ी पर बाहर की ओर, एक अन्दर की ओर कूर्चास्थियों का पोषण करती हैं। तीसरी अंगूठे की पीठ को जाती है और चौथी फिर अनेक शाखायें छोड़ती है। उनमें अंगूठे और कनिष्ठा अंगुली की ओर तीन २ शाखायें जाती हैं, तथा शेष तीनों अंगुलियों को दो-दो। ये नखों के नीचे पहुंचकर छोटे छोटे धमनी-चक्र बनाती हैं। ये सब जिस धमनी की शाखायें हैं उसे पादपृष्ठा (*Dorsalis pedis* डोरसेलिस पेडिस) कहते हैं।

(५३६) पैर के तलुवे में प्रधान नाड़ी (धमनी) पदतल धन्वी (*Lateral plantar* लेटरल प्लान्टर आर्टरी) कहते हैं। पार्ष्णि तथा नौकाकार कूर्चास्थियों के जोड़ के नीचे से चलकर यह कनिष्ठा अंगुली की शलाकास्थि की जड़ तक जाती है। वहां से फिर अंगूठे की शलाकास्थि की जड़ तक आड़ी जाती है। वहां पाद-पृष्ठा की शाखा से मिलजाती है। इसमें से अनेक प्रशाखाएं निकलती हैं। उनमें से पांचों शलाकाओं के बीच के चार स्थानों में इसकी चार शाखाएं रहती हैं। वे दो-दो शाखा बनकर अंगुलियों पर इधर-उधर लगकर उन्हें रक्त देती हैं। इस प्रकार ये दशों शाखाएं अंगुलियों के अन्तिम पोरों तक पहुंचती और वहां धमनी-चक्र बनाती हैं।

# केशिकायें ( Capillaries कैपिलेरीज़ )

(५३८) इस प्रकार धमनियों में हृदय से भेजा हुआ शुद्ध रुधिर शरीर के पास और दूर के कोने-कोने तक पहुंचा दिया। इनमें अधिकांश धमनियां, पेशियों को रक्त पहुंचाती हैं। कुछ अस्थियों को कुछ शाखायें नाड़ियों को रक्त पहुंचाती हैं जिनका वर्णन आगे आवेगा और कुछ शाखायें त्वचा और झिल्लियों को जाती हैं। स्वयं रक्त बहाने वाली धमनी और शिराएं भी अपने पोषण के लिये; उस बहती धारा में से कुछ नहीं लेतीं। बल्कि छोटी २ अलग धमनियां ही जाकर उन्हें भी रक्त पहुंचाती हैं। इसी प्रकार रक्त के बड़े व्यापारी हृदय और फुफ्फुस भी उस पूंजी में से पाई भर न चुराकर, अपने गुजारे को रुधिर अलग धमनियों से ही पाते हैं।

परन्तु इन धमनियों में तेजी से बहता हुआ

रक्त जो शरीर के काम में नहीं आता। उसमें से पोषणकर्ता श्लेष्मा (लसीका *Lymyh* लिंफ) तभी झरता है जब रुधिर केश से भी कहीं अधिक बारीक रंगों के जाल में; धीरे-धीरे आगे सरकता है। इन रंगों को केशिकायें ( *Capillaries* कैपीलरीज़) कहते हैं।

इनकी दीवालें ऐसी पतली झिल्ली में बंधी होती हैं जो सिर्फ एक २ जीवाणु की ही तह से बनी होती हैं। फलतः उनकी संधियों के बीच से रक्त का श्लेष्मा और पानी पार रिस जाता है।रक्त के लाल कण संधि से पार नहीं जा सकते, परन्तु श्वेतकण जौंक की तरह लम्बे-पतले होकर पार निकल ही जाते हैं। यह पहले बता आये हैं। प्रत्येक पेशी नाड़ी, धमनी, सिरा, अस्थि, त्वचा, और सूत्र तक के जीवाणुओं के आस-पास ऐसी ही केशिकाओं का जाल छाया रहता है। सिर्फ नख, तरुणास्थि और केश के जीवाणुओं के आस-पास यह केशिका-जाल नहीं होता।

(५३९) मस्तिष्क की केशिका रगें सबसे बारीक होती हैं। कभी-कभी रक्त में कुछ विकार आने से उसमें छोटी सी कणिका जम जाती है जैसे दूध में मक्खन। इसे रक्त-पिंड (*Thrombus* थ्रम्बस् ) कहते हैं और यह कभी-कभी दिमाग की बारीक केशिकाओं में फंस जाती है। वहां की केशिका एक इंच का कुल ४हजारवां भाग (१।४००० चौड़ी तो होती ही है। उसी दशा में मस्तिष्क के उस भाग से सम्बन्धित अंगों में कुछ उदासी छा जाती है। इसका इलाज नीबू खाना या उसके रस की सिकंजी पीना है। नीबू, नारङ्गी और सन्तरे के रस से रक्त पतला होजाता है और कुछ तेज भी चलता है। फलतः उस रक्त-पिण्ड (थ्रंबस) को वह वहां से घोल या वहा ले आता है। निम्बुरस सेवन से रक्त मस्तिष्क की बारीक केशिकाओं में भी स्वच्छंद वह सरकने लायक होजाता और बहता है। इससे दिमाग में बड़ी तरोताजगी, शांति और स्फूर्ति आती है।

(५४०) कदाचित् रक्त में ऐसा पिंड बड़ा बन जावे तो वह जाकर किसी छोटी धमनी को ही रोक देता है। इसे धमनी रोध(*Embolism* ऐम्बोलिज्म) कहते हैं। इससे रुकी हुई वह धमनी जिस २ अङ्ग का पोषण करती हो, वे सब मुर्झाने लगते हैं। इसका उपाय है उस अटकाव के स्थान पर मालिश करना और सेक तथा औषधियों द्वारा धमनियों को उत्तेजित करना। इतने पर भी वह रक्त-पिंड न हटे तो सावधानी से शल्य-क्रिया (*Operation*) औपरेशन करने की जरूरत होती है। कभी २ (*Operation*) औपरेशन से पहिले जो क्लोरोफार्म सुंघाते हैं, उसीसे धमनियां ढीली होजाती और यह विकार हट जाता है।

# 'सिरायें' Veins वीन्स

(५४१) सिरा की नली जिस मांस से बनी होती है उसमें उसकी तह पतली होती है और उसमें सूत्र कुछ अधिक होते हैं। ये सफ़ेद और पीले दोनों तरह के होते हैं, परन्तु पीले सूत्र कम होने के कारण उन दीवारों में लचक नहीं होती। इनकी नली के अन्दर जीवाणुओं की तह रूपी एक झिल्ली मढ़ी रहती है। उसमें जगह २ सिलवटें भी होती हैं जो किवाड़ों का काम देती हैं। ये किवाड़ ऊपर को

ही खुलते हैं, फलतः जो रक्त शिरा में चढ़ जाता है, उसे ये नीचा नहीं जाने देते। यदि काटा जाय तो धमनी तो लचक के कारण सिकुड़ कर भी नल जैसी ही रह जाती है, परन्तु सिरा की पतली दीवाल मुड़ कर ढुलक जाती है। इस लक्षण से लाश में भी धमनी या सिरा पहिचानी जा सकती हैं। महाशिरा, यकृती शिरा और फुफ्फुसीया शिराओं में उपरोक्त किवाड़ें (सिलवटें) नहीं होतीं।

(५४२) असंख्य बारीक-बारीक सिरायें भी धमनियों की भांति शरीर के कोने-कोने तक पहुंची हुई हैं परन्तु अधिकांश मध्यम कद की शिरायें अङ्गों में त्वचा की ओर अर्थात् कम गहराई पर होती हैं और नीली २ रगों के रूप में प्रायः दिखाई देती हैं।

धमनियों के बारे में जैसे यह बताया गया है कि वह अमुक अङ्ग से अमुक अङ्ग तक इस प्रकार सीधी तिर्छी या आड़ी जाती है वैसा सिराओं के बारे में नहीं कहा जा सकता। वे भिन्न २ मनुष्यों में कुछ भिन्न २ मार्ग भी ले-लेती हैं और एक दूसरी से खूब मिलती-जुलती चलती हैं। जगह २ वे अपने जाल बनाती हैं जिन्हें शिराचक्र कहते हैं और शिराओं की संख्या भी धमनियों से बहुत ज्यादा होती है।

(५४३) सबसे पहिले पैर की शिरायें लिखेंगे। वहां हर टांग में एक बड़ी सिरा पैर के तलुवे के अन्दर से चलती है, और पिंडलियों के अन्दर की ओर तिर्छी चढ़ती आती है। घुटने पर वह पीछे की ओर रहती है और वहां से फिर तिर्छी होकर जांघ में अन्दर की ओर से होती हुई, सामने को आती है। इसे बड़ी पादोत्ताना (*Great saphenous vein* ग्रेट सार्फेनस वीन) कहते हैं। यह यहां से आगे अन्य सिराओं से मिलकर और्वी सिरा (*Femoral vein* फेमोरल वीन) बन जाती है। नीचे से ही उसमें ज्यों-ज्यों शाखायें मिलती आती हैं यह मोटी होती जाती है। घुटने के पीछे तो यह ऐसी मोटी फैली रहती है मानों दो सिरायें जुड़ी हुई हों।

(५४४) छोटी पादोत्ताना (*Small saphenous vein* स्मोल साफेनस वीन) यह पैर के पंजे के ऊपर बाहरी गट्टे से शुरू होती और पिंडली के पीछे २ ही घुटने तक जाती है। इसकी दो एक शाखायें बड़ी पादोत्ताना से भी जा मिलती हैं। घुटने पर यह उसके पीछे रहने वाली 'जानु-पृष्ठा शिरा' (*Popliteal Vein* पोपलिटियल वीन) से जा मिलती हैं। पैर की पेशियों और नसों, झिल्लियों, हड्डियों और त्वचा के जीवाणुओं के आस-पास के शिराओं के असंख्य जाल हैं। वह हर जाल एक धमनी से शुरू होता है, बीच में अनेक केशिकाओं में बंट जाता है तथा अन्त में फिर केशिकायें मिल-मिलकर एक या दो नलियां ही रह जाती हैं। उन नलियों से एक-एक सूक्ष्म "शाखा-शिरा" चलती है। जो, कुछ और भी शाखा शिराओं से मिलकर जरा मोटी होजाती हैं। पंजे में तो ये शाखायें आकर एक शिराचक्र में जुड़ती हैं। ऐसा एक शिराचक्र पैर के नीचे है और एक पंजे के ऊपर है। उन चक्रों से रक्त लेकर यह छोटी-बड़ी पादोत्ताना शिरायें चलती हैं।

(५४५) जंघा (पिंडली) पर कई शिरायें गहरे मांस में होकर भी आती हैं। वे हैं, जंघा-पश्चिमा (पोस्टीरियर टिबियल वीन)। दूसरी-पिंडली के आगे की सिरायें संभालती हुई "जंघाग्रा-

सिरा" ( ऐंटीरियर टिबियल *Anterior tibial-vein* )। तीसरी "जानु-पृष्ठा" ( पोपलिटियल *Popliteal* ) है जो ऊपर बड़ी पादोत्ताना से मिलकर और्वी धमनी बनजाती है। चौथी बाहरी श्रोणीशिरा ( एक्सटर्नल इलियक वीन )। यह और्वी सिरा का ही वह ऊपरी भाग है जो वंक्षण के पार उदर-गुहा में चढ़ता है। ऐसे दोनों ओर के भाग मिलकर नाभि से ऊपर अधरा महासिरा (*Inferior vena-cava* इनफीरियर वीनाकेवा ) कहलाती है।

## भुजा की शिरायें-

(५४७) दोनों ऊर्द्ध शाखाओं में पंजे से ऊपर चार २ शिरायें चलती हैं। एक बाहरी, २-अन्दरी, ३-मध्या और ४ थी योजनी। इनमें बाहरी बाहुशिरा ( *Cephalic vein* सीफेलिक वीन ) यह शिरा अंगूठे की जड़ से शुरू होकर हाथ के बाहर-बाहर होती हुई आगे ऊंची बढ़ती है तथा कोहनी के जोड़ पर त्वचा के नीचे खूब चमकती है। और भी ऊपर प्रगण्ड में वह बाहर को चलती है और कन्धे की जड़ में फिर अन्दर को जाकर अक्षक हड्डी के नीचे होकर अंसच्छदा एवं उरच्छदा के बीच में गहरी उतरती है और बगल के नीचे कक्षाधरा सिरा में मिल जाती है।

(५४८) आन्तरिक बाहु शिरा ( *Basilic vein* बेसिलिक वीन ) यह कनिष्ठा अंगुली की जड़ से शुरू होकर हाथ में अन्दर की ओर ऊंची चढ़ती है। कोहनी के जोड़ पर अन्दर को दिखाई देती है और फिर प्रगण्ड में गहरी घुसकर कक्षाधरा में जा मिलती है। मार्ग में बाहरी बाहुशिरा से दो शाखायें आकर इसमें मिलती हैं।

(५४९) प्रकोष्ठ मध्या शिरा (*Median Anti Brachial Vein* मिडियन ऐन्टी ब्रेशियल वीन ) यह प्रकोष्ठ में उपरोक्त दोनों शिराओं के बीच में ऊपर सीधी चढ़ती है, और कोहनी पर आन्तरिक बाहुशिरा में जा मिलती है।

(५५०) चौथी-योजनी शिरा ( *Median cubital Vein* मिडियन क्यूबिटल वीन ) यह मोटी सिरा बाहरी आन्तरिक और मध्यासिराओं के बीच में जाल की भांति फैल कर परस्पर एक दूसरी को जोड़ती है।

(५५१) पंजे में करपृष्ठ (हथेली के पीछे) और करतल में ( आगे को ) एक-एक शिराओं का जाल होता है, जो तमाम अंगुलियों और हथेली से अशुद्ध रक्त संग्रह करता है। करपृष्ठ वाले जाल की ये शिरायें बाहरी बाहु-शिरा में जा मिलती हैं, और हथेली के जाल की शिरायें आन्तरिक और मध्या बाहुशिराओं से, इंजक्शन देने, फस्द खोलने, रक्त-मोक्षण करने या रक्त में नमकीन पानी अथवा अन्य का रक्त पहुंचाने के लिये बांह की आन्तरिक, बाहरी और मध्या तीनों ही शिरा उपयोगी हैं। ये त्वचा में बहुत ऊंची रहने के कारण पिचकारी की सुई इनमें आसानी से और ठीक-ठीक पहुंच जाती हैं।

(५५२) हाथ में कुछ गहरी शिरायें भी होती हैं। ये हर धमनी के साथ-साथ ही लगी होती हैं और सो भी दो-दो। हर धमनी के दाहिने और बांई ओर एक-एक शिरा लगी रहती है और कुछ आड़ी सिराओं द्वारा ये सब एक दूसरी से मिली होती हैं। इनके नाम भी धमनियों के अनुसार ही हैं। इस प्रकार पंजे की सब सिरायें मिलकर प्रकोष्ठ की चार शिरायें बनकर कोहनी तक आती हैं। वहां से दो

बाहु शिरायें बनकर भुज-धमनी के आस-पास लगी हुई बगल तक जाकर मिल जाती हैं, और एक "कक्षाधरा" शिरा ( *Axillary Vein* ऐग्ज़ीलरी वीन ) बनकर आगे हृदय को जाती है।

(५५३) इस कक्षा-धरा शिरा में कंधे की तथा हंसली के नीचे की शिरायें भी आ मिलती हैं और यह ऊपर से आने वाली महाशिरा में मिल जाती हैं।

# शिर की शिरायें–

(५५५) शिर (खोपड़ी और चहरे) के बाहरी भाग में १८ सिरायें हैं। हर ओर ६–६। इनमें एक मस्तकी सिरा ( ललाटिका *Frontal* फ्रून्टल ) नाक के ऊपर सीधी ऊंची जाती है। २–अधिभ्रुवा ( *Supra-orbital* सुप्रा ओर्विटल ) भौंओं के ऊपर-ऊपर जाती है। ये दोनों जिस व्यक्ति की मोटी हों, उसके ललाट में नील-तिलक जैसी उभर कर चमका करती हैं। ये दोनों सिरायें नाक की जड़ में जुड़कर 'नासामूलिका ( *Angular* ऐंग्यूलर ) सिरा बन जाती हैं और तिरछी चलकर कान के नीचे हनुकोण तक आती हैं। गंडस्थल से नीचे इन्हीं को मुखाग्रासिरा ( ऐंटीरियर फेशल ) कहते हैं।

दूसरी ओर कनपटी के पीछे और ऊपर 'शंख' देश के शिरा-जाल में से रक्त लाने वाली अनुशंखा ( सुपरफिशियल टैंपोरल ) सिरा है। दूसरी अंतर्हनु-धमनी के साथ २ आने वाली सिरा जबड़े के अन्दर से रक्त लाती है। जबड़े के नीचे ये दोनों सिरायें जुड़ कर मुखपश्चिमा ( पोस्टीरियर फेशल ) बनाती हैं। उसी में कान के पीछे से आती हुई एक पतली सिरा कर्णपश्चिमा ( पोस्टीरियर औरीक्यूलर *Posterior auricular* ) भी मिल जाती है।

हनुकोण के नीचे 'मुखाग्रा' और 'मुखपश्चिमा' सिरायें भी मिलकर 'अधिमन्या' सिरा ( ऐक्सटर्नल जुगुलर *External Jugular* ) नामक मोटी सिरा बनाती हैं, जो गर्दन में प्रायः मोटी रग के रूप में कभी-कभी फड़क उठा करती है।

खोपड़ी के पिछले सिरा-जालों में से रक्त लेकर कपाल-मूला सिरा (ऑक्सीपीटल *Occipital*) नामक सिरा आती है जो अन्तर्मन्या सिरा में मिल जाती है।

(५५६) गर्दन में हर ओर ५-५ सिरा हैं। १–ग्रीवाग्रा ( ऐंटीरियर जुगुलर ) यह जीभ की जड़ से रक्त लाती और अन्तर्मन्या में आ मिलती है। दूसरी स्वयं 'अन्तर्मन्या' ( इन्टर्नल जुगुलर वीन )–जो वड़ी मोटी सिरा है और कपाल के तले से गर्दन तक तिरछी उतरती हुई उरःकर्णमूला पेशी के सहारे-सहारे आती है। फिर अन्तःशिरोधीया और फिर शिरोधीया धमनी के साथ नीचे जाती है।

तीसरी 'अधिमन्या' सिरा, चहरे की ऊपरी सिराओं का रुधिर लाती है। कान की जड़ से हर ओर की हंसली के मध्य भाग तक आकर यह ग्रीवाग्रा, ग्रीवा-पश्चिमा तथा कन्धे की सिराओं से मिलती है। फिर यह और अनुमन्या दोनों सिरायें में अक्षाधरा ( सवक्लावियन *Subclavian* ) सिरा में मिल जाती हैं।

"ग्रीवापश्चिमा' सिरा कपाल के पिछले भाग का बाहरी रुधिर लाकर उक्त 'अधिमन्या' में मिलती है। इसे 'पोस्टीरियर ऐक्सटर्नल जुगुलर' कहते हैं।

( ५५७ ) गर्दन पर एक "वंशगाशिरा" ( *Vertebral* वर्टेब्रल ) और होती है जो इसी नाम की धमनी के साथ चलकर मस्तिष्क की जड़

तथा रीढ़ के मुहरों का रक्त लाती हैं और कण्ठमूला सिरा में मिल जाती है।

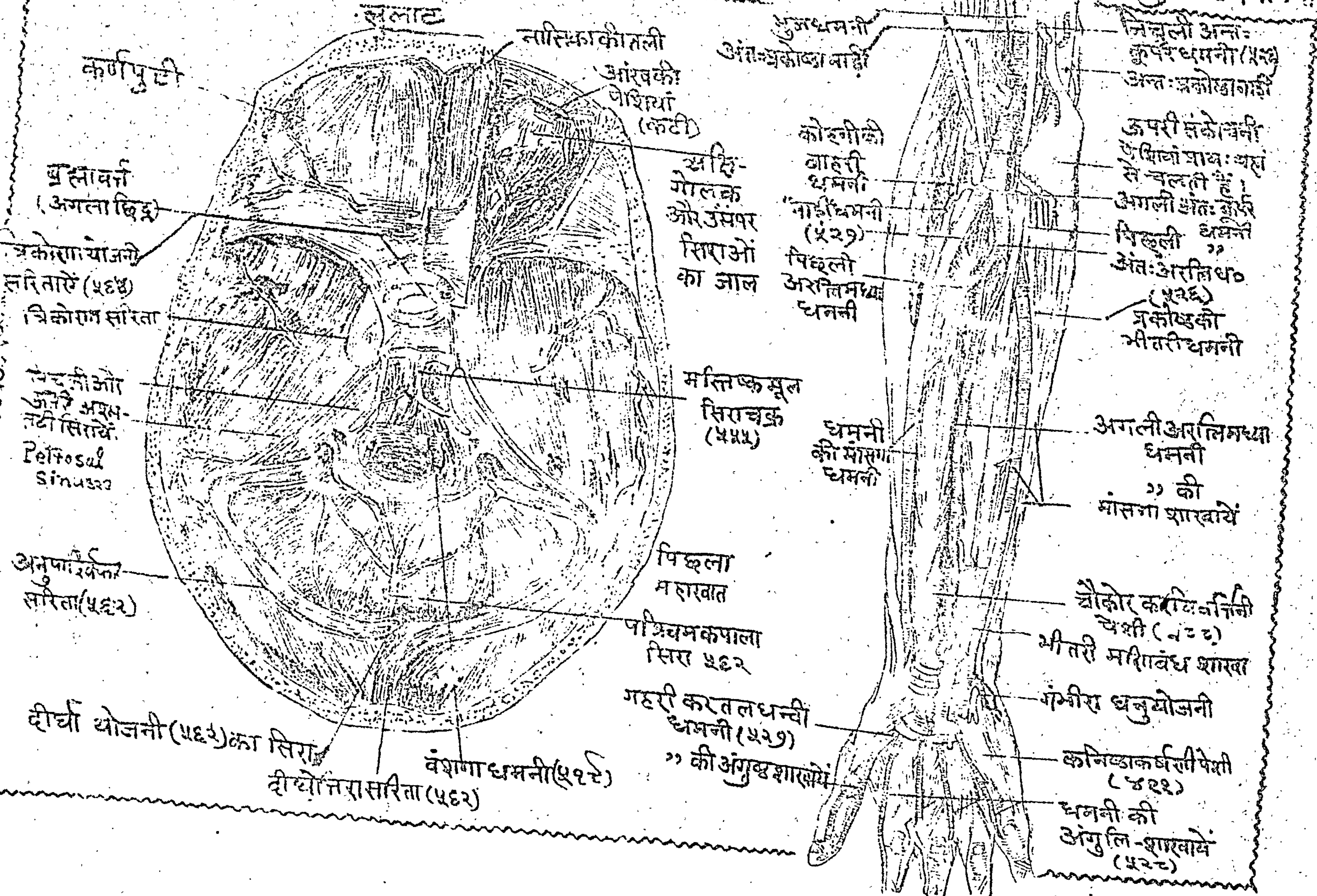
(५५९) कपाल के अन्दर की गहरी सिराओं का जाल बहुत घना है। वे तीन प्रकार की हैं। एक तो – कपाल की अस्थियों की झिरझिरी दीवारों में फैली हुई कपालपत्रांतरा ( *Diploic* डिप्लोइक ) सिरायें। ये ललाटास्थि, शंखास्थि के अग्रभाग और पश्चिम कपालास्थि में १-१ हैं जिनकी बारीक प्रशाखायें कपालास्थि के झिर-झिरे छिद्रों से रक्त संग्रह कर लाती हैं। दूसरी–मस्तिष्क की सिरायें कुछ तो बड़े मस्तिष्क ( *Cerebrum* सेरीब्रम ) से चलती हैं और कुछ छोटे मस्तिष्क ( *Cerebellum* सेरीबैलम ) से।

(५६०) बड़े दिमाग की 'मस्तिष्क-सिरा' भी कुछ तो दिमाग के अन्दरूनी भागों से आती हैं और कुछ उसके ऊपर घने हुए ऊबड़-खाबड़ स्थानों के बीच की दरारों ( सीताओं *Sulcus* सल्कस ) से। ये ऊपर वाली तो क्रमशः उत्तरा, अधरा और मध्यमा तीन सिराएँ बनाती हैं और, अन्दर वाली सिरायें मिलकर दो मोटी सिरायें "अन्त्या" ( *Terminal* टर्मीनल) और "शृंखलिका" (*Choroid* कोरोइड) बनाती हैं जो फिर मिलकर "बड़ी मास्तिष्क" (ग्रेट सेरिब्रल ) सिरा बनती और दीर्घा सिरा-सरिता में जा मिलती है।

(५६१) अणुमस्तिष्क (*Cerebellum* सैरीबलम ) की सिरायें दो मार्ग लेती हैं। ऊपर-ऊपर की तो दीर्घयोजनी सिरा सरिता में जा खुलती हैं और नीचे-नीचे की पार्श्विका तथा पश्चिमाधरा सरिताओं में जाती हैं।

(५६२) ये सरितायें बहुत चौड़े और खुले सिरा मार्ग हैं। कपाल के अन्दर छायी हुई झिल्लियां कई जगह उल्टी घूम-घूम कर दो पर्त्त बनाती हैं और उनके बीच वाली पोली जगह में ये चौड़ी सिराएँ रहती हैं। जतूकास्थि और शंखास्थि में ऐसी कई पोली दरारें हैं जिनमें होकर ये सिरा-सरितायें बहती हैं। ये मस्तिष्क का अशुद्ध रक्त लेकर नीचे – 'अन्तर्मन्या' सिरायें बनकर गर्दन से गुजरती हैं। इन सरिताओं में– सबसे मोटी "दीर्घोत्तरा" (*Superior Sagital sinus* सुपीरियर सैगीटल साइनस ) है जो झर्झरास्थि से शुरू होकर कपाल की पिछली अस्थि तक जाती है। दूसरी दीर्घाधरा (इन्फीरियर सैगीटल साइनस ) दीर्घयोजनी ( *Straight Sinus* स्ट्रेट साइनस ) मस्तिष्कच्छदा झिल्ली की मध्यरेखा में है तथा दो अनुपार्श्विका सरितायें ( *Transverse sinuses* ट्रांसवर्स साइनसैज ) पश्चिम कपाल की अन्दर की ओर भुजा की भांति स्थित हैं। पश्चिम कपाला सरिता(*Occipital sinus* ऑक्सीपीटल साइनस ) नन्हीं सी सिरा है जो पिछली कपालास्थि के छिद्र से चलकर "महावर्त्त" में मिल जाती है।

(५६३) यहां उक्त पांचों सिरासरितायें मिलती हैं अतः यह स्थान मस्तिष्क भर का सिरा-केंद्र है। इसे महावर्त्त, महासिरावर्त्त या "अधिपति-रन्ध्र" (*Posterior Fontanelle* पोस्टीरियर फॉंटानेल ) कहते हैं। हिन्दुओं में यही "शिखा" ( चोटी ) का स्थान है, जिसका महत्व वाक्य ४६ में बता आये हैं। सूच्याभरण रस आदि को इसी जगह पर प्रविष्ट किया जाता है जिससे वह क्षणभर में हृदय में पहुंच कर समस्त शरीर में व्याप्त हो सके।


(कपाल की तली में सिरा-सरितायें.)
ललाट
नासिका की तली
कर्णपुटी
आंख की पेशियां (कटी)
अक्षि-गोलक और उसपर सिराओं का जाल
ब्रुस्रावर्णी (अगला छिद्र)
त्रिकोण या योजनी सरितायें (५६४)
त्रिकोण सरिता
पिछली और ऊपरी अश्म-तटी सिरायें Petrosal Sinuses
मस्तिष्क मूल सिराचक्र (५५५)
अनुपार्श्विका सरिता (५६२)
पिछला महाखात
पश्चिम कपाला सिरा ५६२
दीर्घा योजनी (५६२) का सिरा
वंशणा धमनी (५१६)
दीर्घोत्तरा सरिता (५६२)
भुजा की धमनियां
द्विशिरा पेशी
भुजधमनी
अंतःप्रकोष्ठ नाड़ी
निचली अन्तः कूर्पर धमनी (५२७)
अन्तः प्रकोष्ठ नाड़ी
कोहनी की बाहरी धमनी
नाड़ी धमनी (५२७)
पिछली अरत्निमध्या धमनी
ऊपरी संकोचनी पेशियां प्रायः यहां से चलती हैं।
अगली अंतः कूर्पर
पिछली धमनी
अंतः अरत्नि ध० (५२६)
प्रकोष्ठ की भीतरी धमनी
धमनी की मांसगा धमनी
अगली अरत्निमध्या धमनी
,, की मांसगा शाखायें
चौकोर करविवर्तिनी पेशी (४८८)
भीतरी मणिबंध शाखा
गहरी करतल धनुधमनी (५२७)
गंभीरा धनुयोजनी
,, की अंगुष्ठ शाखायें
कनिष्ठाकर्षणी पेशी (४९२)
धमनी की अंगुलि-शाखायें (५२८)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

(५६४) अब कपाल की तली में पीछे के ओर ४ जोड़ा सरिता और रहीं। इनमें से एक जोड़े की नली तो गोल न होकर तिकोनी है अतः उसे त्रिकोणा-सरिता ( *Cavernous sinus* कार्वनस साइनस) कहते हैं। यह जतूकास्थि के पङ्खों में जो पोला स्थान है वहां से शंखास्थि के उभार तक आती है। दूसरी–इन त्रिकोणास्थि में जोड़ने वाली दो सरिता हैं वे अगली और पिछली योजनी-सरिता (इन्टर कावर्नस साइनस) कहाती हैं तीसरी शंखास्थि के उभार के ऊपर ऊपर–और नीचे नीचे जाने वाली दो सिराएं शंखाश्म तटी (*Petrosal* पैट्रोसल साइनस ) ये त्रिकोणी सरिताओं के ऊपर कही अनुपार्श्विकाओं से जोड़ती हैं। और वंशगा सरिता ( *Basilar plexus* वेसिलर प्लेक्सस ) एक शिरा-चक्र है, जो कपाल के तले में से रक्त लेकर रीढ़ में उतरता, दोनों शंखाश्म-तटियों को आड़ा जोड़ता और पहिले कही वंशगा-सिरा से जा मिलता है।

(५६५) इसके अलावा बहुत नन्हीं-नन्हीं 'परिवहनी' ( *Emissary* ऐमिसरी ) सिरायें भी असंख्य हैं जो कपालास्थियों की झिर-झिरी दीवारें पार करके मस्तिष्क के अन्दर से बाहर की ओर आती हैं, तथा जब अन्दर रक्त का दबाव अधिक हो तब सरिताओं का रुधिर बाहरी सिरा में ले आती हैं।

## छाती और पेट की सिरायें

(५६७) सिर की उक्त सिरायें और सिरा-सरितायें परस्पर मिलती हुई दोनों ओर एक-एक "अन्तर्मन्या" सिरा ( इन्टर्नल जुगुलर वीन ) बन जाती है। उधर भुजा बगल और छाती की कई सिरायें मिल-मिल कर अक्षाधरा(सबक्लावियन वीन) बनकर आती हैं। ये दोनों मोटी सिरायें भी गर्दन की जड़ में मिलकर "कण्ठमूला" सिरा बनती हैं। इसमें कई छोटी-मोटी और भी सिरायें आमिलती हैं। फिर दोनों ओर की कण्ठमूला सिरायें भी मिल जाती हैं और बन जाती है एक उत्तरा महासिरा ( *Superior venacava* सुपीरियर वीनाकेवा ) यह हृदय के दाहिने "अलिंद" में ऊपर की ओर से आजुड़ती है और तमाम मस्तिष्क, भुजाओं तथा पहली पसली तक का रुधिर उसमें उंडेलती रहती है। समस्त शरीर से श्लेष्मा लाने वाली 'महालसीका वाहिनी' भी इसी शिरा में जुड़ती है – और इसी के रुधिर में अपना दूषित ( परन्तु जगह-जगह गिल्टियों में शुद्ध किया हुआ ) लसीका ( *Lymph* ) मिला देती है। सिरा और अलिंद के इस द्वार पर कपाट नहीं होता।

खास हृदय का पोषण करने के बाद लौटा हुआ अशुद्ध रुधिर लाने वाली सिरायें दाहिने अलिंद में सीधी आजुड़ती हैं। उनके बहुत छोटे २ छिद्र अलग होते हैं।

(५६८) इनके पास ही फुप्फुसों से शुद्ध होकर आने वाला रुधिर लानेवाली चार "फुप्फुसीया सिरायें" (*Pulmonary veins* पल्मोनरी वीन्स) भी होती हैं। जो दोनों फुप्फुसों से दो-दो आकर, हृदय के बायें अलिंद में ऊपर तथा पीछे की ओर से जुड़ती हैं। शरीर भर में सिर्फ यही सिरायें शुद्ध रक्त बहाती हैं।

(५६९) छाती की जो सिरायें ऊपर कहे अनुसार कण्ठमूला में जामिलती हैं, उनमें कई उल्लेखनीय हैं। एक – अन्तःस्तन्यासिरा ( इन्टर्नल मैमरी वीन) स्तनों के पास की ही धमनी के साथ-

साथ जाकर "कण्ठमूल" में मिलती हैं। दूसरी-ग्रीवाधरा सिरायें- गर्दन की जड़ के सिरा-चक्र से चलती हैं, और अन्न-नली तथा श्वास-नली से लौटा हुआ रक्त भी लाती हैं। इनके अलावा बाईं ओर की दूसरी से ११ वीं पसलियों के बीच-बीच में- "पर्शु-कानुगा" धमनियों के साथ-साथ आनेवाली इसी नाम की १०-१० शिरायें भी आकर पहली पसली से कुछ ऊपर "कंठमूला" में मिलती हैं।

(५७०) एक-एक "वंशाग्रा सिरा" भी हर ओर बड़े महत्व की है। वह कटि के पहिले मुहरे के पास "अधरा महासिरा" से चलती है और रीढ़ के सहारे-सहारे ऊपर आकर "उत्तरा महासिरा" में मिल जाती है। बाईं ओर उसकी दो शाखायें हैं १-ऊपरी और २-निचली, जिनमें ऊपरी शाखा केवल पांचवीं और छठी पर्शुकानुगा सिराओं से कुछ रक्त लाती है। परन्तु "दाहिनी वंशाग्रा" तो दाहिनी तमाम पर्शुकानुगा सिराओं का भी रक्त लाती है। अन्य प्रत्येक छोटी-मोटी रीढ़ आदि की सिराओं का रक्त तो ये दोनों ओर की वंशाग्रा सिराएं लाती ही हैं।

इस वंशाग्रा सिरा में फेंफड़े की वे सिराएं (श्वास नलिका सिराएं *Bronchial veins* ब्रोंकियल वीन्स) भी आकर मिलती हैं। जो वहां से शुद्ध हुआ रुधिर नहीं, बल्कि फेंफड़े की झिल्लियों के पोषण से मलिन हुआ रक्त लेकर आती हैं। ये फुफ्फुस पोषणी धमनियों के साथ ही रहती हैं।

(५७१) फुफ्फुसों के बीच में रहने वाली थाइमस आदि ग्रंथियों की सिराएं तथा हृदय धराकला की सिरायें भी उत्तरा महासिरा में आ मिलती हैं। इस महासिरा की बांई ओर महाधमनी होती है तथा दाहिनी ओर दाहिने फुफ्फुस का शिखर एवं हृन्नियामिका नाड़ी ( *vagus* वागस नर्व )।

(५७२) यह बता ही आये हैं कि खास हृदय का पोषण करके लौटने वाला रक्त एक मोटी हार्दिकी सिरा तथा अनेकों पतली-पतली सिराओं द्वारा लौटता है। वे दाहिने अलिंद में सीधी दाखिल होजाती हैं।

(५७३) अब कमर से छाती तक की सिराएं और रह गईं और ये सबसे अधिक महत्व की हैं। हर ओर के पैरों से आती हुई और्वी सिराएं-वंक्षण से ऊपर बाहरी 'श्रोणि-सिरा' कहलाती हैं। ये श्रोणि-धमनियों से अन्दर की ओर रहती हैं इनमें एक अन्दरी श्रोणि-सिरा जाकर और मिलती है। और तब यह साधारण श्रोणि-सिरा बनकर नाभि के ऊपर को आती हैं।

उस आंतरिक श्रोणि-सिरा में- पेड़ू तथा वस्ति-गुहा की तमाम सिराएं आ-आकर मिली होती हैं। नितम्ब की ऊपरी और निचली सिराएं, श्रोणि और वंक्षण के बीच की तथा-गुदोपस्थिका सिराएं, कमर के बाहर से आती हैं। त्रिक-पश्चिमा सिराएं-त्रिकास्थि की बग़ल से आती हैं। मध्यमगुदान्त्रा, योनिवस्ति तथा गर्भाशय के सिरा-चक्रों की शाखायें गुदा और उपस्थ या भग के अन्दर से आती हैं और ये सब मिलकर बची हुई मोटी अन्तःश्रोणिसिरा, नाभि से नीचे बाह्य श्रोणिसिरा(और्वी सिरा)से आ मिलती हैं।

(५७५) इनमें गुदा के आस-पास का सिरा-चक्र बहुत विचित्र होता है। वह एक गुदा की श्लैष्मिक झिल्ली के ही नीचे रहता है और एक उसके आस-पास की पेशियों के बीच में झिल्ली के नीचे

वाला चक्र अनेकों बारीक-बारीक ऊपर से नीचे को सीधी उतरती हुई शिराओं में बनता है। और उनके बीच में आड़ी शिराएें गुथी होती हैं जो उन्हें परस्पर जोड़कर–तारों की चूहेदानी वा तोते का लम्बा पिंजड़ा सा बना देती हैं। इन सिराओं का सम्बन्ध आगे यकृत से रक्त लेजाने वाली "प्रतिहारिणी" सिराओं से होता है। अतः जब अजीर्ण, शूल आदि कारणों से उन उदर की सिराओं में कहीं रुकावट होती है तो उस गुदाचक्र की सिराएें भी तन जाती हैं। उस समय यदि कठोर मल गुदा में होकर निकले तो उसकी रगड़ से गुदा की झिल्ली छिलकर और ये सिराऐं दबकर रुधिर भरने लगता है या खुरसट की जलन ही होती है। यही क्रमशः रक्तार्श (खूनी *haemorrhoid* हैमरोइड ) और वातार्श ( बादी बवासीर ) हैं। आगे घिसान खाते-खाते ये शिरायें और झिल्लियां स्वयं एक गिल्टी की तरह फूल आती हैं जो मस्से (*Piles* पाइल्स) कहाते हैं।

(५७६) इस प्रकार अन्तः और वाह्य श्रोणि-सिराऐं मिलकर बनी हुई दोनों ओर की श्रोणि-सिराऐं नाभि से नीचे चौथे और पांचवे कटि-कशेरुका की सीध में–कुछ दाहिनी ओर को–मिलकर एक बहुत मोटी सिरा बन जाती है जो "अधरा महासिरा" (*Inferior venacava* इन्फीरियर वीनाकेवा) है। यह उरोदरा पेशी से नीचे के तमाम अङ्ग–टागों, वस्ति, पेट और पीठ का रक्त तथा भोजन रस हृदय को पहुंचाती है और जाकर दाहिने अलिंद में दाहिनी ओर से जुड़ती है। इसके द्वार पर एक द्विपटल कपाट रहता है जिससे आया हुआ रक्त हृदय से सिरा में वापिस नहीं लौटता। यह अधरा महा-सिरा गुर्दे को आने वाली दाहिनी धमनियों, छोटी आंत का निचला भाग, क्लोम का सिरा, पित्तनलिका, प्रतिहारिणी सिरा, यकृत की धमनी और खुद यकृत के पीछे होती हुई जाती है, तथा–रीढ़ की हड्डी, दाहिनी दीर्घा कटि-लम्बिनी पेशी, उरोदरा पेशी का दाहिना मूल, तथा दाहिनी ओर की सात धमनियों, दाहिने गुर्दे और पिंगला नाड़ी (*Sympathatic* सिंपेथेटिक नर्व) के आगे-आगे रहती है। इसकी दाहिनी ओर दाहिना गुर्दा और गवीनि तथा बांई ओर महाधमनी, यकृत तथा उरोदरा पेशी का सिरा रहता है।

(५७७) इस अधरा महासिरा में आ-आकर मिलने वाली सिराओं में एक-एक कटिसिरा (लंबर वीन ) हर ओर कमर–पीठ तथा पेट की दीवालों का रक्त लाती है। अण्डसिरा ( टेस्टीक्यूलर वीन ) अण्डकोष की पीठ और अण्ड-रज्जु के असंख्य सिरा जालों से उत्पन्न होने वाली ३-४ शाखाओं से मिल-कर बनती हैं, जो वहीं की हर धमनी के साथ-साथ दो-दो चिपकी रहती हैं। स्त्रियों में इनकी जगह डिंबाशयों (ओवेरी) से आने वाली डिंबाशया सिरायें (ओवेरियन वीन्स) होती हैं। दोनों ओर के गुर्दों से एक-एक मोटी सिरा वृक्क सिरा (रीनेल वीन) की दाहिने ओर वाली से तीन गुनी लम्बी होती है तथा महाधमनी को पार करके अधरा सिरा में आ जुड़ती है वह गुर्दों के अलावा उरोदरा पेशी और स्त्रियों में ग्रंथियों का भी कुछ रुधिर लाती है।

हर ओर की पित्तग्रंथि ( *Supra-renal capsule* सुप्रीरीनेल कैपसूल – अधिवृक्क ) से भी एक-एक "अधिवृक्कासिरा ( *Adrenal vein* ऐड-रीनल वीन ) आती हैं। उरोदरा पेशी की निचली सिरायें भी आकर मिलती हैं जिन्हें 'अधरा उरोदरा, सिरा(*Inferior phrenic* इन्फीरियर फ्रेनिक)कहते हैं। और इन सबसे ऊपर आकर याकृती-सिरा

( *Hepatic* हिपेटिक वीन ) भी अधरा महासिरा में ही आ मिलती है। यकृत से पोषक तत्व मिश्रित तथा पित्तमल ( कोलेस्ट्रीन ) आदि से रहित किया हुआ रुधिर लेकर आती है।

(५७८) पेट के विविध अंगों से यकृत को आने वाली सिरायें आंतों से ग्रहण किया हुआ आहार रस भी लाती हैं, तथा क्लोम आदि अङ्गों का रस भी। इसलिये इन्हें रसायनी ( *Portal-vein* पोर्टल वीन या प्रतिहारिणी सिरा) कहते हैं। छोटी आंतें २१ फ़ीट लंबी हैं। उनमें आदि अन्त की ६-६ इंच छोड़ कर शेष तमाम लंबाई में छोटे-छोटे रोंयें से अन्दर को उभरे रहते हैं। इन्हें ग्राहक-अंकुर कहते हैं। हम जो कुछ भोजन करते हैं उससे आमाशय में घुटाई होकर पतला रस बन जाता है। आगे पक्काशय में गरमागरम पित्त उसे खौला देता है। फिर वह २० फ़ीट आंतों में बहता है तब ये 'ग्राहकांकुर' उसमें से तत्व चूसते जाते हैं। कई अंकुर चिकनाई के तत्व सोखते हैं, कई मधुर अंशों को। ये सब जो रस सोखते हैं वह उनकी जड़ में लगी हुई बारीक-बारीक नलियों द्वारा आगे चलता है। ये नलियां आगे एक दूसरी से मिलती हुई बड़ी-बड़ी सिरायें बन जाती हैं। उनमें कुछ तो चिकनाई के तत्वों से बना हुआ दूधिया घोल बहाती हैं, वे लैक्टिअल्स *Lacteals* या "पयोवहा" कही जा सकती हैं। ये तो सीधी हृदय के ऊपर उत्तरा महा-सिरा में जा मिलती हैं। दूसरी मधुरांश बहाने वाली नलियां पहिले उस रस को "यकृत" में लेजाती हैं। वहां उनमें से जितनी शर्करा शरीर को आवश्यक हो, उतनी तो यकृत में पहुंचे हुए रुधिर द्वारा लेली जाती है। अर्थात् शरीर भर में रक्त जितनी शर्करा ( पेशियों और जीवाणुओं की क्रियाओं के लिये ) बांट आया हो– खर्च कर आया हो – उतनी यकृत में आकर फिर पूरी कर लेता है। बचा हुआ मधु, गाढ़ा होकर शर्करा जनक ( *Glycogen* ) तत्व बनकर यकृत में रुक जाता है और वह फिर जब जरूरत हो तब घुल कर काम आता है।

(५७९) इन मधुरांश लाने वाली छोटी-छोटी सिराओं से मिलकर बनी हुई जो प्रतिहारिणी महा सिरा यकृत को आती है। वह हर आदमी की अपनी ४ अंगुल भर लंबी होती है। आंत के ऊपरी भाग, प्लीहा और क्लोम से आई सिरायें उसमें मिलती हैं। क्लोम से एक अग्निरस ( *Insulin* इन्सुलिन ) भी आता है जो जिगर को मधुरांश रोक रखने में मदद देता है। इसमें कमी या रुकावट या ख़राबी आजाने से – यकृत रक्त में ज्यादा शर्करा छोड़ देने लगता है। वह अधिक मधुर रक्त दिमाग़ में पहुंच कर उत्तेजना या मूर्च्छा पैदा करता है, मुख का स्वाद और शरीर का पसीना मीठा कर देता है, हाथ-पैरों के तलवे जलने लगते और सिर के केश मधुर पसीने के कारण चिपकने लगते हैं। ( जटिलीभावं-केशेषु – माधुर्यं मास्ये – करपाद दाहो आदि २ ) यही मधुमेह का निदान है। तब मधुरता का फालतू अंश गुर्दों में छन-छन कर मूत्र के साथ निकलने लगता है। धीरे-धीरे गुर्दे ऐसे अभ्यस्त होजाते हैं कि रक्त में शर्करा अधिक न हो तब भी वे शर्करा निकाल देते हैं और तब शर्करा की कमी से प्राणों को खतरा होजाता है। यकृत और गुर्दों की यह दशा ठीक करने के लिये जम्बूफल ( जामुन ) उनके बीज की मिंगी का चूर्ण ( *Syzigeum Jamboli-num* सिजीजियम जंबोलिनम् ), प्याज़ का रस, मूली का रस, लालमिर्चें, निर्मली और इन सबसे लाभदायक बिल्वपत्रों का रस रहता है। ताजा बेल-

पत्रों के ४-५ तोले रस में ४-५ गोल काली मिर्च घोट कर प्रातः पिलादें तो दूसरे ही दिन मूत्र में शर्करा आना घट जाता है। और ४-५ दिन में ही क़तई बन्द होजाता है। प्रख्यात नोबल पुरस्कार पाई हुई "इन्सुलिन" (*Insulin*) के इन्जैक्शन से भी यही होता है, परन्तु वह थोड़े-थोड़े समय बाद लगातार लेते रहना जरूरी होता है। खर्चीला भी बहुत बैठता है और इलाज बन्द करने के बाद प्रायः फिर शिकायत शुरू होजाती है। हां, प्राण संकट के समय सहारा अवश्य और तत्काल मिल जाता है।

(५८१) इस प्रकार प्लीहा की, क्लोम की, आंतों के ऊपरी भाग की, निचले भाग की, आमाशय के ऊपरी किनारे की, पक्वाशय (ग्रहणी) की तथा पित्ताशय (*Gall bladder* गालब्लैडर) की सिरायें आकर – इस रसायनी या प्रतिहारिणी महासिरा को बनाती हैं। इनके अलावा बच्चे का गर्भ में पोषण करने के लिये नाभि-नाल द्वारा अन्दर रक्त लाने वाली सिरायें भी इसी में आकर मिलती हैं। परन्तु अब तो वे बेकार होजाने के कारण सूख कर मात्र डोरियां सी रह जाती हैं। हां, कुछ महत्वपूर्ण योजनी नाभि-सिरायें भी होती हैं जो प्रतिहारिणी सिरा से चल कर अधरा महासिरा को जाने वाली अन्य सिराओं से मिली होती हैं। ये ख़ास तौर से तब काम देती हैं, जब जिगर में कोई ख़राबी आजाने पर प्रतिहारिणी सिरा का रक्त वहां पहुंचना रुक जाय। तब ये 'योजनी' सिरायें प्रतिहारिणी का कुछ रक्त अन्य सिराओं को ले जाती हैं। परन्तु वे सब रक्त नहीं ले जासकतीं। फलतः प्रतिहारिणी महासिरा और उसकी छोटी शाखाओं में रक्त रुकने लगता है। रक्त जहां रुका, कि उसका लसीका और पानी रिस-रिस कर उरच्छदा झिल्ली में जमा होने लगता है। यह 'रससंचय' ही जलोदर (*Ascites* ऐसाइटिस) है। इसमें अगर पेट पर नीली-नीली नसें फूली दिखाई दें तो अशुभ नहीं–शुभचिन्ह होता है, क्योंकि उनसे प्रकट होता है कि वे प्रतिहारिणी सिरा से रक्त लेजा-लेजा कर अन्य सिराओं में डाल रही हैं। यदि जलोदर तो हो, परन्तु पेट पर नसें न उभरी हों तब दशा अधिक कष्टसाध्य होती है। जलोदर रोगी को नमक नहीं देना चाहिये।

(५८२) यकृत में रुकावट कई कारणों से होसकती है। वह मुरझाकर सिकुड़ जाय,–*Cirrhosis* सिर्होसिस होजाय – उसकी बनावट में सेलों की जगह सूत्र ही सूत्र होजायं, यकृत में कोई फोड़ा या गांठ पैदा होजाय या प्रदाह हो।

(५८३) रीढ़ के मुहरों की सिरायें भी उल्लेखनीय हैं वहां हर कशेरुका के बाहर और अन्दर एक-एक सिरा-चक्र होता है। अन्दर वाला सुषुम्ना वाले छिद्र (नली) में छाया रहता है और बाहर वाला मुहरे के आस-पास बाहर रहता है। मुहरे के गात्र के इधर-उधर और गात्र के बीच में, भी सिरायें होती हैं। इनकी बारीक-बारीक शाखायें रीढ़ के मुहरों, उनकी संधियों, उनके बीच की तरुणास्थियों, झिल्लियों एवं पेशियों का पोषण करके अशुद्ध हुए रक्त को वापिस लाती हैं।

# रसायनी ( कफ वाहिनियां )

## Lymphatics लिम्फेटिक्स-लसीका वहाएं

(५८५) पहिले बता आये हैं कि शरीर के नख, केश, उपचर्म और तरुणास्थियों के सिवा हर अंग को रक्त धमनियों द्वारा पहुंचता है, केशिकाओं में मन्द-मन्द बहता है, वहां उसमें लसीका रिस जाता है और कुछ ओषजन छूट जाता है। तथा फिर कुछ कार्बन गैस लेता हुआ वह शेष रुधिर सिराओं द्वारा वापिस हृदय को लौट आता है। यों रक्त-चक्र *Blood circulation* चलता रहता है। इसी का दूसरा भाग यह होता है कि अशुद्ध रक्त फेफड़ों को जाता है और वहां वायु के संयोग से कार्बन गैस छोड़ आता तथा नयी प्राण-वायु 'ओषजन' ले आता है और फिर– यों शुद्ध होकर — हृदय को लौट आता है। परन्तु जीवाणुओं के आस-पास जो लसीका छूट गया था उसे लाने वाली दूसरी ही नली-जाल है। उन्हें लसीका वहा, कफ-वाहिनी या 'रसायनी' रगें (*Lymph vessels* लिंफ-वैसल्स या लिंफेटिक्स) कहते हैं। ये बहुत बारीक झिल्लियों के २-२ पर्त्तों की ही बनी होती है। अतः इतनी पार-दर्शक होती हैं कि अणुवीक्षण यन्त्र से इनके अन्दर बहता हुआ श्लेष्मा भी साफ़ देखा जा सकता है। इतनी पतली ये होती हैं कि शव चीरने पर बड़ी कठिनता से दीखती हैं। थोड़ी २ दूर पर इनमें भी शिराओं की भांति कपाट लगे होते हैं जिनके कारण इनमें बहता हुआ श्लेष्मा हृदय की ओर ही जाता है, उल्टा नहीं लौट सकता। इसीलिये जब आस-पास के अङ्गों का दबाव पड़े तो वह आगे को बह जाता है और जितना वह जाता है, उतनी खाली हुई जगह की पूर्ति–फिर जीवाणुओं के पास से नया लसीका खिच-खिच कर ही होती है। यों इसका प्रवाह बराबर चलता रहता है। इन कपाटों के कारण जगह-जगह सिकुड़ी हुई लसीका वाहिनियां ऐसी दिखाई देती हैं, जैसे लम्बे-लम्बे बारीक मोतियों की माला।

(५८६) शरीर में इनकी संख्या असंख्य है। जगह-जगह इनके सङ्गम के लिये मटर या निबौली जैसी गिल्टियां बनी हैं जिनका वर्णन आगे करेंगे। उनमें एक ओर कुछ गढ़ा सा होता है, उसमें होकर दस–पांच या अधिक रसायनियां गिल्टी में प्रवेश करती हैं तथा उस गिल्टी की धमनी, सिरा और नाड़ी भी वहीं से धंसती हैं। गिल्टी के दूसरी ओर फिर गढ़ा होता है। उसमें होकर एक या दो – कुछ अधिक मोटी–रसायनियां आगे हृदय की ओर को चल देती हैं। वे फिर आगे जाकर–मार्ग में कुछ और रसायनियों से मिलती हुई किसी बड़ी गिल्टी में जुड़ती हैं और वहां से कुछ और भी मोटी २-१ रसायनियां आगे जाती हैं। बस यही क्रम ऊपर गर्दन तक और नीचे नाभी प्रदेश तक सिर, टांगों और भुजाओं में चलता है।

(५८७) यह भी बता आये हैं कि गिल्टियों में क्या होता है। वहां श्वेताणु बहुत जमा होते हैं और बनते भी रहते हैं। जीवाणुओं के मल या उन

पर हमला करने वाले रोग या विष को रसायनियां इस गांठ में ले आती हैं और यहां संचित श्वेताणुओं की पल्टन उस विकार को मारती है। इस काम में वहां रक्त से भी नये-नये श्वेताणु तथा अन्य मसाले की मदद ली जाती है। रक्त-शोधक या विष-नाशक दवायें भी वहां जाकर अपना काम करती हैं। इस प्रयत्न में गिल्टी बढ़ जाती है और रक्त बहुत आने जाने से गरम भी होजाती है। यही गिल्टी सूज आना है। यदि विष मार लिया जाय तो यह सूजन कड़ी ही रह कर धीरे २ आराम होती--घटती--है। अगर विष और भी तेज हो, तो गिल्टी में से दोनों ओर की "लाशें" और वह विष बाहर निकालने के लिये--गलाव पड़कर रास्ता बनने लगता है, जिसे "पकजाना" कहते हैं। तब वह उस पूय से नरम पड़ जाती है और फिर भी विष बचता है तो आगे को बढ़ता है। यदि वह बढ़ते-बढ़ते हृदय तक पहुंच कर रक्त में मिल जाय तो परिणाम बहुत खराब होता है। क्योंकि तब वह विकार समस्त शरीर में छा जाता है।

(५८८) श्लीपद (फीलपांवा) रोग के जीवाणु प्रायः पैरों से प्रारंभ होते और घुटने या जांघ तक जोर पर रहते हैं। इसलिये अधिक काम करते २ वहां की तमाम गिल्टियां सूज जाती हैं, जिससे तमाम टांग बहुत मोटी पड़ जाती है। नीचे बैठे होने की दशा में यह विकार वृषण (फोतों) में धंस जाय तो वहां की श्लैष्मिक ग्रंथियों से संघर्ष होता है। वे वीर्य-भण्डारके निकट होने के कारण विकार अन्य अङ्गों की ओर बढ़ने की नौबत तो प्रायः नहीं आती, वहीं काफी शमन होता रहता है। परन्तु अण्ड-ग्रन्थियों के पास की कफ ग्रन्थियां बहुत बढ़ जाती हैं। यह फोतों का फीलपावां "अण्ड-श्लीपद" हुआ। स्त्रियों में भगद्वार के अन्दर स्थित गिल्टियों में यही बात होने से भग का श्लीपद होता है, जिनके चित्र "धन्वन्तरि चिकित्साऽनुभवांक" में दिये जा चुके हैं।

(५८९) क्षय के जन्तु प्रायः फेफड़ों की चोटी (*Apex*) के पास स्थित गर्दन की गिल्टियों पर आक्रमण करते हैं और वे एक के बाद एक सूज २ कर पकती हैं। इसे "कण्ठमाला" रोग कहते हैं। उपदंश का विष इतना तेज तो नहीं होता--धीरे-धीरे जोर करता है, परन्तु बहुत हठीला होता है। इसलिये उसका प्रवेश शरीर में होने पर ये लसीका ग्रन्थियां कठोर पड़ जाती हैं। वे फिर अन्य विकारों का उतना शमन नहीं कर सकतीं और उपदंशी (*Syphilis* वाले आतशकी) व्यक्ति पर चाहे जिस रोग की चढ़ बनती है।

(५९०) आजकल योरोप के रहन-सहन के संसर्ग से भारत में फिरङ्ग के साथ-साथ कर्कट रोग भी अधिक नजर आने लगा है। इसमें अधिकतर "आमाशय" या "गर्भाशय" आदि में दूषित फोड़ा हो जाता है जो धीरे-धीरे ही बढ़ता रहता है। पहिचान इसकी यह है कि आमाशय में भोजन पहुंचते ही चुभन, दर्द या तीव्र वेदना होती है जो २-२॥ घन्टे तक रहती है--जब तक भोजन आमाशय से आगे न चला जाय। उस समय प्रायः शरीर का ताप भी बढ़ जाता है। कई बार खाते ही जी मिचलाता, क़य होजाती और उसमें कभी २ बदबूदार पानी या पीप भी निकलता है।

इसका इलाज, रक्त-शोधक उपायों से रक्त को ही बल देकर हो सकता है। भोजन में चीनी कम हो, नमक भी तेज न हो, खटाई क़तई न हो,

क्षार बहुत कम हों। दलिया या दूध-रोटी का भोजन इसमें सर्वोत्तम रहता है। त्रिफला सेवन अच्छा रहता है। औषधोपचारों से आराम होता न दीखे तो ऑपेरेशन करना होता है। उसमें 'कर्कट' के स्थान के आस-पास की तमाम लसीका ग्रन्थियां भी खुरचकर निकाल देनी होती हैं, क्योंकि यह रोग उन्हीं के द्वारा बढ़ता है और उनमें इसका कुछ विकार शेष रह जाने का भय होता है।

(५६१) सिर की रसायनियां संग्रह होने के लिये, गर्दन के पीछे कपाल के तले कपालमूला (औक्सी-पीटल) गिल्टी है। हर कान के आगे और पीछे एक-एक गिल्टी है। कान की जड़ में आगे की ओर तो इन गिल्टियों से भी आने वाली रसायनियां मिलकर बनी हुई बड़ी गिल्टी है जिसके शोथ को 'कनवर' (मम्पूस *Mumps*) या कर्णमूल (कनमूल) कहते हैं। प्लेग में प्रायः यह गिल्टी सूज आती है। मुख के आस-पास भी २-३ नेत्रों के नीचे एक कपोल में, एक ठोड़ी के किनारे, तथा २-३ ठोड़ी पर गहराई में होती हैं। दो-तीन जीभ की जड़ में होती हैं तथा २-३ कण्ठ की दीवार के पीछे। इन सबमें मस्तिष्क और चहरे की रसायनियां आती हैं, तथा फिर इन गिल्टियों से निकली हुई रसायनियां गर्दन की गिल्टियों से जा जुड़ती हैं।

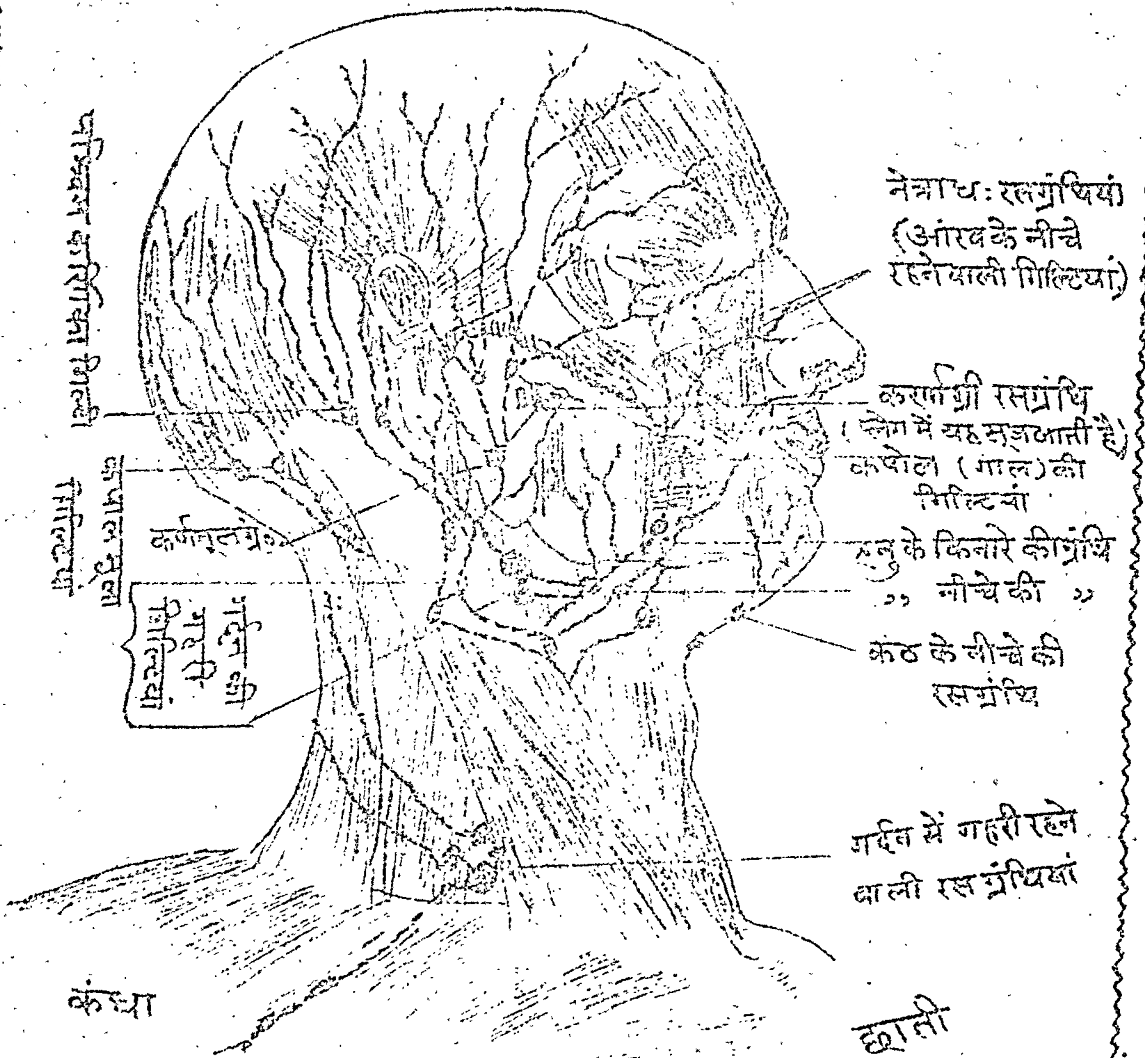
(५६२) गर्दन में गिल्टियों के दो झुंड हैं एक ऊपरी, दूसरा गहरा। ऊपरी में पांच-छः गांठें ठोड़ी के नीचे हैं। २-३ कण्ठास्थि से तनिक ऊपर तथा अनेक गिल्टियां उरःकर्णमूला पेशी, श्वासनली तथा अधिमन्यासिरा की दीवारों पर चिपकी हुई हैं। गर्दन के अन्दरूनी भाग में अन्तर्मन्या सिरा और अन्तः सिरोधिया धमनी के सहारे २, २०-२१ गिल्टियां रहती हैं। सिर और गले की सब रसायनियों से श्लेष्मा इन्हीं में आता है। अंसच्छदा पेशी पर रहने वाली कन्धे की रसायनियां भी इन्हीं में जा मिलती हैं।

(५६३) हर ओर बगल में-कक्षाधरा धमनी और सिरा के पास ही उरच्छदा पेशियों से ढकी हुई एक-एक गिल्टी होती है। इसमें तमाम भुजा से आई हुई रसायनियां, हंसली के नीचे की, स्तनों की तथा छाती के अग्रभाग की रसायनियां भी दाखिल होती हैं।

(५६४) इसी प्रकार हर ओर पैर में भी-घुटने के पीछे ६-७ "जानुपृष्ठा" छोटी २ गांठें होती हैं जिनमें पैर के पंजे और पिंडलियों से रसायनियां आ मिलती हैं। फिर वहां से चली हुई एवं जांघ की रसायनियां वंक्षण के नीचे की गांठों से मिलती हैं जो 'अनुवंक्षणीया' हैं, तथा-इनसेभी ऊपर वंक्षण की ऐन संधि में "वंक्षणीया" १०-१५ गांठें हैं। फिर कमर में महाधमनी के आगे अनेक गिल्टियां हैं। आमाशय पक्वाशय, प्लीहा, अन्त्र आदि पर भी अनेक ग्रन्थियां हैं। आंतों पर तो १॥-२ सौ हैं। उनमें क्षय बीज के कारण शोथ आकर कड़ी पड़ जाती है तो "अन्त्रशोष" या "ऐब्डोमीनल थायसिस" कहते हैं। यकृत से भी अनेक रसायनियां आकर आंतों की गिल्टियों में मिलती हैं।

(५६५) दोनों टांगों और वस्ति के अङ्गों से आने वाली रसायनियां नाभि के पीछे मिलकर एक इंच मोटी थैली बन जाती है। वह ऊपर ४ इंच तक कुछ संकड़ी होती हुई चढ़ती है और फिर नली

कपाल का ऊपरी भाग (तलुवा)




सिर और गर्दन की रसायनी नलियां और रस-ग्रंथियां.
(वाक्य ५-८१-८२)

ध्यान से देखें कि नलियां बीच बीच में कैसी सिकुड़ गयी हैं।
इन स्थानों पर ऐसे कपाट हैं जो बहकर आये हुए रस को पीछे लौटने नहीं देते हैं।

जैसी 'महारसायनी' होकर उरोदरा पेशी पार करके छाती में प्रवेश करती है। उरोदरा के नीचे ही उसमें आंतों, और आशयों की रसायनियां भी आ मिलती हैं। इस थैली को "पयप्रपा" (*Cisterna Chyli* सिस्टर्ना काइली) कहते हैं। यह खास तौर से इसलिये कि इसमें आंतों से बहुतसा रस आकर मिलता है यह बिल्कुल दूधिया (*Chyle*) होता है। उसे लाने वाली आंत्रिक रगें भी 'पयोवहा' कहाती हैं।

(५६६) उरोदरा से ऊपर चढ़कर यह बांई ओर की महारसायनी गर्दन के सातवें मुहरे तक पहुंचती है और अक्षाधरा धमनी को पार करके "कंठमूला सिरा" में जा जुड़ती है। यह लगभग १६-१७ इंच लम्बी होती है। दाहिनी ओर भी भुजा बगल छाती की रसायनियां मिलकर एक महारसायनी बनती है, परन्तु वह सिर्फ अंगुल भर लम्बी चलकर—अक्षाधरा सिरा के पास ही कण्ठमूला में जा मिलती है और कण्ठ—मूलायें आगे मिलकर उत्तरा महासिरा बन ही जाती हैं। कभी-कभी दाहिनी रसायनियां सीधी कण्ठमूला में आ मिलती हैं और दाहिनी महारसायनी होती ही नहीं।

(५६७) छाती में उसकी दीवार की पेशियों पर बहुत रसायनियां होती हैं और कुछ एक अन्दर की ओर भी। स्त्रियों में स्तनों के इधर-उधर मोटी मोटी रसायनियां आकर इन ग्रन्थियों में प्रवेश करती हैं। उरःफलक के आस-पास उरोदरा पेशी के ऊपर, रीढ़ के पास पशु काओं के बीच में, फेफड़ों के बीच में, हृदय की झिल्ली के पीछे और श्वासनली के चारों ओर भी असंख्य गिल्टियां होती हैं जिनमें आस-पास के अङ्गों से रसायनियां आ-आकर जमा होती हैं।

(५६८) छोटी-छोटी गिल्टियां तो श्वास-नली की शाखाओं के साथ-साथ फेफड़ों के अन्दर तक जाती हैं। क्षय इन्हीं में शुरू होता है। कारखानों और गन्दे स्थानों में रहने वालों की ये गांठें सूजकर कड़ी और काली पड़ जाती हैं। क्षय के जीवाणु इनमें अपना अड्डा जमाते हैं तब वे सूज जाती हैं। उस अवस्था में खांसी आना शुरू होती है। यदि रोग काबू में आजाय तब तो वे फिर छोटी मगर कड़ी हो रहती हैं। अन्यथा—विशेषतः बालकों में—रोग बढ़कर गिल्टियां पिलपिली पड़कर फट जाती हैं। और क्षयकर चेप रक्त द्वारा दोनों फुफ्फुसोंमें फैल जाता है।

होती है। तथा इन 'अगले खम्भों' के पीछे दो ऐसी ही पेशियां और होती हैं जो 'कण्ठ के पिछले स्तम्भ' कहाती हैं। इन दोनों खम्भों के बीच में-बांयीं और दाहिनी-हर ओर एक-एक "श्लेष्मग्रंथि" होती है जो मुख की लार (*Saliva* सैलाइवा-लाला या थूक) बनाती हैं। उन्हें *Tonsil* टांसिल कहते हैं।

(६०७) तालु के ऊपर नासामार्ग में ३ नलिकाकार हड्डियां होती हैं जो नथुनों की ओर खुली तथा कण्ठ की ओर बन्द होती हैं। इनमें कुछ वायु भरी रहती है जो ज़ोर से नाक साफ करते समय कुछ देर को निकल जाती है।

(६०८) कण्ठ नाक के पीछे खूब चौड़ा शुरू होता है और जीभ के पीछे आकर उसकी दो शाखायें होजाती हैं। एक तो अबाध नीचे चली जाती है। वह अन्ननली (ईसोफेगस) है। दूसरा भाग उससे आगे रहता है और उसमें "स्वरयंत्र" नामक मशीन लगी रहती है। इस प्रकार कण्ठ में ७ द्वार होते हैं। २ नाक के नथुनों की ओर, २ कंठ से कानों को जाने वाली नलियों की ओर, एक मुख की ओर, १ अन्ननली की ओर तथा १ स्वरयन्त्र की ओर जिसके ऊपर उपजिह्वा (*Epiglottis* एपीग्लोटिस) नामक झिल्ली लगी रहती है। यह झिल्ली का टुकड़ा साधारणतः तो ऊपर जीभ की ओर को उठा रहता है तथा श्वास की वायु नासिका से कण्ठ में होती हुई स्वरयंत्र में-अबाध आती-जाती रहती है। परन्तु जब हम खाना खाते, पानी वगैरः पीते या थूक भी निगलते हैं तब यह "उपजिव्हा" स्वरयंत्र के ऊपर पड़कर उसे ढक लेती है। बस अन्न जल इसके पुल पर से होता हुआ सीधा अन्न-नली में उतर जाता और पेट में पहुंचता है।

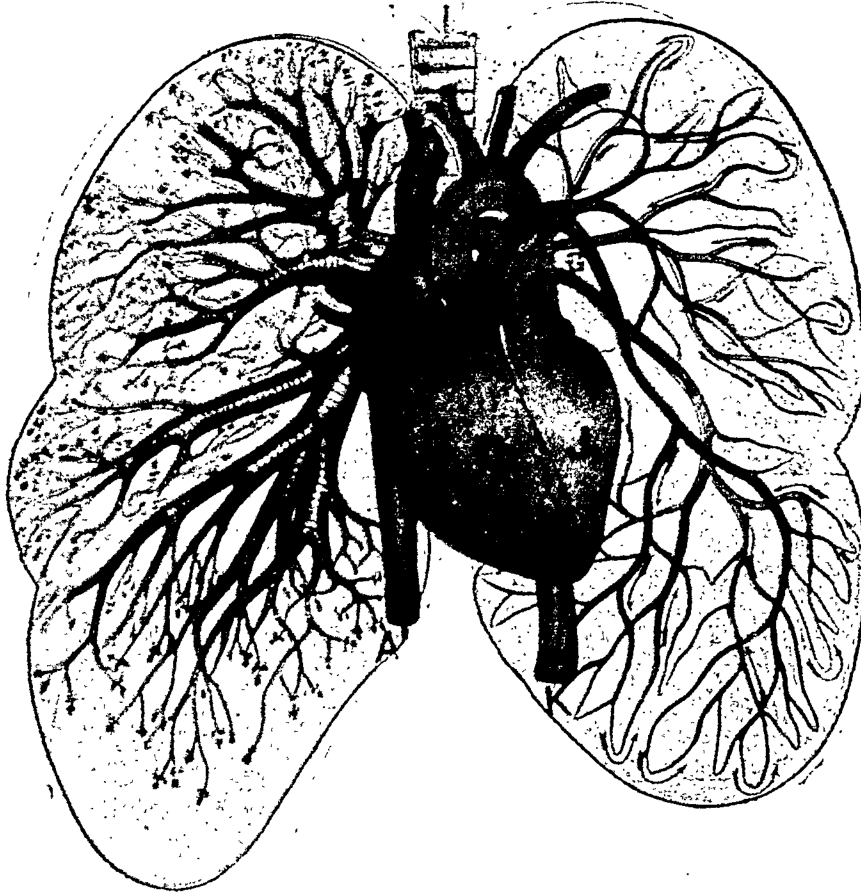
(६०९) कभी कभी, विशेषतः चिकनाई की चीजें, उपजिव्हा के सहारे-सहारे बह कर उसके नीचे स्वर-यन्त्र में जा टपकती हैं, किंवा बातें करते करते भोजन करने से उसका कुछ अंश स्वरयंत्र में जा गिरता है; क्योंकि बोलने में स्वरयंत्र पर से यह ढकनी बार-बार उठती है। उस दशा में- उस बूंद या कण को निकालने के लिये स्वरयंत्र एक दम जोर मारता है। यही "धांस" (खांसी का एक रूप) है इससे वह भोजनादि छिटक कर बाहर आ पड़ता है। परन्तु इस क्रिया से अथवा, भोजनादि का कुछ अंश स्वरयन्त्र में चिपका ही रह जाने से उसे नुकसान पहुंचता है और खांसी अधिक समय तक भी रह सकती है। इसलिये भोजन करते समय सर्वथा मौन (चुपचाप) रहना ही उत्तम है। इस से मुख में चर्वण (चबाने) की क्रिया भी ठीक २ होजाती है जिसका महत्व आगे आवेगा।

(६१०) स्वर-यन्त्र वाणी पैदा होने का स्थान है। यह तरुण अस्थियों की बनी छोटी सी तिकोनी संदूकी है जिसका 'वाणी' के वर्णन में परिचय देंगे। इसमें से गुजरने के बाद हवा श्वास-नली अर्थात् टेंटुए (*Trachea* ट्रेकिया) में होती हुई दोनों ओर के फेफड़ों में पहुंचती है। टेंटुआ लगभग ५ इञ्च लम्बा होता है। नथुनों से टेंटुए तक गुजरते हुए-श्वास में ली हुई वायु-शरीर के रक्त की गर्मी से-कुछ गरम होजाती है। इसके अलावा नासागुहा की ३ नलिकाकार हड्डियों में जो हवा भरी रहती है वह भी, शरीर की ऊष्मा से, काफी गरम होती है और वह बाहर से आने वाली वायु को गरम कर देती है। यह इन्तजाम मुख में नहीं होता इसीलिये श्वास सदा नाकसे ही लेनी चाहिये जिससे बाहर की कम या ज्यादा ठण्डी हवा शरीर के

## फुप्फुस और हृदय।

दाहिना फुप्फुस

( इसमें तीन खण्ड होते हैं। )
१ जड़ २ मध्य ३ शिखर (एपिक्स)



बायां फुप्फुस

(यह चौड़ा अधिक और लम्बा कम होता है। इसमें दो ही खण्ड होते हैं। )

दोनों फेंफड़ोंको देखिये। दाहिना फेंफड़ा बायेंसे बड़ा है। बीचमें नीला और लाल (C D और J) हृदय है। "ख" जहां लिखा है, वह श्वास-नलिका है। इसके पीछे रबड़के समान खानेकी नली होती है। K जहां लिखा है, वह बृहत् धमनी है। इसमें होकर खून सारे शरीरमें चक्कर लगाता है। फिर वह B महा-शिराओं द्वारा हृदयके दाहिने ग्राहक कोष्ठ C में आ जाता है। C से क्षेपक कोष्ठ D में आकर वहांसे E फुप्फुसी या धमनी द्वारा दोनों फेंफड़ोंमें चला जाता है। G फेंफड़ोंकी रक्त नलियां हैं। A फेंफड़ोंके वायु मन्दिर हैं। वहांसे शुद्ध होकर रक्त I वाम ग्राहककोष्ठमें आता है। उससे J वाम क्षेपककोष्ठमें उतर कर K-K महाधमनी द्वारा तमाम शरीरको भेज दिया जाता है।

By courtesy of B. Haridasji Vaidya. ] [ चिकित्सा चन्द्रोदय।

अन्दर फेफड़ों तक पहुंचते-पहुंचते काफी गरम होजाय और उसकी नाजुक झिल्लियों में सोजिश पैदा न करे। मुख खोलकर हांपने या श्वास लेने से जो बाहरी हवा सीधी फेफड़ों में चली जाती है वह अगर अधिक ठण्डी हो तो-श्वास की बारीक वायु नलियों में वरम पैदा कर देती है, वही वरम सर्दी ( जुकाम *Catarrh* कटार, प्रतिश्याय ) और खांसी ( *Bronchitis* ब्रॉंकाइटिस ) का कारण होता है। टेंटुए की दोनों शाखायें *Bronchi* 'ब्रोंकी' कहाती हैं और फिर बारीक-बारीक अनेक उनकी प्रशाखायें होती हैं। उन सबकी रचना में टेंटुए की भांति ही "रोयेंदार चर्माणु" ( वाक्य ८७ ) ( *Ciliated-epithelium* सिलियेटेड ऐपीथेलियम ) की एक तह ऊपर लगी होती है। इन अणुओं के रोयें एक ओर को झुके रहते हैं, परन्तु जब उत्तेजना हो तब वे तन कर खड़े होजाते हैं। इसका फल यह होता है कि उन रोयों के ऊपर आया हुआ पदार्थ-श्लेष्मा आदि-एक ओर को फिक जाता है। बस खांसी में भी यही क्रिया होती है और कफ आदि इन रोयों द्वारा-बाहर को-फिकते फिकते बाहर निकल जाता है। वह फेफड़ों की केशिकाओं से संचित हो-होकर बारीक श्वास-नलियों में आया हुआ रहता है। वहां से इन 'रोयेंदार चर्माणुओं' की क्रिया द्वारा वह उत्त-रोत्तर मोटी शाखाओं में ( बाहर की ओर ) आता हुआ दोनों श्वास-नलियों ( *Bronchii* ब्रोंकाई ) में आजाता है और उसमें से भी-झटके के साथ स्वर-यन्त्र पार करके-कंठ और मुख या नासिका द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है।

(६१२) फेफड़े स्पंज जैसे लचकीले खानों से बने हुए भूरे रङ्ग के अङ्ग हैं जो तमाम छाती में छाये रहते हैं। इनके बीच में हृदय रहता है और असंख्य रक्त वाहिनियां भी। हर फेफड़े का ऊपरी भाग पतली गोल चोटी जैसा होता है जो पहली पसली से भी ऊपर गर्दन में-अक्षक के पीछे-रहता है। वह नीचे को अधिक चौड़ा होता आता है और उरोदरा पेशी पर टिका रहता है। वहां इसकी तली उरोदरा पेशी की गोलाई की भांति ही नतोदर होती है जो बीच में ऊंची और बगल तथा पीछे की ओर लटकी होती है। बीच में फेफड़ा पीठ और छाती की गोलाई के अनुसार गोल होता है परन्तु अन्दर-छाती के बीच की ओर- का किनारा बीच में पिचका रहता है। इससे जो स्थान बीच में खाली रह जाता है उस गढ़े में हृदय, थाइमस ग्रन्थि और महासिरायें; महाधमनी, महारसायनी आदि प्रमुख रगें रहती हैं।

(६१३) इस गढ़े के मध्य में हर ओर के फेफड़े में श्वास-नली की शाखा, फुप्फुस या धमनी फुप्फुसीया नाड़ियां और श्वास नलिकाओं तथा केशिकाओं का पोषण करने वाली धमनियां धंसती हैं, और लगभग उसी स्थान से फुप्फुसीया सिरायें, लसीका-वाहिनियां और संज्ञावहा नाड़ियां निकलती हैं। अन्दर फेफड़े की हर बारीक श्वास-नलिका, केशिका और वायु-कोष की दीवारों पर फुप्फुस पोषणी धमनी, सिरा और रसायनी की शाखायें छाई रहती हैं और नाड़ियों के सूत्र भी। इनके अलावा अशुद्ध रक्त बहाने वाली धमनी की शाखायें फुप्फुस की केशिकाओं से जा मिलती हैं और उनके द्वारा हृदय के दाहिने निलय से आया हुआ रुधिर केशि-काओं में पहुंचता है। दूसरी ओर उन केशिकाओं से सिरायें चलती हैं जो शुद्ध हुए रुधिर को लेकर-बड़ी सिरायें बनकर-हृदय के बायें अलिंद में पहुं-चती हैं। श्वास नलिकाओं की शाखायें अन्त में वायु-कोष रूपी थैलियां बनकर खतम होजाती हैं।

(६१४) अब महत्व-पूर्ण यह बात देखें कि श्वास और रक्त-शुद्धि का क्या सम्बंध है। फेफड़ों के तमाम वायु-कोषों की पूरी समाई ३५० घन इञ्च है अर्थात् अधिक से अधिक गहरी सांस लेने पर इतनी वायु अन्दर जा सकती है। इसी प्रकार अधिक से अधिक फेफड़ा सिकोड़ें–श्वास बाहर निकाल दें–तबभी उन खानोंमें १०० घन इंच हवा जरूर ही भरी रह जाती है। अर्थात् खूब गहरा निःश्वास छोड़ें तो १५० घन इंच तक हवा फेफड़ों से निकल जाती है और सिर्फ १०० घनइंच भरी रह जाती है। फिर धीरे धीरे गहरा श्वास ही खींचें तो हवा अपनी पूर्ण सीमा तक ३५० घन इंच तक भर आती है। अर्थात् २५० घन इंच नई वायु आजाती है। इसके बाद दो, तीन या अधिक जितनी बार हम दीर्घ श्वास लेते रहें हर बार २५० घन इंच वायु शुद्ध होती रहती है और केवल १०० घन इंच स्थायी रहती है। हिसाब लगाया जा चुका है। कि ऐसे २१ दीर्घश्वास ले लिये जायं तो सारे शरीर के रक्त की वायु से दूर होने वाली, तमाम अशुद्धियां निकल जाती हैं।

## वायु शुद्धि का नक्शा–

| |
|---|
| १२० घन इंच<br>साधारणतः खाली रहता है। |
| ३० घन इंच<br>साधारण श्वास जाती आती है। |
| १०० घन इंच<br>गहरी श्वास छोड़ने पर ही<br>खाली होती है। |
| १००घन इंच<br>इतनी हवा तो सदा फेफड़े में<br>रहती ही है। |

परन्तु साधारणतः हमारी श्वास-क्रिया इतना काम नहीं करती। वे मामूली सांसें जो हम दिन भर जाने या अनजाने लेते छोड़ते रहते हैं, कुल ३० घन इंच दूपित हवा बाहर लातीं और ताजा हवा अन्दर ले जाती हैं। उस दशा में १५० इंच स्थान तो फेफड़ों में प्रायः खाली ही रहा आता है और २०० घन इंच स्थान प्रायः भरा ही रहता है। बस उसके बीच में शेष ३० घन इंच स्थान भरता और खाली होता रहता है, इस क्रिया से भी रक्त की काफी शुद्धि होती रहती हैं परन्तु वह पूर्ण नहीं होती और रक्त में कुछ कर्बन बढ़ती जाती है। वह निद्रा के समय कुछ अधिक लंबे सांस आने पर साफ होती हैं, क्योंकि साधारण गहरी निद्रा में लगभग १००-१२५ घन इंच वायु का आवागमन होता है।

(६१५) परन्तु अधिक परिश्रम से, व्यायाम से, गन्दी हवा में रहने से या पर्वत की हलकी वायु-राशि में पहुंचने पर शरीर में पैदा हुए कार्बन की शुद्धि के लिये अधिक हवा दरकार होती है। उसके लिये हम जोर-जोर से और जल्दी सांस लेने लगते हैं, जिसे 'हांपना' कहते हैं। उससे रक्त तो शीघ्र शुद्ध होता है, परन्तु श्वास झटके से लिये–छोड़े जाने के कारण फेफड़ों की नाजुक केशिकाओं को हानि पहुंचती है। इसलिये जब हांपनी चलने लगे तब थोड़ा विश्राम कर लेना और दीर्घ श्वास लेना-छोड़ना चाहिये जिससे रक्त धीरज के साथ पूर्ण शुद्ध होजाय, कार्बन निकल जाय और उसे काफी ओपजन मिल जाय।

(६१६) फुफ्फुस सिकुड़ने वाली (लचकदार) झिल्ली से बने होते हैं। परन्तु आमतौर से वे छाती में सदा फैले हुये ही रहते हैं, कारण कि छाती ऐसी संदूक है जिसमें श्वासमार्ग के सिवा और कहीं से

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

हवा नहीं धंस सकती। फलतः यह हृदय आदि के अलावा जितनी भी खाली बचती हैं उतनी सबमें फेफड़े भरे रहते हैं। श्वास चलाने वाली (इड़ा) नाड़ी (*Pneumogastric Nerve* न्यूमोगैस्ट्रिक नर्व) के द्वारा वे सिकोड़े जाते हैं और कुछ ऐसा प्रयत्न भी किया जा सकता है कि फैले हुए फेफड़े में साधारणतः जितनी वायु (२००-२२५ घन इंच) समाती है उसकी अपेक्षा अधिक दवाव देकर (३५० घन-इंच) भरली जाय। फिर वह फेफड़ा सिकुड़ने पर वाहर निकलती है और प्रयत्न करके उस हवा को इतना अधिक निकाला जा सकता है कि अन्दर फेफड़ों में सिर्फ १०० घन इंच हवा रह जाय। यह दोनों दशायें दीर्घ श्वसन की हैं।

(६१७) यदि कहीं दुर्घटनावश या जान-बूझ कर फेफड़ों में छेद होजाय तो वचना कठिन हो जाता है। वह इस कारण नहीं कि फेफड़ा कट गया बल्कि इस कारण कि उसका कार्य वन्द होजाता है। उदाहरणार्थ दाहिने फेफड़े में छुरा लगा और वह फेफड़े तक भी न पहुंचकर सिर्फ उसके ऊपर लिपटी हुई झिल्ली फुफ्फुसधरा (*Pleura* प्लूरा) को ही चीर पाया। तब भी छाती से वाहर की वायु छुरे से हुये छिद्र द्वारा-छाती के अन्दर धंसकर दवाव डालने लगी। उससे फेफड़े के अन्दर भरी हुई जिस हवा के ज़ोर से फेफड़े फूल रहे थे-उसका ज़ोर जाता रहा। अब फेफड़े जो स्वयं लचकदार (सिकुड़ने वाली) झिल्लियों से बने हुये हैं, सिकुड़ कर एक तिहाई ही हो रहते हैं। अव उनका अन्तः-श्वास की हवा खींचकर फूलना और फिर निःश्वास द्वारा अशुद्ध वायु निकालना वन्द होगया फलतः रक्त की शुद्धि रुक गई।

यदि यह विकार सिर्फ १ ही ओर हो तब तो दूसरी ओर का फुफ्फुस काम करता रहता है और रोगी दम घुटनेका सा कष्ट पाते हुये भी-किसी प्रकार जीवित रहा आता है और उस अरसे में यदि विकृत फेफड़ा कुछ ठीक किया जा सके तो प्राण बच जाते हैं। परन्तु यदि दोनों ही फेफड़े आफत में आ पड़ें, या कोई व्यक्ति दोनों फेफड़ों पर शस्त्र-क्रिया कर बैठे-तब उनके आस-पास बाहरी हवा पहुंचकर अन्दर की वायु का दवाव हटा देती है और दोनों फेफड़े सिकुड़ रहते हैं। उस समय रक्त की शुद्धि (ओषजन मिलना और कर्वन निकलना) क़तई वन्द होजाने से-*Collapse* कोलैप्स (शीतांग) होकर-प्राणी कुछ मिनट में ही समाप्त होजाता है।

इस दशा में भी लगभग पंचमांश वायु फेफड़ों में भरी रह जाती है अतः 'शवपरीक्षा' करते समय सिकुड़ा हुआ फेफड़ा भी पानी पर तैरता ही रहता है।

इसके विपरीत जब नाड़ियों की कमजोरी बढ़ते-बढ़ते-वे छाती और फेफड़ों को सिकोड़ ही न सकें तब भी उसमें भरी हुई वायु रक्त की कर्वन ग्रहण करते-करते दूषित तो होती रहती है मगर वह निकलकर उसकी जगह ताज़ी प्राणवायु-पूर्ण वायु नहीं पहुंच सकती। इससे भी रक्त की शुद्धि वन्द होजाती है और प्राणी मर जाता है। इस दशा में फेफड़ा वैसा सिकुड़ा हुआ नहीं पाया जाता।

(६१८) तीसरी दशा "क्रमशः मौत" की है जिसे राजयक्ष्मा या क्षय (पल्मोनरी थायसिस *Pulmonary phthisis* अथवा कंजम्पशन *Consumption* – सिल या दिक़) कहते हैं। यह तब होती है जब लगातार दुष्ट वायु में रहना पड़े,

चिन्ता-शोक में छाती भिंची रहे, पोषक पदार्थ ठीक न मिलें और शरीर में शुक्र का भण्डार भी काफ़ी न हो। ऐसी दशा में फेफड़ों का कुछ भाग ( प्रायः ऊपरी चोटी वाला *Apex* ऐपिक्स) पूरा फैल-सिकुड़ नहीं पाता और शुद्ध वायु और रक्त का भी प्रवेश कम होता है। जो अंग 'कामचोर' होजाय, उसे शरीर की पोषक रगें भी कम रसद पहुंचाती हैं और उस त्रुटि को पूरी करने वाला 'वीर्य' भी बहुत होता नहीं। बस फुफ्फुस का भाग ( चोटी या अन्य ) गलना – क्षय होना – शुरू होजाता है। उससे जो दुर्गन्ध पैदा होती है वह रोगी की तबियत भी कुछ बिगाड़े रखती है और उसके मुख तथा श्वास में भी ऐसी सड़ी हुई दुर्गन्ध होती है जो स्वस्थ पुरुष को, अत्यन्त घबरादेने वाली लगती है। मुख चाहे जितना साफ़ किया जाय परन्तु क्षय रोगी के मुंह से वह सड़ी दुर्गन्ध आना बन्द नहीं होता क्योंकि वह तो अन्दर से आती है।

इस गलित स्थान पर क्षयरोग के विशेष सेवी कीटाणुओं का भी शीघ्र अड्डा बन जाता है और वे उस विकार को और भी तेजी से बढ़ाने लगते हैं। कुछ समय तक उनका जो मल विसर्जित होता है और उनकी आयु पूरी होने पर जो कीटाणुओं की लाशें होती हैं, वे प्रतिविष ( *Anti-toxin* ऐंटी–टोक्सिन – वाक्य ४८७ ) बनकर उन कीटाणुओं की बढ़वार को कुछ-कुछ रोकती भी हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों प्रतिविष मल बढ़ते जाते हैं — वे भी शरीर की जीवनी-शक्ति पर भार रूप होने लगते हैं। उस समय स्वच्छ वायु, गंगाजल जैसे प्रभावशाली पेय, और जीवनीशक्ति-दायक स्वर्ण, अष्टवर्ग आदि औषधि-सहायता जरूरी होती है। वे न मिलें और चिन्ता, शोक,दरिद्रता तथा गन्दगी रोगी का पीछा न छोड़ें तो धीरे-धीरे उसका फेफड़ा क़तई बेकार होजाता है। विकार दूसरे फेफड़े में भी पहुंचता है और बस अन्त!

(६१९) यूरोप के कई देशों में यह रोग पहिले बहुत था परन्तु ज्यों-ज्यों वहां का व्यापार बढ़ा, बेकारी घटी, संपत्ति उमड़ने लगी और स्वास्थ्य-सुधार के साधन तथा पौष्टिक पदार्थों की कमी न रही त्यों-त्यों यह रोग वहां से दूर होता जारहा है। इंग्लैंड में तो आजकल १ प्रतिशत से भी कम व्यक्ति इस रोग के शिकार होते हैं। इसके विपरीत भारत में – जहां कभी केवल "चंद्र" आदि एकाध व्यक्ति ही राज--यक्ष्मा का शिकार हुआ सुना जाता था – अब १० करोड़ के लगभग नर-नारी और बालकों में क्षय के बीज घर जमा चुके हैं। ४०-५० प्रतिशत मौतों में पूर्ण या अपूर्ण क्षय पाया जाता है और वह दिनों-दिन भीषणतासे बढ़ही रहा है। सरकारी और ग़ैर-सरकारी पुकारों से भी यह रोग डरकर भाग नहीं जाता और ज्यों-ज्यों बेकारी तथा कङ्गाली बढ़ती जारही है त्यों-त्यों यह रोग भी अधिक ही आतंक जमाता आरहा है।

(६२०) क्षय के गलित-विकार का विष मारने और क्षतों को पूर्ण करने के लिये 'घी' की चिकनाई का धूम्र अत्यन्त लाभप्रद पाया गया है। वह हवन, आरती या अखण्डज्योति आदि तरीकों से आस-पास की वायु में फैलाकर – श्वास के साथ फेफड़ों तक पहुंचाया जा सकता है। यदि ज्योति जले तब तो वह धूम्र घांस भी पैदा नहीं करता और बहुत सूक्ष्म होकर अधिक से अधिक लाभ पहुंचाता है। परन्तु अत्यन्त निर्धनता तथा उससे पैदा होने वाली अकर्मण्यता के कारण ८० प्रतिशत भारतीय पेट भर अन्न तक नहीं पा रहे वहां जलाने को घृत तो मिले

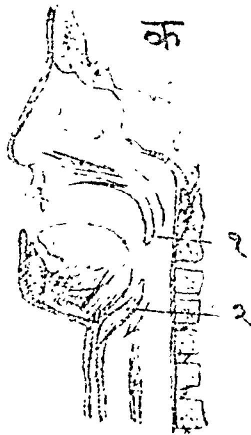
## भोजन निगलते समय कण्ठ में क्या परिवर्तन होता है।

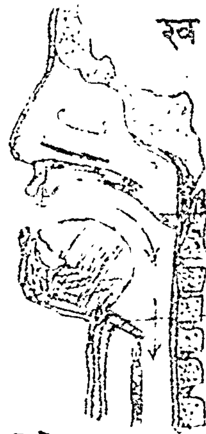
साधारण दशामें कण्ठ ऐसा रहता है | निगलते समय कण्ठ ऐसा होजाता है।

श्वास लेते समय और बोलते समय

१= काग Uvula

२= उपजिव्हा Epiglottis.




खाना खाते समय और पानी पीते समय

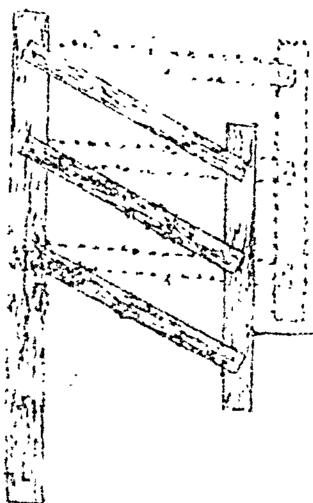
काग ऊपर उठगया है।

उपजिव्हा गिरकर कण्ठ पर आढकी है जिससे भोजन श्वास-मार्ग में न चलाजाय.

ध्यानसे देखें:—

श्वास लेते समय नासिका की ओर का मार्ग खुला है और नीचे श्वास मार्ग अर्थात् स्वरयंत्र का मुंह भी खुला हुआ है। (वाक्य ६०८-८५)

भोजन करते बीच में बोल उठें तो उस समय भी यही दशा 'क' होकर — खाना स्वर यंत्र में गिरने का भय रहता है।



### श्वास लेते — छोड़ते समय पसलियां
(वाक्य ६२२—२४)

पसलियां ऊपर खिंची हुई हैं। तब:—
१- छाती चौड़ी होगई है।
२- उसमें श्वास की हवा भरी है।
३- पर्शुकायें सीधी दशा में हैं।

पसलियां नीचे को लटकी हुई हैं। तब:—
१- छाती की चौड़ाई घटगई है।
२- उसमें से निश्वासवायु निकलचुकी
३- पर्शुकायें अपने ही बोझ से नीचे को झूलगई हैं।

पसलियों का कार्य- दर्शक लकड़ियों का ढांचा.

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

ही क्योंकर ? फिर नवीन सभ्यता ने जहां कलेजा जलाने को तमाकू – और फेफड़ा कमजोर करने को मूंगफली एवं "वनस्पति-घी" भारत की भेट किया है, वहां हवन आदि के प्रति संकोच भी पैदा कर दिया है। वह चाहे फुर्संत की कमी से ही न किया जाता हो, पर हम लोग उस लाभदायक चीज को प्राय: छोड़ अवश्य वैठे हैं। ऐसी दशा में सार्वजनिक बोर्डों तथा अधिकारियों की ओर से ही वह किया जाना चाहिये। विलायती नक्शे तो क्षय के गलाव को मिटा नहीं सकते न सब लोग उन्हें समझते ही हैं, परन्तु उतना हजारों रुपया "घृत" जैसे *Antiseptic* रोगाणुनाशक पदार्थ पर खर्च कर देने से लाभ अवश्य होगा – सभी को होगा और वह धन फिर भी देश में ही रह जायगा। पर्वतों की वायु, नदी-नीर विशेषत: गंगाजल और – सबसे अधिक-- चिन्ताभार से छुटकारा भी क्षय रोगी को बचा लेते हैं।

(६२२) <u>अन्त:श्वसन</u>–जब हम श्वास अंदर लेते हैं उस समय "उरोदरा पेशी" सिकुड़ती है। वाक्य ३४७-४६ में वता आये हैं कि वह पेशी पेट के किनारों से जुड़ी और ऊपर को उठी होती है। अत: उसके सिकुड़ने से वीच का भाग नीचे को दवाता है। वह पेट के अंगों को दवाता है अत: श्वास लेते समय पेट भी उन अंगों के दवाव से नाभि की ओर फूल आता है। वास्तव में श्वास की हवा पेट तक पहुंचकर उसे नहीं फुलाती बल्कि उरोदरा पेशी का दवाव ही पेट फुलाता है। उधर छाती में ऊपर से नीचे को दवाव ही पेट फुलाता है। उधर छाती में ऊपर से नीचे को स्थान बढ़ जाता है।

दूसरी ओर पसलियों की पेशियां भी ऊपर को सिकुड़ती हैं। वे पसलियों के पिंजड़े को ऊपर उठाती हैं। तब इससे [लिथो के एक चित्र में दिखाये गये अनुसार] छाती का घेरा बढ़ जाता है। वह पीठ और छाती की ओर तथा दाहिने से बांये ओर तक भी, कुछ अधिक फैल जाती है। इस प्रकार दसों दिशाओं में छाती की संदूक फैल जाती है और उसके साथ-साथ दोनों फेफड़े भी। वस उनमें ३० घन इंच वायु और भरकर २३० घन इंच होजाती है। यदि कोशिश करें तो उतने ही स्थान में या छाती कुछ और अधिक फैलकर तथा उसमें हवा अधिक दवाव से भर कर, ३५० इंच तक-(१०० इंच और भी) वायु भर सकते हैं। यह 'पूरक प्राणायाम' कहलाता है।

(६२३) <u>बहिर्श्वसन</u>–ऊपर की भांति पेशियां सिकुड़ चुकने के वाद, क्षणभर ही ठहर कर फिर फैलने लग जाती हैं। इससे 'उरोदरा पेशी' फैलकर उसका मध्यभाग फिर ऊपर उठ आता है। पेट के अंगों पर से दवाव हटकर वे अपनी पूर्वावस्था में आजाते हैं और पेट सिकुड़ जाता है। छाती की पेशियां भी फैलकर पसलियों का घेरा ढीला छोड़ देती हैं और वह कुछ उन पेशियों के फैलने से और कुछ अपने भी बोझ से नीचे को झुक आती हैं। फल यह होता है कि छाती की संदूक सब ओर से भिंचने लगती है। उधर फेफड़े की नलिकायें भी लचकदार सूत्रों की वनी होने के कारण स्वयं कुछ सिकुड़ना चाहती हैं। इन सवके दवाव से फेफड़े के अन्दर की हवा --श्वास मार्ग द्वारा–वाहर को निकल जाती है। वह साधारणत: ३० घन इंच निकलती है, अगर उससे पहिले दीर्घ श्वास लिया हुआ हो तो १५० घन इंच निकल जाती है।

(६२४) यदि और भी विशेष प्रयत्न करें तो पेट को अन्दर की ओर भी भींचा जा सकता है।

उससे आंतरिक अङ्ग दबकर उरोदरा पेशी और भी ऊपर को जाती है। वह छाती की समाई घटाती है। दूसरे इड़ा-नाड़ी ( न्यूमोगैस्ट्रिक नर्व ) भी फेफड़े के वायुकोषों को और सिकोड़ती है। फलतः फुफ्फुसों में से और भी १०० घन इंच वायु निकल जाती है और केवल १०० घन इंच रह जाती है। इस दशा को "रेचक प्राणायाम" कहते हैं। श्वास के बाहर निकालने के पश्चात् लगभग आधी सैकंड पेशियां विश्राम करती हैं। और फिर अन्तः श्वसन ( प्रश्वास ) शुरू होजाता है। इस विश्राम-काल को बढ़ाया भी जा सकता है। प्रयत्न करने से योगी लोग घन्टों तक श्वास की वायु को बाहर ही रोके रहते हैं। इसे "रेचक-कुंभक" कहते हैं। इसीप्रकार फेफड़े के अन्दर वायु खूब भर लेने के पश्चात् उसे रोक रखने को "पूरक-कुंभक" कहते हैं। तीसरा सामान्य "कुंभक" वह होता है जब न तो अधिक हवा भरी ही हो, न अधिक निकली ही हो- बल्कि साधारण श्वासक्रिया होते-होते ही उसे रोक दिया जाय और सुखपूर्वक जितना रुक सके रोक रखा जाय।

इन क्रियाओं से रक्त अधिक शुद्ध होता है, तथा शरीर के अवयवों पर- नाड़ियों पर और मस्तिष्क के कार्य-कलापों पर भी बहुत कुछ काबू प्राप्त होता है। परन्तु यह साधना बहुत धीरे २, संयम और नियम-पूर्वक बढ़ानी चाहिये। एकाएकी और किसी की अन्धी नक़ल करके ऐसा करना हानि भी भयङ्कर ही करता है। कहा है-"देखादेखी साधे जोग, छीजे काया, बाढ़े रोग"।

( ६२५ ) शीर्षासन-साधारणतः हर एक

---

मिनट में- युवा-पुरुष १६-१७ या १८ श्वास लेते और छोड़ते रहते हैं ( और इससे ठीक चौगुनी बार दिल धड़कता रहता एवं नाड़ी चलती रहती है )।

परन्तु, कह आये हैं कि, इतने कार्य से रक्त जैसा शुद्ध होता है, वह- विशेषतः आजकल के गंदे वातावरण में-संपूर्ण शुद्ध नहीं होता। विशेषतः शरीर के ऊपरी भाग में रक्त मन्द-गति से चढ़ता है और निचले भाग से सिराओं में बहुत मन्द-मन्द लौटता है अतः इनमें कुछ विकार जमा होने लगते हैं। फलतः निरुत्साह, नेत्र और कानों की कमजोरी, जिगर की खराबी और टांगों तथा हाथ के जोड़ों में गठिया भी हो सकते हैं।

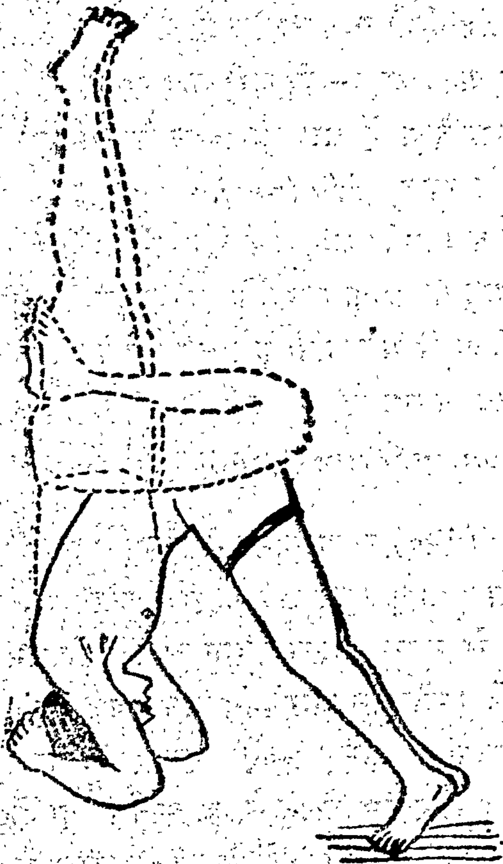
इसका उपचार डाक्टरी में अनेक प्रकार की मालिशों, इन्जैक्शनों और यन्त्रों द्वारा किया जाता है। परन्तु भारतीय ऋषियों ने बे-कौड़ी का उपाय बताया हुआ है। महर्षि पतंजलि व्याकरण के साथ साथ योग और आयुर्वेद के भी आचार्य होगये हैं। योग की एक ही क्रिया शरीर की सर्वाङ्ग शुद्धि कर देती है और वह है शीर्षासन।

शीर्षासन में दोनों हथेलियों के ऊपर सिर रख कर- पैर ऊपर को करके उल्टे खड़े होते हैं। पहिले यह क्रिया किसी दीवार के सहारे करते हैं। फिर बिना सहारे खड़े होने लगते हैं, उस समय कोई भी कसा हुआ कपड़ा नहीं पहनते। फल यह होता है कि टांगों को गया हुआ रक्त अब बड़े वेग से हृदय की ओर उतरता है। वह गुर्दों और यकृत से तमाम मैल बहा लाता है। उधर सिर की ओर रक्त तेजी से जाता है अतः वहां बारीक से बारीक नलियों में काफी मात्रा में पहुंच कर पूरा २ पोषण करता है। तीसरे- आंतों में जो गन्दी गैसें (अपान-वायु) जमा होवें, वह- अब गुदा-मार्ग ऊपर को होजाने से-बड़ी तेजी से बाहर निकल जाती है। और चौथे- फेफड़े भी उल्टे होजाने के कारण उसके जिन निचले भागों में पहिले हवा कम पहुंचती रही हो उनमें अब प्रचु-

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

रता से पहुंचती है। अर्थात् दिन भर शरीर में प्रवाह जिस गति से बहता रहा था वह कुछ समय को कमोवेश होजाता है और इससे सब विकार घुल आते हैं।

## शीर्षासन -



सावधानी—फेफड़ों में रक्त बड़े वेग से पहुंचता है और उसमें शरीर भर का मैल भी घुला होता है अतः फुफ्फुस शुद्ध वायु भी अधिक मांगने लगते हैं, सांस शीघ्र और जोर २ से चलने लगती है। सिर में भी रक्त बहुत वेग से उतरता है अतः रगें भर कर तन जाती हैं और कभी-कभी प्रारंभ में कुछ छोटी केशिकायें फट जाने का भी भय रहता है। इसलिये शीर्षासन पहिले सिर्फ ५-७ सैकंड को ही करना चाहिये। इसके बाद रोजाना १-२ सैकंड बढ़ाते हुए १ पल ( २४ सैकंड ) तक आजायं। और धीरे-धीरे १ मिनट, २ मिनट, १० मिनट और आध घण्टा तक भी बढ़ा सकते हैं। परन्तु इससे अधिक केवल तपस्या के लिये ही बढ़ाना चाहिये। साथ ही उस समय जल्दी-जल्दी मुख से सांस या हप-हपी न लेकर संयम-पूर्वक नाक से ही दीर्घ श्वास लें। वरना फेफड़ों को भी हानि पहुंच सकती है।

लाभ— इन सब हानियों से बचकर चलें तो शीर्षासन के लाभ तो अपार हैं। इससे दिमाग़ की नसें पुष्ट होती हैं, दृष्टि तेज होती है, बहरापन मिटता और केश काले होते हैं। शरीर में शुद्ध रक्त का प्रवाह और उत्साह बढ़ता है। और वीर्य का बहाव भी मस्तिष्क की ओर होजाता है जो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों का साधन है।

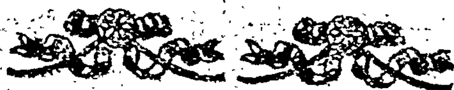
(६२६) फुफ्फुसधरा ( *Pleura* प्लूरा ) झिल्ली। यह दो पर्त्त बनाकर फेफड़ों को लपेटे रहती है। वह इस तरह कि फुफ्फुसों में — अन्दर की ओर बीच में जहां श्वास-नली और रक्त-वाहिनियां धँसती हैं वहां तक जाकर यह झिल्ली ऊपर को मुड़कर पलट आती है और फिर तमाम फेफड़े को लपेटती हुई श्वास नली वगैरः की दूसरी ओर स्थित अपने सिरे से आजुड़ती है। मानों एक बटुए या थैली को — दोहरा ही — फुफ्फुसों पर लपेट दिया गया हो। इस झिल्ली का बाहरी पत्त — अर्थात् जो ऊपरी पर्त्त में छाती की ओर रहता है वह आस-पास के अंगों से कुछ चिपका रहता है। इसी तरह बिल्कुल अन्दर फेफड़ों की ओर वाला पर्त्त — फुफ्फुसों से चिपका रहता है। और इन दोनों पर्त्तों की पीठ अर्थात् उस दोहरी थैली के अन्दरूनी पर्त्तों की ओर, झिल्ली के

जीवाणु एक पतली लार स्रवित करते रहते हैं। यह श्लेष्मा उन दोनों पर्त्तों के बीच में जमा रहता है, इससे वे पर्त्त परस्पर रगड़ खाने पर भी क़तई घिसते नहीं, न वेदना करते हैं। ऊपर का पर्त्त छाती से स्थिर चिपका रहता है और अन्दर का पर्त्त फुफ्फुसों के फूलने-सिकुड़ने के साथ प्रति मिनट १८ बार चलता रहता है। यदि चोट, सर्दी धातु-वैषम्य से ये दोनों पर्त्त किसी जगह आपस में चिपक जायं, तब श्वास लेना कठिन होजाता है और फेफड़े का वह भाग पूरा नहीं फैल पाता या बहुत तनाव होता है।

(६२७) यदि पित्त प्रकोप से दोनों पर्त्तों के बीच का श्लेष्मा कम होजाय तो श्वास लेने में 'हूक' मारने लगती है, और दोनों पर्त्त परस्पर सूखे रगड़ खा-खाकर सूज आते हैं। तब बड़ा दर्द होता है जिसे पार्श्वशूल ( *Pleurisy* प्लूरिसी ) या पसली का दर्द कहते हैं। उस समय श्वास लेते में बड़ा कष्ट होता है। 'एंटीफ्लोजिस्टिन', या मधुकेशर, घृत, तैल आदि मिश्रित लेप, हलका गरम-गरम ही लगाने से फुफ्फुस धरा का वरम घटता और दोनों पर्त्तों के बीच में कुछ "तरी" भी पहुंचती है। इससे चैन पड़ जाता है। अधिकतर यह विकार छाती को सर्दी लगते रहने से ही हुआ करता है, और इसमें अन्दर तथा बाहर अफ़ीम का प्रयोग भी लाभ करता है। और, कुछ न मिले तब तक – मीठे ( तिली के ) तैल में थोड़ा सा कपूर डालकर औटाना और उसमें पानी में घोली हुई अफ़ीम छोड़ कर उतार लेना तथा मिला रखना। यह तैल छाती पर मलने से भी उपकार होता है।

(६२८) कभी-कभी फुफ्फुसधरा के इन दोनों पर्त्तों में सूजन बढ़ते-बढ़ते, उससे रक्त-स्राव होकर खून जमा होजाता है उसे वक्षास्र ( *Hemo-thorax* हीमो थोरेक्स )कहते हैं। कभी झिल्लियों से बहने वाला तरल– विकारी जल ही जमा होकर उसे खूब भर देता है, तब भी श्वास में तंगी होने लगती है। इसे वक्षांबु (*Hydro-thorax* हाइड्रोथोरैक्स ) कहते हैं। इसी प्रकार कभी २ श्वास-नाली में से रिसी हुई वायु या फुफ्फुसधरा के अन्दर ही पैदा हुई गैसें इस थैली में भर जाती हैं। तब भी वे श्वास लेने में रुकावट करती हैं। इस दशा को 'वक्षवात' *Pneumo-thorax* न्यूमोथोरैक्स ) कहते हैं।

(६३०) इस प्रकार १-१ फुफ्फुसधरा झिल्ली में लिपटा हुआ फुफ्फुस रक्त को शुद्ध करता है, अर्थात् उसमें से कर्बन निकाल देता और ओषजन मिला देता है। ओषजन आगे अंग-अंग तक पहुंचकर – वहां कार्यों के समय खांड आदि जलाकर शक्ति देती है और उस जलने से जो कार्बन पैदा होता है, वह फिर रक्त द्वारा फेफड़ों में आकर शरीर से बाहर निकल जाता है। यह रक्त का दौरा ही शरीर में जीवन जगाता और उसका ताप एक कांटे पर बनाये रखता है। आगे इसी ताप का कुछ विशद विवेचन करेंगे।



* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

# शरीर का ताप-क्रम (Body-Temperature)

[ ले० श्री. डा. देव, गुरुकुल कांगड़ी ]

(६३१) ताप परिमाण की दृष्टि से प्राणियों की दो श्रेणियां की जा सकती हैं। एक तो वे प्राणी जिनका तापमान वायु-मण्डल के तापमान के अनुसार ही घटता बढ़ता है। ऐसे प्राणियों को शीत-रक्तीय (*Cold Blooded* कोल्ड ब्लडेड) कहते हैं। इस श्रेणी में सांप, बिच्छू, मेंढक, मछली तथा कई पक्षी भी आते हैं। जब तक बाहिर के वायु-मण्डल का तापमान ज़्यादा होता है तब तक इनमें स्फूर्ति तथा गति आदि भी अधिक होती है। यही कारण है कि गर्मियों में सांप, बिच्छू आदि अधिक विषैले और स्फूर्ति-युक्त होजाते हैं। परन्तु सर्दियों में ये ज़मीन में घुस जाते और लाचार-सुषुप्ति अवस्था में पड़े रहते हैं।

दूसरी प्रकार के प्राणी वे हैं जिनका ताप-परिमाण सदा एक-सा स्थिर-प्राय रहता है। चाहे वायु-मण्डल का तापमान कुछ ही हो। उन्हें उष्ण-रक्तीय (*Warm Blooded* वार्म ब्लडेड) कहते हैं। इस श्रेणी में शेष सब पक्षी तथा स्तनों से दूध पीने वाले प्राणी आजाते हैं। इनमें भी भिन्न २ प्राणियों का तापमान भिन्न २ होता है। मनुष्य का ३७-५° शतांश (९८-५° फा०), बैल का ३८° शतांश, कुत्ते और बिल्ली का ३८-५°श०, भेड़ और खरगोश का ३९° श० तथा पक्षियों का ४२° शतांश, प्रायः निश्चित तापमान है।

शरीर का तापमान भिन्न २ स्थानों पर कुछ भिन्न २ भी रहता है। त्वचा से हर समय स्वेद उड़ता रहता है और स्वेद अपने साथ कुछ गर्मी भी लेकर उड़ता है अतः त्वचा का तापमान कम रहता है। यकृत में रासायनिक परिवर्तन (*Chemical rections*) सबसे अधिक होते हैं इसलिए यकृत का तापमान शरीर में सबसे उच्च होता है।

बाहिर के वायुमंडल का भी थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ता है। सूर्य की उपस्थिति में विशेषतया सायंकाल ४ बजे के लगभग मनुष्य का तापमान ३७-५° शतांश होजाता है। तथा प्रातः ३ बजे जब वायु-मंडल ठंडा होजाता है तब ३६-५° श० के लगभग ताप होता है जो लोग दिन को सोते और रात को जागते हैं उन में यह तापक्रम उल्टा होजाता है। उनके कार्य करने के समय तापमान ज्यादा तथा विश्राम के समय कम होजाता है।

## तापमान स्थिर कैसे रहता है

(६३२) तापमान की स्थिरता, वास्तव में 'तापोत्पत्ति' और 'तापनाश' का अविशेष है। हमारा स्थिर तापमान ३७° श. या ९८-५° फार्नहाईट है। यदि हमारे में तापोत्पत्ति बढ़ जाए तो स्वभावतः तापमान भी बढ़ना चाहिए, परन्तु साथ ही उत्पत्ति के लगभग तादाद में ही ताप नष्ट भी होता है। अतः तापमान स्थिर रहा आता है। यदि ताप शरीर से

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

ज्यादा नष्ट हो यथा सर्दियों में, तो ताप की उत्पत्ति भी बढ़ जाती है। तापमान को स्थिर रखने के लिए उपर्युक्त दोनों बातें ही मुख्य हैं और प्रकृति ने इनकी व्यवस्था कर रखी है।

(६३३) तापोत्पत्ति—उन अंगों में होती है जिन अङ्गों में रासायनिक क्रियाएँ बहुत होती हैं। रासायनिक क्रियाएँ प्रायः आक्सी-करण(औक्साइडेशन *Oxidation* ) अर्थात् कोई पदार्थ सुलगने से होती हैं। शरीर में 'सुलगने' का स्थान मुख्यतः मांश-पेशियां, ग्रन्थियां और यकृत आदि हैं। आक्सीकरण भोजन से होता है अतः तापोत्पत्ति में भोजन विशेष भाग लेता है। बहुत भोजन खाने वालों में या खाण्ड, चर्बी आदि तापोत्पादक भोजन बहुत खाने वालों में भी प्रायः ताप ज्यादा उत्पन्न होता है। इसके विपरीत उपवास करने वाले प्राणी का तापमान घट जाता है। यदि शरीर को भोजन न मिले तो तापमान को स्थिर रखने के लिये शरीर, शारीरिक तन्तुओं को ही जलाकर तापोत्पत्ति कर देता है। इस अवस्था को "ज्वर" कहते हैं। यही कारण है कि आदमी ज्वर में निर्बल होजाता है। [ साधारणतः ज्वर में अधिकांश 'मल' पहिले जलते हैं और फिर शारीरिक धातुएं। – सं० ]

(६३४) तापनाश—अधिकतर उन स्थानों से होता है जिन स्थानों के द्वारा शरीर से श्वास और मल-मूत्र द्रव आदि ४ पदार्थ बाहर निकलते हैं। वे निकलते हुए शरीर से गर्मी भी लेकर जाते हैं जिससे शरीर का तापमान कुछ अंशों में घटता है। त्वचा द्वारा स्वेद, अन्तड़ी द्वारा मल तथा श्वास-द्वारा जल वाष्प गरम होकर निकलते हैं। इसीलिए ये सब स्थान तापनाशक हैं।

(६३५) त्वचा में एक और प्रक्रिया होती है। त्वचा में उत्पन्न स्वेद शरीर का ताप तो बाहिर लाता ही है– साथ-साथ जब यह शरीर से उड़ता है तो शरीर की गर्मी को लेकर उड़ता है। जिससे त्वचा ठंडी होजाती है। इस प्रकार स्वेद गर्मी घटाने में दोहरा कार्य करता है। वह शरीर के तापमान को घटाने का मुख्य साधन है। खद्दर या गाढ़े के वस्त्र पहिनने से स्वेद आकर गर्मी में शरीर को ठंडक पड़ जाने का यही रहस्य है। स्वेद रक्त से उत्पन्न होता है अतः जब स्वेद अधिक बनता हो तब त्वचा की रक्त-वाहिनी ( *Blood vessels* ) विस्तृत होजाती हैं। व्यायाम के समय भी यही क्रिया होती है। अतः उपर्युक्त प्रक्रियाएँ चिद्‌वर्धक हैं। त्वचा स्वेद के द्वारा ठण्डी होती है। उस त्वचा के सम्पर्क से रक्त भी ठण्डा होता है। और वह रक्त सारे शरीर में जाकर शरीर को ठण्डक पहुंचाता है।

जिस प्रकार हम किसी गरम चीज़ को छूते हैं तो उसकी गरमी हमारे में आजाती है ठीक इसी प्रकार त्वचा अन्य ठंडी वस्तुओं से छूती रहती है जिससे शरीर की गर्मी उन चीज़ों में चली जाती अर्थात् नष्ट होती रहती है। इस प्रकार तापनाश का मुख्य साधन त्वचा है तथा तापोत्पत्ति का मुख्य सधन मांस-पेशियां, जो पहिले ( वाक्य २७१ में ) आचुका है।

## ताप-नियन्त्रक केन्द्र

(६३६) शरीर के ताप परिमाण को नियत रखने के लिए तापोत्पत्ति तथा तापनाश का नियन्त्रण कौनसी शक्ति करती है? वह शक्ति लघुमस्तिष्क का "ताप-केन्द्र" है।

धूप में जाने पर सूर्य की गरमी से हमारे शरीर का तापमान बढ़ जाता है। उसे नष्ट करने के लिये पसीना आता है। अगर किसी कारण तापमान तो बढ़ता है पर उतना पसीना नहीं आता तब 'लू' लग जाती है जिसे अंशुघात *Sunstroke* कहते हैं। तब तापमान ११०° फा० तक पहुंच जाता है जिससे मस्तिष्क के सारे केन्द्र झुलस कर शिथिल पड़ जाते हैं।

जब गरम रक्त इस केन्द्र को पहुंचता है तब यह तापकेन्द्र उत्तेजित होजाता है।

जब हम व्यायाम करते हैं तब मांस-पेशियों में गर्मी पैदा होती है। साथ में जल और कर्बन गैस भी पैदा होती है। कर्बन गैस रक्त में घुलकर *Carbolic acid* कार्बोलिक एसिड बनाती है। यह *Acid* रक्त में घूमती है जिससे उपर्युक्त ताप-नियंत्रक केन्द्र ( *Heat regulating centre* हीट रेगुलेटिंग सेंटर ) उत्तेजित होजाता है।

(६३७) हम ऊपर कह चुके हैं कि तापोत्पत्ति की प्रतिनिधि मांस-पेशियां और तापनाश की प्रतिनिधि त्वचा है। तापक्रम बढ़ने पर छोटे मस्तिष्क में स्थित एक रक्त-चालक केंद्र ( *Vasomotor centre* ) त्वचा की रक्त-वाहिनियों (रगों) को उत्तेजना देता है जिससे मांसपेशियों की ओर प्रवाह घट कर त्वचा में ज्यादा रक्त जाने लगता है और वही स्वेद बनता है जो रक्त को ठण्डा कर देता है।

(६३८) इसके विपरीत सर्दियों में जब रक्त ठण्डा होजाया करता है तब मांसपेशियों की रक्त-वाहिनियों को उत्तेजना मिलती है। इससे वे विस्तृत होजाती ( चौड़ी फैल जाती ) हैं और उनमें रक्त ज्यादा आता है, तथा त्वचा की ओर प्रवाह कम हो जाता है। मांसपेशियों में रक्त ज्यादा आने से पेशियां अधिक कार्य करती हैं, या कर सकती हैं। इससे गरमी पैदा होती है और रक्त गरम होजाता है। यही कारण है कि अधिक सर्दी में आदमी कांपता है। यह कम्पन, मांसपेशियों का वह कार्य है जो गर्मी पैदा करता है और इसे आदमी इच्छानुसार रोक नहीं सकता।

---

# मूत्रयंत्र-वृक्क ( Kidney किडनी ) गुर्दे

( डा० गणपतिचन्द्र केला )

(६४०) हम देख चुके कि रक्त में से रिसा हुआ श्लेष्मा (*Lymph*) शरीर के विविध जीवाणुओं का पोषण करता है और उनके द्वारा त्यागन किये हुए मल ले आता है। जीवाणुओं का छोड़ा हुआ कर्बन-डायोक्साइड सीधा रक्त में ही मिलकर आजाता है। वह तो फेफड़ों में शुद्ध होजाता है। परन्तु अन्य मल अन्यत्र शुद्ध होते हैं। उनमें से कुछ लवण, यूरिया नामक तत्व, और कुछ नत्रजनीय चीजें रक्त में से गुर्दे छांट लेते हैं और वे मूत्र बन कर बाहर निकल जाती हैं।

(६४१) गुर्दे शरीर की ऐसी ग्रन्थियां हैं जो लोबिया के बीज की आकृति की हैं और जिनके

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

ऊपर एक-एक टोपी सी रखी है। शरीर में अनेक ग्रन्थियां हैं जैसे प्लीहा, यकृत, क्लोम, थाइमस, पिटयुइटरी, चुल्लिका आदि। परन्तु गुर्दे उन सबसे निराले हैं। अन्य ग्रन्थियां प्रायः रक्त में से ऐसे तत्व छांटती हैं जो शरीर के अनेक अङ्गों में काम देते हैं। पिट् युइटरी का छंटा हुआ रस शरीर को स्थूल बनने से रोकता है। क्लोम का रस (इन्सुलिन) यकृत में 'मधु' की उचित मात्रा रोके रहता है, प्लीहा रक्त के लाल कणों से श्वेतकण बनाती है, यकृत पित्तरूपी गरम पदार्थ रक्त में से छांट निकालताहै परन्तु वहभी भोजन पचानेमें काम देता है और इसके बाद उसका बेकार अंश विष्ठा के साथ गुदा से बाहर निकल जाता है। ऐसे रसों को सीक्रे शन *Secretion* कहते हैं। परन्तु गुर्दे जो तरल मूत्र छांटते हैं, वह शरीर के किसी अङ्ग को उपयोगी नहीं होता, सबको हानिकारी ही होता है। ऐसे बाहर निकाल दिये जाने योग्य पदार्थों को शरीर के विसर्ग (*Excretion* ऐक्सक्रे शन ) कहते हैं। गुर्दे केवल विसर्जक अङ्ग (ऐक्सक्रे टरी आर्गन) ही हैं। फुफ्फुस गुदामार्ग तथा बहुत कुछ त्वचा भी इसी प्रकार केवल मल-विसर्जन करने वाले अवयव हैं।

(६४२) गुर्दे नाभि के ऊपर– उरोदरापेशी के तले होते हैं। दाहिने गुर्दे के ऊपर यकृत, तथा बायें के ऊपर तिल्ली होती है। दोनों गुर्दों के पीछे बीचों-बीच में पृष्ठवंश ( रीढ़ ) के कटि-कशेरुक होते हैं और सामने – छोटी आंतों की लच्छियां। पेट को चीरने पर, ये आंतें ऊंची उठाने के बाद ही गुर्दे नज़र आते हैं। हर गुर्दे के ऊपर टोपी की भांति एक एक और भी महत्वपूर्ण ग्रंथि "उपवृक्क" या पित्त-ग्रंथि ( *Supra-renal capsule* सुप्रारीनेल कैपसूल होती है जिसमें रक्त से ऐसा रस छंटता है जो समस्त शरीर को 'जोश' देता है।

(६४३) हरएक वृक्क लगभग ४ इंच लंबा, २॥ इंच चौड़ा और १। इंच मोटा और वज़न में २-२॥ छटांक होता है। उसके किनारे बाहर की ओर निकले हुए तथा अन्दर की ओर बीच में दबे होते हैं। उस नतोदर ( दबे हुए ) मध्यभाग को वृक्क-मध्य ( *Hilus* या *Hilum* हाइलस या हाइलम ) कहते हैं। महाधमनी से आने वाली वृक्कधमनी ( *Renal artery* रीनेल आर्टरी) हर गुर्दे में यहीं से धंसती है। फिर वह अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बंटती हुई गुर्दे के बाहरी किनारों तक पहुंचते २ नाना केशिकाओं में बदल जाती है।

(६४४) उन केशिकाओं की रचना और कार्य आगे आवेंगे। यहीं रक्त में से मूत्र छंट जाता है। शेष शुद्ध रक्त, केशिकाओं में आगे बहता हुआ सिराओं में जा पहुंचता है। उनकी शाखायें परस्पर मिल-जुल कर एक होती हुई – वृक्क-शिरा (*Renal Vein* रीनल वीन ) बन जाती हैं। जो "अधरा-महासिरा" में जा मिलती हैं।

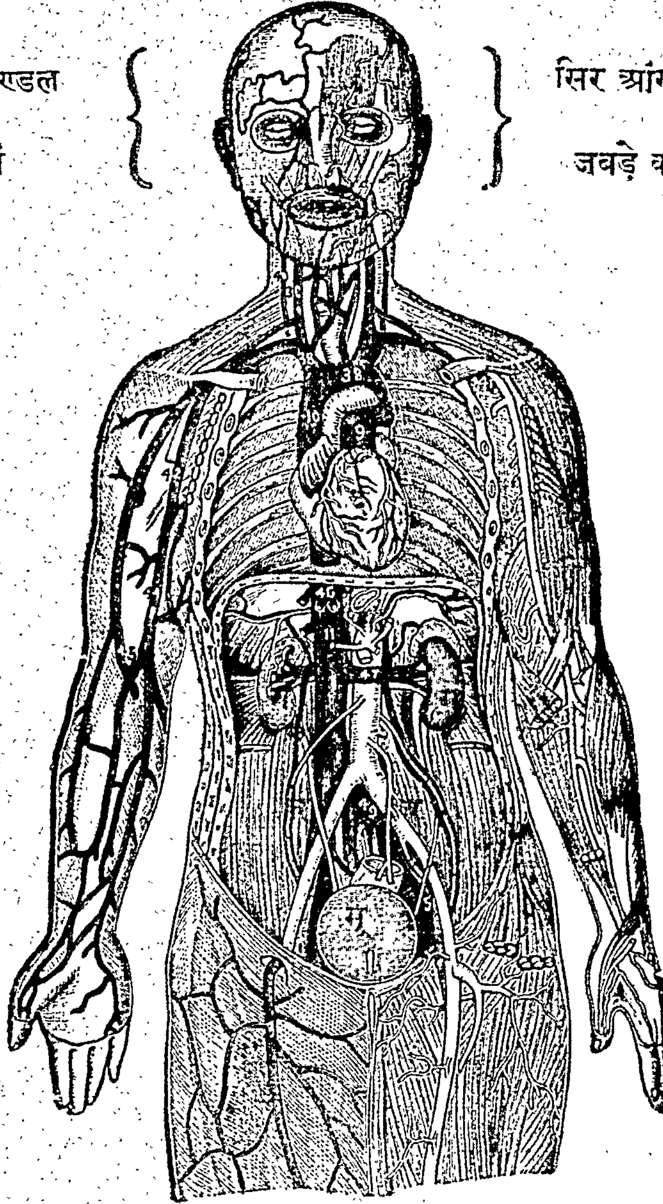
(६४५) इसी वृक्क-मध्य भाग से साधारण पैंसिल जैसी मोटी दो श्वेत नलियां और चलती हैं जिन्हें गवीनि ( *Ureters* यूरेटर्स ) कहते हैं। ये नीचे को तिरछी उतरती हुई, कुछ पतली भी होती हुई, एक तिकोनी थैली में दाहिने-बायें जा जुड़ती हैं। यह थैली मूत्र का गोदाम है। इसे मूत्राशय *Bladder* ब्लाडर या मसाना ) कहते हैं। यह पेड़ के निचले भाग में आगे को ही रहता है। इसमें नीचे की ओर से एक नली चलती है जो स्त्रियों में तो कुल १॥-२ इंच चलकर 'भग' में ऊपर छिद्र रूप में आखुलती है। पुरुषों में यह नली बहुत लम्बी होती है। मूत्राशय से चलते ही उसे दोनों ओर लगी हुई मदग्रंथि ( अष्ठीला *Prostate* प्रोस्टेट ) के बीच से

## कुछ प्रमुख अवयव

मस्तिष्क और मुख मण्डल की रक्त-वाहिनियां

सिर आंखें और कपोल तथा जबड़े की पेशियां [पट्ठे]

इन धमनियों या नसों से नाड़ी या नब्ज देखी जाती है। इनका संबन्ध हृदय की बृहत् नाड़ी से है।



द—यह दिल या हृदय है।

ग-ग-ये दोनों गुर्दे या मूत्रयन्त्र हैं। इन दोनों से दो नालियां मूत्र की थैली तक गई हैं। इन्हीं में होकर मूत्र मूत्र की थैली में जमा होता है। इन दोनों नसों के पास च-च लिखे हैं।

मू—यह मूत्राशय [मसना-मूत्र की थली] इसके पीछे मलाशय है।

—( चिकित्सा चन्द्रोदय )

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

गुजरना पड़ता है। फिर वह नली पेडू के नीचे-नीचे जो "सीवन" है, उसके ऊपर-ऊपर आती है और अन्त में शिश्न के अन्दर – नीचे-नीचे – आकर 'सुपारी' के मुख वाले छिद्र पर खतम होती है। इस मार्ग को मूत्रमार्ग ( *Urethra* यूरेथ्रा ) कहते है और शिश्न के उस छिद्र को मूत्र-द्वार।

(६४६) मूत्राशय के द्वार पर जहां यह नली शुरू होती है, एक संकोचनी (*Sphincter* स्फिक्टर) पेशी लगी रहती है, वह द्वार को भींचे रहती है अतः गवीनियों द्वारा आने वाला बूंद-बूंद मूत्र मसाने में ही जमा होता जाता है। जब मसाना दो तिहाई से अधिक भर जाता है तब मूत्र के भार और तनाव की उत्तेजना – सुषुम्ना नाड़ी में पहुंचती है। वहां से आज्ञा जारी होती है कि "संकोचनी पेशी ढीली हो" बस मूत्रमार्ग खुल जाता है और संचित मूत्र धार बंधकर निकल जाता है। मूत्रमार्ग और शिश्न की कुछ पेशियां भिंचकर मूत्रमार्ग से बूंद-बूंद मूत्र निचोड़ कर निकाल देती हैं और "संकोचनी" पेशी फिर भिंचकर मूत्राशय का निचला द्वार रोक देती है।

कभी-कभी मानसिक निर्बलता, पक्षाघात आदि कारणों से यह संकोचनी-पेशी शिथिल होरहती है। तब तनिक खांसने या ज़ोर करने से ही मूत्र निकल पड़ता है। वृद्धों में यह दशा होती है। यदि पेशी संकोच क़तई छोड़ दे तो फिर गवीनियों द्वारा आते ही मूत्र बूंद-बूंद मत्रमार्ग में निकलता आता है और बूंद-बूंद हरदम बाहर टपकता रहता है। इस दशा में— होमियोपैथिक *Causticum 200* कास्टिकम २०० ( या अवस्थानुसार अन्य शक्ति में देने से ) अच्छा लाभ करता है।

(६४७) शरीर के मध्यभाग की ओर से गुर्दों में धंसी हुई रगें अनेक शाखाओं में बंट जाती हैं। वे शाखें फिर एक ग्यारह-बारह चोंगा-नुमा तिकोने भागों में से एक-एक में प्रवेश करती हैं। चोंगा अंदर से बाहर की ओर को अधिक चौड़ा होता जाता है। उसमें वे रक्त की रगें अनेक प्रशाखायें छोड़ती जाती हैं। लगभग १ इंच सीधी चलने के बाद वे शाखा धमनी या सिरायें – केशिकाओं से जा मिलती हैं। ये केशिकायें अब सीधी नहीं चलतीं बल्कि आड़ी-टेढ़ी लहरें और फंदे खाती हुई आगे बढ़ती हैं जिन फंदों के बीच-बीच में कुछ गोल-गोल पिंड फंसे होते हैं। इन पिंडों को 'मालपिग' नामक डाक्टर ने पहिचाना था अतः इन्हे मालपिगी पिंड ( *Malpighian bodies* मालपिगीयन बाडी ) कहते हैं। बारीक टहनी पर जैसे "बौर" लगा रहता है उसी तरह कुछ बारीक-बारीक मूत्र-नलियों के आस-पास ये 'मालपिगी पिंड' लगे होते हैं। ये बारीक नलियां भी वृक्क में अन्दर की ओर को आती हुई परस्पर मिलकर मोटी होती और अन्त में हर ओर १-१ गवीनि में आखुलती हैं।

(६४८) रक्त की केशिकाओं के बीच में ये 'मालपिगी पिंड' रहते हैं। वहां केशिकाओं की दीवार बहुत पतली और ऐसे जीवाणुओं की बनी होती हैं जो रक्त में से लवण और यूरिया घुला हुआ जल बड़ी तेज़ी से पीते हैं। और फिर दूसरी ओर को उसे विसर्जित भी कर देते हैं। साथ ही साथ पोषक लसीका भी उन दीवारों से रिसता रहता है। उसमें से– इन मालपिगी पिंडों के जीवाणु लसीका से तो अपना पोषण करते तथा उसमें अपने मल त्यागते हैं। तथा शेष नमकीन – यूरिया प्रधान तरल को चूसकर पिंड के अन्दर कर लेते हैं। यह

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

तरल इस प्रकार हज़ारों केशिकाओं में बहता हुआ, असंख्य मालपिगी पिंडों में एकत्र होता है। वहां से सूक्ष्म नलियों द्वारा संचित हो-होकर गवीनियों तक आता है, और वे उसे मूत्राशय में लेजाती हैं। प्रति-मिनट २-३ बूंद मूत्र छंटता रहता है। जब अधिक जल पी लिया जाय, या कोई ऐसी औषध खाली जाय जो गुर्दों में रक्त का बहाव या पतलापन बढ़ा दे, तब मूत्र कुछ अधिक छंटने लगता है। अथवा बड़ी इला-यची, कलमीशोरा, चणकक्षार आदि कुछ औषधें खालेने से मालपिगी पिंडों को उत्तेजना मिलती है और वे अधिक तरल चूसने लगते है और मूत्र अधिक छंट आता है।

(६४६) छंटाव तीन तरह से होसकता है। एक तो छनना ( *Filteration* फिल्टरेशन) अर्थात् रक्त में से पतला अंश उसी तरह केशिकाओं के पार छन जाय जैसे पानी कपड़े या ब्लाटिंग के पार चला जाता है। दूसरे– रासायनिक घुलन ( *Physiological diffusion* फिजियोलोजीकल डिफ्यूज़न) अर्थात् कुछ पदार्थ – मालपिगी पिंडों के जीवाणुओं के जीवनरस ( *Protoplasm* प्रोटोप्लाज्म ) में अधिक घुल जाते हों और फिर–मल की भांति अधिक विसर्जित होजाते हों, और तीसरा यह सादा ढंग कि मालपिगी जीवाणु - कुछ लवण यूरिया आदि युक्त तरल को रक्त में से पी लेते हों और फिर मल की भांति पिंड के अन्दर की ओर विसर्जित कर देते हों। जांच से पता चलता है कि प्रथम फिल्टरेशन की पद्धति तो चलती ही है, तीसरी विश्लेषण (सीक्रेशन ) की प्रक्रिया भी होती है। रिंगरघोल ( *Ringer's solution* ) या मूत्रेय लवण ( *Uremium salts* यूरेनियम साल्ट्स ) *Nephthalin* नेफ्थलीन आदि को रक्त में मुख या इन्जैक्शन द्वारा पहुंचा दिया जाय तो उसके बाद ये चीजें शीघ्र ही छंट-छंट कर मूत्र में निकलनी शुरू होती हैं। वृक्क के ये जीवाणु ठीक कार्य कर रहे हैं या नहीं इसकी परीक्षा करने का यह उपाय भी है कि रोगी को २४ घंटे क़तई पानी नहीं दिया जाता। फिर उसे ४ तोले ( ५० ग्राम ) यूरिया खिलाते हैं या नील मूत्रेय ( *Indigo carmine* इंडिगो कार्माइन ) या फिनोल सल्फोनेफ्थालिन का इंजेक्शन देते हैं। यदि २ घंटे के अन्दर वह सबका सब मूत्र में बाहर आजाय, तब समझते हैं कि गुर्दे के जीवाणु बिल्कुल ठीक काम कर रहे हैं।

(६५०) लुडविग नामक डाक्टर महोदय ने प्रतिपादित किया है कि शरीर से जितना मूत्र बाहर निकलता है, मालपिगीय पिंडों में उससे कहीं ज्यादा तरल छाना जाता है, परन्तु फिर वह बारीक मूत्र-नलिकाओं में बहते हुए ज्यों-ज्यों गवीनि (*Ureters* यूरेटर ) की ओर आता है त्यों-त्यों उसमें से दो-तिहाई से भी अधिक ( ७० प्रतिशत) भाग "जल"- फिर चूसा जाकर रक्त में जा मिलता है, और क्षार तथा यूरिया आदि मिश्रित तरल अब इतना गाढ़ा रह जाता है, जिसे मूत्रमार्ग के शेष जीवाणु क़तई न चूस सकें। यह सिद्धान्त कुछ-कुछ ठीक भी माना जाता है परन्तु अभी विद्वज्जन इसे निस्संदिग्ध नहीं समझ रहे। इस सिद्धांत का आधार यह है कि- माल-पिगी पिंडों में धंसने वाली केशिकायें ज्यादा चौड़ी होती हैं और निकलने वाली कम चौड़ी। इससे वहां रक्त बहुत काफ़ी तादाद में धंसता और बहुत कम तादाद में लौटता होगा। फिर वहां से लौटती हुई सिरायें मालपिगी पिंडों से चलने वाली नलियों के आसपास लपेटे खाती हुई गुर्दों से बाहर को चलती हैं। इससे अनुमान होता है कि उन नलियों में

से फालतू पानी पुनः ग्रहण करके निकलती हैं। जैसे आंतों में भोजन पकाने के लिये उस समय तो बहुत सा पित्त और (क्लोम का) अग्निरस आ गिरता है परन्तु फिर आहार रस के साथ-साथ उसका अधिकांश पुनः अन्दर चूस लिया जाता है। उसी तरह मूत्र आसानी से छानने के लिये पानी पहिले अधिक छांट दिया जाना, और फिर शरीर की जरूरत के अनुसार केवल शुद्ध जल चूस लिया जाना भी संभव हो सकता है। पानी अधिक पीने से वह मूत्र में अधिक निकल जाता है परन्तु अपने साथ बहुत सा मल निकाल लेजाता है। इस दृष्टि से — दीर्घ श्वास लेने की भांति – कुछ अधिक जल पीते रहना भी शरीर शुद्धि के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

## मूत्र में क्या होता है ?

(६५१) स्वस्थ युवक साधारण मौसम में नित्य दिन-रात में लगभग २ सेर मूत्र विसर्जन करता है। इसमें लगभग १ छटांक क्षार घुले होते हैं, जो, अगर मूत्र को गरम किया जाय या धूप में रख दिया जाय तो सूखकर तली में रह जाते हैं। इन क्षारों में ३ तोले के लगभग यूरिया (*Urea* मूत्रेय) क्षार होता है और बहुत थोड़ा सा यूरिक एसिड (मूत्राम्ल *Uric acid*) शेष कुछ नमक, शोरा, फास्फेट, सल्फेट आदि होते हैं। यूरिया और यूरिक एसिड सेन्द्रिय पदार्थों (नत्रजनीय द्रव्यों) से बनते हैं। यदि अधिक पौष्टिक (प्रोटीन-युक्त) भोजन किया जाय तो ऐसे क्षारों की तादाद मूत्र में बढ़जाती है। अगर पानी या पतले पदार्थ अधिक पीये जावें तो मूत्र में जल अधिक आने लगता है, और वह पतला सफेद होजाता है, परन्तु उसमें क्षारों का परिमाण नहीं बढ़ता। स्वस्थ दशा में मूत्र चाहे दिन-रात में २ सेर ही हो या कम अधिक परन्तु उसमें यूरिया और यूरिक ऐसिड एवं क्षार लगभग ५ तोले ही निकला करते हैं।

(६५२) सर्दी के समय में, ठंडी हवा लगने से या स्नान करने पर त्वचा की रगें (रक्त-वाहिनियां) सर्दी से कुछ सिकुड़ जाती हैं। फलतः उनमें रक्त कुछ कम बहता है और अधिक रक्त आंतों तथा गुर्दों की ओर चला जाता है। इसीसे उस समय आंतें अधिक उत्तेजित होजाती हैं, नया बल और भूख अनुभव करती हैं और गुर्दों में भी रक्त वेग से बहता है। इस कारण उस समय रक्त में से मूत्र में जल अधिक छन आता है और मूत्राशय कुछ जल्द ही भरकर पेशाब की हाजत लग आती है। इसीप्रकार भोजन के कुछ घंटे बाद, जब रक्त में नत्रजनीय (पौष्टिक) रस की अधिकता होती है, तब मूत्र में यूरिया और मूत्राम्ल अधिक उतरते हैं और वह कुछ गाढ़ा या रंगीन होता है।

(६५३) इसीलिये यह क्रम शरीर को बहुत लाभदायक है कि पहिले कोई ठंडाई या स्निग्ध पेय पीकर आंत और गुर्दों को उत्साहित कर लिया जाय फिर शौच (पाखाने) जावें उसके बाद मुख शुद्धि और स्नान करें और स्नान के बाद आंतें और गुर्दों में पोषक रस की मांग पैदा होती हैं अतः उस समय भोजन करें। इसीलिये प्रातः उठकर ठंडी हवा में आते समय, पहिले ही तथा सायंकाल ठंड बढ़ने के समय से पूर्व (शाम को) ही मल-मूत्र विसर्जन कर लेना चाहिये।

(६५४) इसी प्रकार गर्मी या धूप वा आग से तप जाने पर त्वचा की रक्तवाहिनी रगें कुछ चौड़ी

होजाती हैं और इसमें रक्त अधिक आने लगता है फलतः पसीना अधिक छूटता है। परन्तु आंतों और गुर्दों की ओर रक्त का प्रवाह कम होजाता है। फलतः आंतें सुस्त हो कर भूख और पाचन-शक्ति घट जाती है। गुर्दों में भी रक्त का बहाव घटने से मूत्र में जल कम होजाता है अर्थात् मूत्र की तादाद घट जाती है कभी-कभी तो जल इतना कम होता है कि उसमें घुले हुए यूरिया, यूरिक एसिड और लवण ( जो अपनी पूरी तादाद में ही होते हैं ) कुछ जलन भी करने लगते हैं।

(६५५) फेफड़े रक्त में वायव्य शुद्धि करते हैं और गुर्दे जलीय शोधन। परन्तु इन दोनों ही की मदद के लिये हमारी त्वचा के रोम-कूप इन दोनों ही कामों को करते हैं। उनके छिद्र द्वारा रक्त में कुछ कार्बन निकल जाती है, कुछ ओषजन रक्त में आजाती है, और पसीने के रूप में कुछ क्षार और लवण लिये हुए जल भी शरीर से निकल जाता है। इसलिये त्वचा को तन्दुरुस्त और रोमकूपों के मुख सदा स्वच्छ रखने चाहिये। नित्य स्नान करना, कभी-कभी साबुन, मुलतानी मिट्टी या उद्वर्त्तन ( उबटन ) का प्रयोग करते रहना और स्नान के बाद रूखे तौलिये, वा खद्दर से देह रगड़ कर पोंछ लेना उचित है। यदि रोग आदि में स्नान न कर सकें तो भी त्वचा साफ़ करने के लिये, गरम जल में वस्त्र डुबाकर निचोड़ना और उससे शरीर पोंछ लेना चाहिये। शरीर पर सब वस्त्रों के अन्दर पहिना जाने वाला वस्त्र-गंजी, बनियान, फ़तूई या स्वेटर, नित्य धो लेना चाहिये। जैसे वस्त्र में मूत्र लग जाने से वह बिना धुला ठीक नहीं होता, उसी तरह दिन भर का 'स्वेद' लग जाने पर भी वस्त्र अवश्य ही धो डालने योग्य होजाता है।

# त्वचा Skin स्किन-चमड़ी

## चर्म dermis डर्मिस-खाल।

(६५६) त्वचा दो पत्तों की होती है।

एक ऊपर दिखाई देने वाला "उपचर्म" *Epidermis* ऐपीडर्मिस, *Cuticle* क्यूटीकल या *Scarf skin* स्कार्फ स्किन। यह भिंचे हुए छादक जीवाणुओं ( *Stratified epithelium* ) की घनी होती है। ये जीवाणु कहीं एक इंच का २० वां भाग और कहीं-कहीं २०० वां भाग बराबर ही मोटे होते हैं। करतल ( हथेली ) और पादतल (तलुओं) पर अधिक घिसाव और दबाव पड़ने के कारण वहां का उपचर्म दशांश इंच तक मोटा होता है। नखों को भी लोग उपचर्म में ही गिनते हैं परन्तु कई आचार्य इन्हें तरुण अस्थि का ही भेद मानते हैं। उपचर्म की साधारण तहें चौड़े-चपटे और कुछ कठोर जीवाणुओं की होती हैं। ये जीवाणु गोरे, काले, लाल, पीले सब मनुष्यों में, सफेद ही होते हैं। जब जल जाने या विसर्प आदि के कारण फफोले उठते हैं,

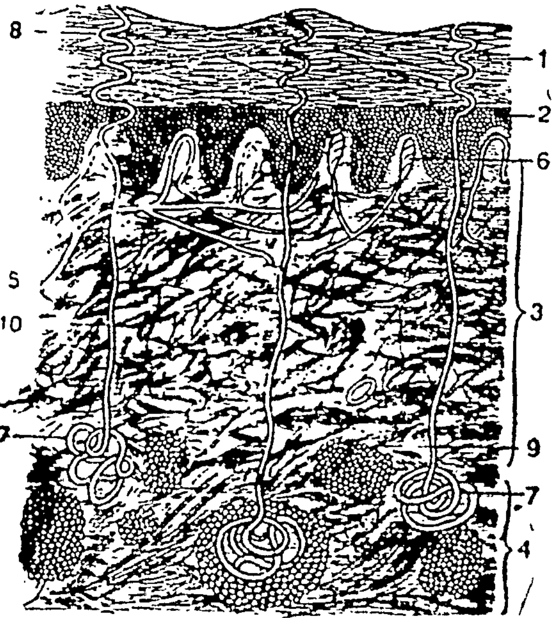
# त्वचा की आन्तरिक रचना

उपचर्म की तह ८
मुर्दार तह

( वाक्य ६५६ )

चर्म का मध्यांश

तैल--ग्रन्थियाँ और मालपिगी जीवाणुओं वाली स्वेद ग्रन्थियाँ




नं० १--उपचर्म की चपटी सेलें और सींगदार सेलें।

२--उपचर्म की मालपिगी सेलें।

६--चर्म के ऊपरी उभारों के बीच में स्पर्श कण।

३--चर्म का सौत्रिक भाग।

९--लसीका का भरा हुआ है।

७- त्वचा की चिकनाई बाहिरी नलियाँ और गिल्टियाँ।

४--त्वचा का मांस से लगा पर्त्त और स्वेद ग्रन्थियां।

(विशेप परिचय वाक्य ६५५ में और आगे देखें )

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

तब इस चपटे जीवाणुओं की तह के नीचे श्लेष्मा जमा होजाता है, इसी से वह फफोला, गोरे- काले सभी में, सदा सफेद रङ्ग का ही होता है।

(६५७) इस तह के नीचे-उपचर्म की ही दूसरी तह होती है जो गोल या खंभ जैसे लगे हुए कुछ लंबे और मींगीदार जीवाणुओं की होती है। ये जीवाणु कहीं कम और कहीं ज्यादा, ऐसे बिछे होते हैं कि उपचर्म का अन्दरूनी किनारा कंगूरेदार होजाता है और उन कंगूरों के बीच-बीच में-त्वचा के दूसरे पर्त्त-"चर्म" के कंगूरे फंसे रहते हैं। उपचर्म की यह निचली तहें मालपिगी तह ( *Malpighian layer* ) कहलाती है। इन्हीं में निचली तहों में 'भ्राजक पित्त' के कण आये रहते हैं जिससे त्वचा का रङ्ग कुछ पीलापन लिये रहता है। जिस रोग में यकृत-रक्त में से पित्त (*Kolesterine* कोलेस्ट्रीन ) छांटकर आंतों में भेजना कम कर देता है- जैसे कामला *Jaundice* जोंडिस- उनमें वह पित्त नेत्रों और उपचर्म की इन मालपिगी तहों में आ-आकर संचित होने लगता है और वहां बहुत पीलापन आजाता है। रक्त में स्वयं उस पित्त का पीलापन बढ़ जाने के कारण-नखों के नीचे घूमने वाले रक्त की सुर्खी भी पीलाई में बदल जाती है।

(६५८) साथ ही इन मालपिगी तहों में और भी कुछ रङ्गीन तत्व आये रहते हैं। ये भिन्न- भिन्न देश और 'जाति' के अनुसार कुछ भिन्न-भिन्न होते हैं। इन्हीं के अनुसार उस व्यक्ति का रङ्ग गोरा, काला, गेहुंआ, श्याम, लाल, पीला आदि नजर आता है। यूरोप और अमेरिका के शीत-प्रदेशों में प्राय: त्वचा में वे तत्व बहुत कम होते हैं अत: उनके रङ्ग-हीन उपचर्म में से रक्त की लालिमा अधिक झलकती रहती है। चीन, जापान के निवासियों की त्वचा में पीत तत्व अधिक होता है और यह गुण पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आरहा है। ये राष्ट्र 'पीली जातियां' *Yellow races* यलो रेसेज़ कहलाती हैं। दक्षिण अमेरिका, अफ़रीका और दक्षिण भारत आदि उष्ण देशों में ताप तेज़ पड़ता है। उसे काला रङ्ग सबसे अधिक बर्दास्त कर सकता है। अत: भगवान ने वहां के प्रजाजनों की त्वचा में काला तत्व अधिक रखा है। यह वास्तव में शरीरगत राजस ( चांदी का ) अंश होता है, जो धूप की तेजी से गहरा काला होजाता है। इसी से द्रविड़, हबशी और निग्रो जातियां आकार-प्रकार में कम या अधिक सुन्दर होते हुए भी रङ्ग में घोर काली होती हैं। ये लोग- गर्मी-सर्दी और प्राकृतिक प्रहारों को सहने में अधिक समर्थ होते हैं। औषधोपचार तथा तैल और उबटनों द्वारा-उपचर्म के इस रङ्ग भंडार में से तत्व शोषण करके या उसमें हल्दी केशर आदि का रंग पहुंचा करके, कुछ समय के लिये शरीर का रंग ज़रासा बदला भी जा सकता है।

## असली चर्म ( *Dermis* डर्मिस )

(६५९) उपचर्म के नीचे फैल्ट टोपी की तरह का कंबल सा होता है, वह असली "चर्म" है। यह सफेद और पीले ( लचकदार ) सूत्रों का घना जाल होता है जिसके बीच-बीच में कुछ एक 'चर्माणु' और अनेकों धमनी, शिरा तथा केशिकाओं का जाल रहता है। इनसे श्लेष्मा रिस-रिस कर 'चर्म' के सूत्रों के बीच में भर जाता है और त्वचा का पोषण करता है। उपचर्म में रक्त- वाहिनियां नहीं होतीं। उसके मालपिगी जीवाणु नीचे चर्म में भरे हुए श्लेष्मा को ही चूस लेते हैं, और उन्हीं में से ऊपरी तह के चपटे जीवाणु भी पोषण-तत्व चूसते हैं। बिल्कुल ऊपरी तह के जीवाणु बहुत जल्द-जल्द वृद्ध होकर

मरते और झगड़ते चले जाते हैं तथा निचली तहें उनकी जगह निकलती आती हैं। कोई खुरचट लगने या घाव होजाने पर पहिले उसके ऊपर रक्त जमकर बना हुआ ढकना शीघ्र लगजाता है। जिसे 'खुरण्ट' कहते हैं। फिर उसके नीचे उपचर्म की तहें बनने लगती हैं और जब ऊपरी तह पुरानी होकर झड़ती है तब वह खुरण्ट भी छूट जाता है और नीचे ताजा स्वस्थ उपचर्म रह जाता है।

(६६०) पशुओं के मरने पर उनके चर्म से बूट आदि नरम चीजें बनाने के लिये उसे 'कमाया' जाता है। इसमें खाल के ऊपर से 'उपचर्म' खुरच फेंका जाता है और केवल चर्म रख लिया जाता है। यह चर्म अधिक मोटा तथा मुलायम हो इसके लिये आजकल बड़ी-बड़ी भीषणतायें बरती जारही हैं और वे सब शरीर-विज्ञान की ही सुझाई हुई हैं। एक तो यह है कि- किसी पशु के मरने पर उसकी खाल उतारी जाय, उसकी अपेक्षा जीवित पशु को क़त्ल करके खाल उतारने से वह अधिक जानदार होती है, क्योंकि वह चमड़ा तब तक जीवनी-शक्ति संयुत ही रहा होता है। इसी कारण आजकल "हलाली" चमड़े की ही मांग की जाती है और मांस की बजाय चमड़े के लिये ही अधिकांश पशु मारे जाते हैं।

दूसरे- यह क़त्ल भी जितनी शीघ्रतापूर्वक किया जाय उतना ही चमड़ा अधिक सप्राण रहने का पता पाकर अब बहुत से कसाईखाने ऐसे बनते हैं जहां १ मिनट से भी कम में पशुओं का काम तमाम होजाय।

तीसरे- इससे भी बढ़कर यह जाना गया कि प्राणी मरने से पहिले ही चमड़ा उतार लिया जाय तो वह पूर्ण सजीव होता है अतः अब कई हत्याघरों में जीवित जानवरों की तमाम खाल उधेड़ ली जाती है। वहां सैकड़ों की कतार में खड़े हुए गाय-बैल या अन्य प्राणी – एक बिजली का बटन दबाते ही, चारों ओर से अलग-अलग शिकंजों में कस लिये जाते हैं और फौरन उस मशीन की चिमटियां पशु की खाल खींचने लगती हैं। थोड़ी देर में उसका तमाम शरीर मांस-अस्थि का लौंदा मात्र रह जाता है और तड़प-तड़प कर मरता रहता है। उधर वह खाल तत्काल मसालों में डाल कर उसकी "कमाई" ( *Tanning* टैनिंग ) शुरू होजाती है और उस चमड़े से बढ़िया बूट, बक्स, थैले, क्रिकेट की गेंद, पेटियां और मिलों के पटे तथा घोड़ों की जीनें बनती हैं। ऐसे जीवित खाल उधेड़ लेने वाले हत्याघर "वैज्ञानिक" कहे जाते हैं।

चौथे–यह भी जाना गया है कि खाल उधेड़ने से पहिले प्राणी को बेंतों से खूब अच्छी तरह पीट लिया जाय तो उसके चर्म की ओर रक्त प्रवाह बढ़ जाता है और उस दशा में उधेड़ लिया जाने से वह अधिक मोटा एवं मुलायम होता है। इस 'ज्ञान' का भी उपयोग किया जारहा है, और ऐसे- पशु को खूब पीटकर, जिंदा ही उधेड़ी गई खाल से बने हुए- 'लैदर' के सामान काफी मंहगे बिक रहे हैं।

पांचवां–एक और 'ज्ञान' यह मिला है कि गर्भावस्था में बालक के रोम और चर्म अत्यन्त ही कोमल होते हैं अतः भेड़-बकरियों को गर्भावस्था में खूब दौड़ाकर, पीट कर या गुप्तांगों को व्यथित-क्षुब्ध करके समय से बहुत पूर्व ही प्रसव करा दिया जाता है और उस कोमल कच्चे बच्चे की खाल तत्काल उधेड़ ली जाती है। उसे कहते हैं "फर" ( *Fur* ), और वह बहुत दामों में जाती है। गोरी

रमड़ियों के कोटों में कफ और कालर या बेशक़ीमती पूरे ही कोट इस 'फर' से बने होते हैं। अब तो इसे और भी कई कामों में लाया जाने लगा है।

## त्वचा की रेखायें

(६६२) चर्म में जहां-जहां कंगूरे उठे होते हैं, उसी के अनुसार परन्तु प्रायः उससे कम ऊंचे-नीचे कंगूरे उपचर्म में भी ऊपर उभर आते हैं। ये प्रायः जन्म भर उसी आकार के रहते हैं। हथेली और तलुओं का उपचर्म मोटा होने के कारण, वहां इन कंगूरों से बनने वाली रेखाएें भी बहुत स्पष्ट और दृढ़ होती हैं। इनसे कई लोग उसीप्राणी के भूत और भविष्य की बातें भी बता दिया करते हैं। इसका पूरा शास्त्र सामुद्रिक ( पामिस्ट्री *Palmistry* ) नाम से विख्यात है। साथ ही यह भी देखा गया है कि हर व्यक्ति के हाथ पर जो चिन्ह होते हैं, वे दूसरे मनुष्य के चिन्हों से कुछ भिन्न होते हैं और एक व्यक्ति का अंगूठा भी– अगर स्याही से काग़ज़ पर उसकी छाप उतार कर देखा जाय– किसी भी दूसरे आदमी के अंगूठे से मेल नहीं खाता। संसार में कई अरब मानव प्राणी हैं और सबके अंगूठे लगभग उसी आकार और नाप के होते हैं, परन्तु उन पर उपचर्म के कंगूरों से बनी हुई ये रेखायें– सबमें कुछ न कुछ भिन्न ही होती हैं। इसी आधार पर अंगूठे की छाप को दस्तख़त ( हस्ताक्षरों ) की भांति प्रमाण माना जाता है और बड़े-बड़े थानों में तो अपराधी या संदिग्ध चरित्र के व्यक्तियों की "अंगुष्ठ छाप" का नमूना भी रखा जाता है। जहां कहीं कोई अपराध–चोरी-डकैती या खून–हुआ, वहीं ध्यान से निरीक्षण करके आस-पास जहां भी अपराधी ने अपना हाथ जरा टिकाया हो, वहीं से उस के अंगूठे की छाप का फ़ोटो लेलिया जाता है। बढ़िया कैमरे–धुंधले से निशान का भी खूब स्पष्ट चित्र बना देते हैं और फिर उस छाप को–नमूनों के रजिस्टर से मिलान कर–कर के असली अपराधी पकड़ लिया जाता है। लंदन के "स्काटलेंड यार्ड" नामक केंद्रीय पुलिस घर में लाखों ही अंगूठे–पंजे आदि की छाप के नमूने संग्रह रहते हैं और रहस्य-भेदन में भारी काम दे रहे हैं। क्योंकि अपने इन उपचर्म-चिन्हों को मनुष्य सहज में जीवन भर नहीं बदल सकता।

## स्वेद ( Sweat स्वेट--पसीना )

(६६३) यह बता चुके हैं कि त्वचा पसीना निकालती है। वह इस तरह कि चर्म में जहां लसीका रिसा रहता है, वहां एक केश जैसी नली गेंडलियां मारे पड़ी रहती है। इसकी दीवारें वैसे ही जीवाणुओं की बनी होती हैं, जैसे गुर्दों के मालपिगी पिंडों की दीवार के होते हैं। वे जीवाणु–अपने आस-पास भरे हुए श्लेष्मा में से क्षार, लवण और अम्ल घुला हुआ जल चूस लेते हैं और उस को अपने दूसरे सिरे पर विसर्जित कर देते हैं। दूसरा सिरा उस नली के अन्दर का भाग हुआ, अतः वह जल उस नली में संचित होता है। नली चर्म से उपचर्म की मालपिगी तह तक सीधी आती है और उसके बाद ऊपरी तह में कुछ लहरें खाती हुई शरीर से बाहर आखुलती हैं। इन कंगूरों के बीच बीच में ऐसे अनेक नाली-द्वार होते हैं। बस उसमें होकर वह रस–त्वचा से बाहर निकलता है। यहां बाहरी गरम हवा उसे फौरन सुखाती है, तब वह शरीर की कुछ और भी गर्मी लेकर - भाप बनता हुआ - उड़ जाता है। यदि अधिक निकले तब पसीना शरीर

पर बूंद-बूंद मालूम होता है और वस्त्रों से लग जाता हैं। उन्हीं नाली-मुखों से होकर कुछ कर्बनगैस भी बाहर जाती है और वायु के साथ ओषजन उस नली के अन्दर आकर उसके आस-पास भरे हुए श्लेष्मा ( *Lymph* लिंफ-लसीका ) में मिल जाती है। यदि पसीने के पानी से नलियों का मुख इतनी देर तक रुका रहे कि यह वायु का आवागमन क़तई रुक जाय, तब वह पसीना हमें एकदम बेचैन कर देता है, जो सड़ी गर्मी में प्रायः हुआ करता है। 'सड़ी-गर्मी' उसे कहते हैं जब मौसम तर हो मगर हवा चलना बन्द हो। उस समय पसीना निकलने के बाद देर तक नहीं सूखता और लोमकूपों के द्वारों पर भी रुकावट करता है।

दिन-रात में कुल ८–१० छटांक स्वेद शरीर से निकलता है और उसे निकालने वाले छिद्रों की संख्या – १–१ वर्ग इंच में २०० से ३००० तक होती है। ये सबसे कम पीठ में और सबसे ज्यादा हथेलीओं में होते हैं। इनकी गहराई ( स्वेद नलियों की लम्बाई ) लगभग पाव इंच और चौड़ाई १ मिलीमीटर ( इंच के २५ वें भाग ) से भी कम होती है।

## रोम और लोम-कूप

(६६४) हाथ और पैरों के पंजे, ललाट और शिश्न ढंकने वाली त्वचा का अग्र-भाग छोड़कर, प्रायः तमाम शरीर की त्वचा में – थोड़ी-थोड़ी दूर पर– कुछ गढ़े होते हैं। इन गढ़ों में उपचर्म शरीर के अंदर को मुड़कर – असली चर्म की मोटाई तक गहरा जाता है और – इस प्रकार वह लगभग चौथाई इंच गहरा कुंआ सा बन जाता है। इसे लोम-कूप या रोमकूप ( फालीकल *Follicle* ) कहते हैं। इस कुंए की तली में जीवाणुओं की बहुत पतली जाली लगी होती है, जिसके अन्दर भरे हुए श्लेष्मा में से कुछ मल रिस-रिस कर इस कुंए में आता रहता है। वह रस जमकर "केश" (*Hair* हेअर) बन जाता है। ये सब शरीर पर "रोम" या 'लोम' कहलाते हैं कुछ खास अंगों पर ये केश घने-घने निकलते और विशेष नाम से भी पुकारे जाते हैं। जैसे– सिर पर इन्हें केश या बाल ( *Hair* एअर ) कहते हैं। आंखों के ऊपर भौंह ( आई-ब्रो ), मुख के ऊपर मूंछ ( मुस्टेक ) और नीचे ठोड़ी पर उगने वाले घने बालों को दाढ़ी (बेअर्ड) कहते हैं। बालकपन के बाद जननेन्द्रियों के आस-पास – स्त्रियों में केवल भगद्वार के आस-पास तथा पुरुषों में तमाम पेडू पर घने केश उग आते हैं।

(६६५) इन घने केशों की रचना कुछ मोटी अधिक लम्बी एवं जल्द-जल्द बढ़ने वाली होती है तथा शेष रोम कुछ पतले तथा बहुत कम बढ़ने वाले होते हैं। सिर के बाल तो ५०-५५ दिन में १ इंच बढ़ जाते हैं। दाढ़ी–मूंछों के इससे कुछ कम बढ़ते हैं और भौंओं के तो एक हद तक बढ़कर फिर प्रायः स्थिर ही रहते हैं। अणुवीक्षण यन्त्र से देखा जाय तो हरएक केश या लोम – कच्ची कलम के समान बीच में पोला दिखाई देता है। यह उपचर्म के जीवाणुओं से ही बनी हुई एक नली होती है, जिसके ऊपरी ओर जीवाणुओं की कई चपटी तहें घनी बिछी होती हैं। नीचे की तह के जीवाणु खड़े-खड़े चुने होते हैं और उसमें – शीतोष्णता सहने वाला काला तत्व भरा होता है। यदि रोग या विकारी द्रव्य द्वारा वह तत्व कम होजाय या वृद्धावस्था में वह तत्व नष्ट होजाय तब केश श्वेत दीखने लगते हैं। ऐसा प्रायः नज़ले के रोग से, केशों में

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

किरासिन तैल ( व्हाइट आइल ) लगाने से – या अधिक चिन्ता, शोक से भी हुआ करता है। भिलावे का पोषण पाई हुई मेथी आदि कुछ सब्जियों का सेवन, रक्त में से श्याम-तत्व फिर केशों और उपचर्म में पहुंचा कर बाल काले कर देते हैं। ख़िज़ाब, उन केशों की नली में नकली रंग भर कर उन्हें काला कर देते हैं और कोई-कोई उन्हें लाल-पीला भी बना देते हैं।

(६६६) कूप की तली में, रक्त-रस में से पोषक मल पा-पाकर केश की नई सेलें बनती रहती हैं और वे उस केश रूपी दण्डी को बढ़ाकर चर्म से बाहर धकेलती जाती हैं। यही बालों का बढ़ना है। क्षौर कराने से वह बढ़े हुए बाल कट जाते हैं, परन्तु अस्तुरे की रगड़ से त्वचा में चुनमुनी पैदा होकर जो रक्त-प्रवाह उधर को बढ़ता है, वह बालों को फिर शीघ्रतर पैदा करता है। कुछ औषधें ऐसी होती हैं ( जैसे-बेरियम सल्फाइड *Barium Sulphide* ) जो केशों की जड़ में पहुंचकर उनकी सेलों को निर्जीव कर देती हैं और केश का संबन्ध जड़ से टूट जाता है तथा केश बाहर निकल पड़ता है। फिर यदि जड़ों में कुछ जीवाणु बच रहे हों तब तो केश पुनः बन कर निकल आता है, वर्ना कभी नहीं निकलता।

कुछ हाथी दांत ( *Ivory* आइवरी ) आदि औषधें ऐसी भी हैं जो लोमकूपों की जड़ में पहुंच कर रक्त में से – केश बनाने वाला - मैल खींचती हैं और – 'लोम' पुनः पैदा करने लगती हैं। 'पलित' या 'गंज' रोगाधिकार में ऐसे अनेक उपचार विद्वानों ने बताये हैं।

(६६७) इन केशों द्वारा रक्त से एक प्रकार का मल और फालतू 'श्याम तत्व' तो निकलता ही है, इनके कूप की जड़ में एक प्रकार की गिल्टियां भी होती हैं, उनमें "चिकनाई" संचित रहती है। चिकनाई गर्मी-सर्दी को कुछ रोकने वाली चीज़ है। कढ़ाई में तैल या घी रहने से वह चूल्हे की आग को अपने में रोक लेता और फिर मन्द-मन्द गति से पूड़ी-कचौड़ियों को भूनता है। इसी प्रकार इन ग्रंथियों में जो तैल भरा रहता है वह शरीर को सर्दी-गर्मी से एक दम त्रस्त नहीं होने देता। वह थोड़ा-थोड़ा – केशों के सहारे-सहारे – त्वचा पर आकर उसे स्निग्ध भी बनाये रखता है। उसकी कमी में त्वचा रूखी – झुरझुरी होजाती है। इसलिये सप्ताह में एक बार स्वच्छ तैल का मर्दन शरीर पर कराते रहना आवश्यक है। वह तैल गर्मी में सरसों का, जाड़ों में तिली का और प्रायः हर ऋतु में नारियल ( गोले ) का ठीक रहता है। इन तैल की भंडार गिल्टियों को "तैल-ग्रंथियां" ( *Sebaceous Glands* सेबेशस ग्लेंड्स ) कहते हैं।

## लोमहर्षण-रोमाञ्च *Thrill* थ्रिल

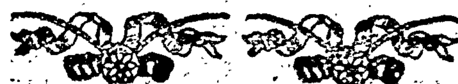
(६६८) प्रत्येक लोम की जड़ में एक नन्हीं पेशी लगी होती है जो हमारी इच्छा के आधीन नहीं होती। नाड़ियों के अन्तिम – बारीक – सूत्र प्रायः त्वचा में इन केशों की जड़ में ही पहुंचकर ख़तम होते हैं। शरीर के किसी भी भाग को ठंड लगे या मस्तिष्क में कोई विशेष प्रभाव पहुंचे तब ये नाड़ी सूत्र उत्तेजित हो उठते हैं। उनसे वे नन्हीं पेशियां संकुचित होजाती हैं और उनसे जुड़ा हुआ हरएक 'लोम' खिचकर सीधा खड़ा होजाता है। साधारणतः वह एक ओर को झुका हुआ पड़ा रहता है। 'तुंदी' में शिश्न जैसे चैतन्य होता है, ठीक उसी तरह 'रोमांच' की दशा में सारे शरीर के 'रोम' या

'लोम' खड़े होजाते हैं और उनकी जड़ में स्थित पेशी सिकुड़ने से लोमों के आस-पास त्वचा भी कुछ उभर आती है। यही "लोम-हर्षण" है और भीषण घटनायें देखने या सुनने से यह दशा प्रायः होजाया करती है।

(६६६) स्पर्श-ज्ञान भी त्वचा का ही काम है जो "स्पर्शेन्द्रिय" के वर्णन में बताया जायगा। यहां संक्षेप में यही समझ लें कि चर्म और उपचर्म के कंगूरे जहां मिले होते हैं – वहीं – उनके बीच-बीच में कुछ विशेष कण लगे होते हैं। उन कणों में शीत-उष्ण, नरम, कठोर और चिकना या खुरदरा अनुभव करने की शक्ति होती है। उनके अन्दरूनी भाग से एक-एक 'संज्ञावाही' ( *Sensory* सेंसरी ) नाड़ी-तार चलता है जो फिर परस्पर मिल-मिल कर हर अङ्ग की एक-एक त्वक्-नाड़ी बनाते हैं, जो फिर मस्तिष्क तक ज्ञान लेजाती हैं। ये विशेष कण–जिन्हें "स्पर्शकण" कहते हैं उपचर्म से नीचे रहते हैं। उपचर्म की ऊपरी ऊंची-नीची शृंगी तहें ( *Horny layer* होर्नी लेयर-सींगनुमा पर्त्त ) किसी चीज का "स्पर्शकणों" से पूरा संपर्क होने से रोकते हैं, अन्यथा उनकी तेज अनुभव-शक्ति हमें बिलबिला दे। यदि कहीं से उपचर्म खुरच गया हो, और वहां कोई गरम या नोकीली चीज लगादी जाय तब वह कितनी अधिक तीव्र वेदना करती है यह सब जानते होंगे। कारण यही कि उस समय वह वस्तु हमारे स्पर्शकणों से पूर्णतः छूती रहती है। मगर भगवान ने स्पर्शकण इतने सांवेदनिक बनाये हैं कि उपचर्म के पर्दे में रक्षित रहते हुए भी भली-भांति अनुभव कर सकें। हां, जब किसी कारण उनसे ज्ञान लेजाने वाली नसें ही बेकार होजायं तब वह अङ्ग अवश्य शून्य – सुन्न–होजाता है और वहां सर्दी-गर्मी या चुभन का ठीक बोध नहीं होता।

(६७०) इस प्रकार त्वचा पांच काम करती है। एक तो शरीर के स्पर्शकणों को सुरक्षित रखती और अन्दरूनी तमाम अङ्गों, मांस-मेद और नाड़ियों को ढके रहती है। दूसरे– वह - रूप को आकर्षक बनाती है अन्यथा नंगे मांस को तो देखते ही घोर भय या घृणा पैदा होजाय। यह केवल ऊपरी त्वचा ही है जो किसी मांसपिंड को किसी की नजर में 'कामदेव' या 'अप्सरा' जंचाती और रूपराशि दरसाती है। तीसरे – वह शरीर की उष्णता को स्थिर रखती है, अपने आवरण द्वारा घटने से रोकती है और पसीने द्वारा बढ़ने से भी रोके रहती है। चौथे- वह फेफड़े और गुर्दे की भांति रक्त से वायव्य और घुलनशील क्षार आदि 'मल' भी निकालती – शुद्धि करती — है, तथा पांचवें – वह स्पर्श द्वारा शरीर के निकट आने वाली वायु एवं तमाम चीजों की सर्दी गर्मी, शुष्कता, नमी, मुलायमी और कुंद या चुभनशील बारीकी बताती है।

इनके अतिरिक्त शरीर में जीवनकण ( कई विटामिन ) ग्रहण करना और शरीर से विद्युत तरंगे फेंकते रहना भी त्वचा का काम है जो वैज्ञानिकों को अभी-अभी मालूम हुए हैं। यद्यपि प्राचीन भारत में इसके भी ज्ञान के निशान पाये जाते हैं।



# अन्तस्थ शारीरिक रचना और उष्णता

[ ले० आयुर्वेदसूरिः श्री० पं० कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य, ]
चांदा ( सी० पी० )

(६७१) शारीरिक उष्णतामान का विचार करते समय शरीर पर प्रकृति ( *Nature* ) एवं देश काल का जो असर होता है, उसका विचार सर्व प्रथम, आयुर्वेदीय दृष्टि से करना होगा । पाश्चात्य-वैद्यक इस बात की ओर दुर्लक्ष्य करता है। शीत-प्रदेश निवासी एवं उष्ण-प्रदेश निवासी के प्राकृतिक उष्णतामान ( *Normal Temperature* ) में पारस्परिक भिन्नता होना आवश्यक है। केवल इतना ही नहीं, एक ही प्रदेश के रहने वाले व्यक्तियों के प्राकृतिक उष्णतामान में ऋतुभेदानुसार विशेष तफ़ावत देखने में आया करती है। ऐसा क्यों ? फिर एक ही ऋतु, एक ही देश के रहने वालों में से किसी को सुखदायी तथा किसी को दुःखदायी क्यों होती है ? इसके लिये अन्तस्थ शरीर-रचना की ओर सूक्ष्म दृष्टि दौड़ानी होगी।

(६७२) ध्यान रहे, संसार के असंख्य सचेतन पदार्थों के सदृश ही शरीर भी एक सचेतन पदार्थ या द्रव्य है। किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से ही होती है। अतः अन्तस्थ शरीर-रचना भी पंचमहाभूतों के मिश्रण पर ही अवलंबित है। इसमें विशिष्टता इतनी ही है कि अन्तस्थ शरीर रचना चाहे जिस प्रकार के पंचभूतात्मक मिश्रण पर निर्भर रहे, किन्तु शरीर रूपी द्रव्य में फेरफार नहीं होता। अर्थात् पंचमहाभूतों के मिश्रण से एक वार इस द्रव्य को मानवीय स्वरूप की प्राप्ति होने पर, फिर उसे अन्य प्राणियों का स्वरूप नहीं प्राप्त होसकता, द्रव्य का यही नित्य स्वरूप है। किंतु इस स्वरूप को क़ायम रखने के लिये, उसमें एक विशिष्ट प्रकार की उष्णता का होना अत्यावश्यक है। जब पंचमहाभूतों के मिश्रण का द्रव्य स्वरूपी ढांचा निर्माण होता है, तब तदन्तर्गत् पंचतत्वों के न्यूनाधिक्यानुसार यह उष्णता रहती है। इस पांचभौतिक उष्णता या अग्नि का पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय और नाभस ऐसा नामाभिधान है। पंचमहाभूतात्मक द्रव्याश्रित मिश्रण के जो अत्यन्त सूक्ष्म एवं असंख्य परमाणु हैं, उनसे ही इस शरीर की रचना हुई है। इन सब असंख्य परमाणुओं ( *Cells* ) की एकत्र-अवस्थिति से ही, शरीर रूपी यह द्रव्य निर्माण हुआ है। इनकी एकत्रावस्थिति के लिये भूताग्नि की आवश्यकता है, तथा परमाणुगत उष्णता के योग से ही वे एकत्रित होते हैं। या दूसरे शब्दों में परमाणुगत उष्णता ( *Cell heat* ) को ही भूताग्नि कह सकते हैं, तथा इसी पर सर्वा ( द्रव्य रूपी ) शरीर की उष्णतामान अवलंबित है।

(६७३) जगत के असंख्य सचेतन द्रव्य के अनुसार ही, शरीर रूपी द्रव्य को पृथ्वी भूत के द्वारा स्थूल स्वरूप की प्राप्ति हुई है, एवं आकाश भूत के कारण इसे विशिष्ट आकार की प्राप्ति हुई है। द्रव्य और गुणों में अभेद सम्बन्ध हुआ करता है। द्रव्य में फेरफार होने से गुणों में, एवं गुणों में फेरफार होने से द्रव्य के स्थूल स्वरूप और आकार में तदनुसार परिवर्तन हुआ करता है। द्रव्य में इस

प्रकार परिवर्तन होते हुये भी उसका नित्यत्व कायम ही रहता है। किंतु जब द्रव्यान्तर्गत् भूताग्नि विकृत होकर, तदन्तर्गत् पंचमहाभूतों में फूट पड़ जाती है, तब ही द्रव्य का स्वाभाविक नाश होता है। अस्तु, इन पंचमहाभूतों में से प्रत्यक्ष पृथ्वी और आकाश इन दो महाभूतों पर, इस शरीर रूपी द्रव्य का अधिष्ठान होने पर, तदन्तर्गत् गुणों का विशेष भाग, शेष भूत जल, तेज और वायु की ओर ही आता है। इन तीन महाभूतों की न्यूनाधिकता से द्रव्य के स्थूल स्वरूप एवं आकार में फेरफार होने पर भी, द्रव्य के नित्यत्व में कोई वाधा नहीं आती। शरीर रूपी द्रव्यान्तर्गत् इन तीन गुण स्वरूपी महाभूतों को ही क्रमशः कफ, पित्त और वात आयुर्वेद में कहा जाता है। ध्यान रहे यद्यपि द्रव्य और गुण में अभेद सम्बन्ध है, तथापि द्रव्य की अपेक्षा गुण का महत्व विशेष है। सचेतन द्रव्य की उत्पत्ति के समय, इन तीन गुण स्वरूपी महाभूतों का जैसा कुछ प्रमाण होता है तैसा ही तदन्तर्गत् पंचमहाभूतों का मिश्रण हुआ करता है। तथा तदनुसार ही शरीरोत्पत्ति के समय कफ, पित्त, वात के अनुपात प्रमाणानुसार, तदन्तर्गत् पंचमहाभूतों का मिश्रण होकर अन्तस्थ शरीर-रचना होती है। कफ, पित्त, वात इनके मिश्रण-भेदानुसार, शरीरस्थ परमाणु का स्थूल स्वरूप एवं तदन्तर्गत् भूताग्नि (उष्णता) कायम होती है। सारांश यही है कि त्रिधातु (वात, पित्त, कफ) के मिश्रण-भेदानुसार अन्तस्थ शरीर-रचना अर्थात् प्रकृति वनती है, और उसी पर भूताग्नि निर्भर रहती है। कफाधिक्य मिश्रण होने पर, अर्थात् कफ प्रकृति में जलभूत की अधिकता होने पर भूताग्नि सौम्य रहती है। पित्ताधिक्य मिश्रण अर्थात् पित्त प्रकृति में अग्नि भूत की अधिकता के कारण भूताग्नि तीक्ष्ण रहती है। वाताधिक्य मिश्रण अर्थात् वात-प्रकृति में वायु-भूत के आधिक्य से भूताग्नि मध्यम (न विशेष तीक्ष्ण और न विशेष सौम्य) रहती है। फिर द्विदोषाधिक्य मिश्रण अर्थात् कफवात प्रकृति, कफपित्त प्रकृति या वातपित्त प्रकृति तथा तीनों के सम प्रमाण के मिश्रणमें सम प्रकृति, इस प्रकार कई भेद प्रकृतियों में होते हैं। अतः अब यह वात सिद्ध हुई कि प्राकृतिक उष्णतामान (*Narmal Temperature*) का आधार उक्त प्रकार की प्रकृति है, और उसकी प्रतीति भूताग्नि (*Cell heat*) द्वारा होती है। अतएव प्राकृतिक उष्णतामान के निश्चितार्थ, जिस प्रकार निसर्ग (देश-काल आदि) के वाह्य-साधनों का विचार करना पड़ता है, तैसे ही शरीरान्तर्गत् प्राकृतिक फेरफार का भी विचार करना आवश्यक है। साथ ही साथ शारीरिक अवस्थाओं (वाल- युवा- वृद्धावस्था) का भी विचार करना आवश्यक है; कारण इन अवस्थानुसार भी प्राकृतिक उष्णतामान में कमी-वेशी होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त शारीरिक वल, आदतें आदि का भी विचार करना होता है। अस्तु!

(६७४) अब प्रथम मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त प्रकार की प्राकृतिक उष्णता शरीर में क़ायम किस प्रकार होती है। शरीर में अनेक प्रकार की हलन-चलन होते रहना यही उसकी जीवितावस्था का द्योतक है। निद्रावस्था में भी यह हलन-चलन शरीर में होती ही रहती है। इस प्रकार की हल-चल होते समय उक्त भूताग्नि (*Cell heat*) में न्यूनता आना, उसका ख़र्च होना अवश्यंभावी है। यदि इस ख़र्च की पूर्ति यथायोग्य समय पर न की जावे तो शरीर के स्नायु नष्ट होना या उनमें दुर्वलता आना संभव है (कारण शारीरिक हल-चल स्नायुश्र

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

द्वारा ही संपन्न होती है)। अतः मानना पड़ेगा कि आरोग्य संपन्न शरीर में, इस ख़र्च की पूर्ति यथायोग्य समय पर बराबर होती ही रहती है।

शरीर के परमाणु अलग-अलग नहीं रहते, वे समूह रूप में (*Tissue*) रहते हैं, जिन्हें वर्णन सुलभता की दृष्टि से हम "धातु" नाम से पुकारेंगे। भूताग्नि की न्यूनता की पूर्ति इन्हीं धातुओं के द्वारा हुआ करती है, तथा इन धातुओं की पुष्टि के लिये शरीर में सर्वत्र 'रस' फैला हुआ रहता है। इस रस के द्वारा स्वतः की एवं परमाणुओं की पुष्टि करने के लिये उस रस की पाचन-क्रिया होनी आवश्यक है। इस क्रिया के लिये धातुओं में से एक प्रकार की उष्णता उत्पन्न होती रहती है, जिसे "धात्वग्नि" कहा जाता है। यह धात्वग्नि रस को पचाकर द्रव्या स्वरूपी एवं साथ ही साथ उष्णता-स्वरूपी न्यूनता की पूर्ति करती रहती है। संक्षेप में कह सकते हैं कि भूताग्नि में प्रतिक्षण होने वाली न्यूनता की पूर्ति इस धात्वग्नि के द्वारा होती रहती है। अतः धात्वग्नि पर ही शारीरिक प्राकृतिक उष्णता-मान अवलंबित है, ऐसा भास होता है।

(६७५) किन्तु फिर प्रश्न उठता है कि धातुओं की न्यूनता पूर्ण करने वाला यह 'रस' कहां से आता है? तथा धात्वग्नि की कमी को पूर्ण करने वाली उष्णता कहां से आती रहती है?

शारीरिक हलचल की ओर ध्यान देने से पता लगता है कि आहार रस जब महास्रोतस् (अन्न-नली– ऐलीमेंटरी कैनल *Alimentary Canal*) के क्षुद्रान्त्र प्रदेश में पहुंचता है, वहां पर उत्पन्न होने वाली उष्णता के द्वारा उसका ठीक-ठीक पाचन होकर सर्वधातुओं को पुष्टिकर रस–निर्माण हुआ करता है। तथा इस रस में जो उष्णता रहती है, उसी से धात्वग्नि की पुष्टि हुआ करती है, एवं प्राकृतिक उष्णतामान क़ायम होती है। इस विचार-सरणी से यह बात प्रकट होती है कि जब धात्वग्नि स्वयं ही दूसरे पर अवलंबित है, तब उसे प्राकृतिक उष्णतामान का आधार स्तम्भ मानना युक्तियुक्त नहीं। महास्रोतस् की जिस उष्णता पर धात्वग्नि और भूताग्नि निर्भर हैं, उसे 'जाठराग्नि' कहते हैं। अतः हमारे बिचार का अन्तिम निष्कर्ष यह हुआ कि प्राकृतिक उष्णतामान का मुख्य आधार-स्तम्भ 'जाठराग्नि' ही है, जिसकी न्यूनाधिकता पर ही प्राकृतिक उष्णतामान की न्यूनाधिकता अवलंबित है।

अब इस उष्णता के अधिष्ठान का पता लगाना आवश्यक है। उष्णता यह अपने शुद्ध स्वरूप में एक ही प्रकार की है। किन्तु वह अपने शुद्ध स्वरूप में सबसे भिन्न – अलग – नहीं रह सकती। अतः उसका शुद्ध स्वरूप दिखलाई नहीं देता। शुद्ध स्वरूप में वह 'गुण' वाची है। अधिष्ठित द्रव्य भेद के अनुसार गुणों में तफ़ावत या अन्तर हुआ करता है, अतएव "उष्णता", इस गुण में भी तदनुसार फ़रक दिखलाई देता है। और उक्त विवेचन में हमने अग्नि इस शब्द का उपयोग 'उष्णता' के अर्थ में ही किया है तथा भूताग्नि, धात्वग्नि, जाठराग्नि ये नाम-करण अधिष्ठित द्रव्य भेद के अनुसार 'उष्णता' इस गुण को ही दिया जाता है। तथा इन अग्नियों के अधिष्ठान का नामकरण "पित्त" शब्द से किया गया है। यद्यपि इनका 'पित्त' नामवाची एक ही अधिष्ठान है, तथापि स्थान-भेदानुसार उसके भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं। यथा :—

(१) परमाणुगत पित्त- भूताग्नि ( *Cell heat* ) का अधिष्ठान है।

(२) धातुगत पित्त–धात्वग्नि ( *Tissue heat* ) का अधिष्ठान है।

(३) जाठरगत पित्त–जठराग्नि (*Digestive heat*) का अधिष्ठान है।

(६७६) उक्त अधिष्ठान-भेदानुसार यद्यपि उष्णता के कार्यों में काफ़ी फ़रक होता है, तथापि यह उसका प्रत्येक कार्य बड़ी सरलता के साथ संपन्न होता है, धातु और परमाणु में जो उष्णता की कमी होती रहती है, उसकी पूर्ति के लिये उसे कहीं भटकना नहीं पड़ता। "पित्त" इस कार्य को दौड़-दौड़ कर किया करता है। जाठरगत (पाचक) पित्त सर्वत्र शरीर में दौड़कर, अधिष्ठित उष्णता की सहायता से धातु की उष्णता की पूर्ति किया करता है। तैसे ही धातुगत पित्त, अधिष्ठित उष्णता की सहायता से परमाणुगत उष्णता की कमी को पूर्ण करता रहता है। सारांश यही है कि शरीरान्तर्गत् उष्णता की हलन–चलन क्रिया पित्त द्वारा ही हुआ करती है ( हां, वात की सहायता इसमें आपेक्षिक है, बगैर वात के कोई क्रिया नहीं होसकती "पित्तः पंगु कफःपंगु आदि २") तथा द्रव्य और गुण के अभेद स्वरूपानुसार ही पित्त और उष्णता का अभेद स्वरूप है। इसीसे कहा गया है कि—

"ऊष्मा पित्ताद्दते नास्ति।"

(६७७) अग्नि के अधिष्ठित द्रव्यभेद के अनुसार, उसके स्वरूप एवं कार्य का ब्योरा इस प्रकार है—

(१) भूताग्नि- अधिष्ठित पित्त, परमाणु जैसा ही अत्यन्त सूक्ष्म है। परमाणुओं का पोषण करना तथा उनके उष्णतामान को यथास्थित बनाये रखते हुये, धातुओं में जो उसका स्थान है, उसकी संभाल करना यही उसका कार्य है।

(२) धात्वग्नि- सप्तधातु भेदानुसार इसके भी ७ भेद हैं, तथा उनके भिन्न-भिन्न कार्य में धात्वन्तर्गत भूताग्नि की सहायता होती है। परमाणु की अपेक्षा अधिष्ठित द्रव्य बड़ा होता है, तथा तदनुसार उष्णता का संचय भी कुछ बड़ा ही होता है। किन्तु सर्व शरीर के प्रमाण में वह अत्यल्प ही है, तथा उसी अनुपात में तदन्तर्गत् अग्नि और उसका कार्य होता है। चूंकि धातु ७ हैं, तैसे ही उसके अग्नि और उसका कार्य भी 'रस' पर भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। एक ही धात्वग्नि संपूर्ण रस को नहीं पचा सकती; अपनी २ शक्ति के अनुसार रसान्तर्गत् किसी विशिष्ट भाग को ही पचा सकती है। * शारीरिक उष्णतामान में धात्वग्नि के द्वारा जो वृद्धि होती है, वह स्थायी रूप से नहीं रह सकती।

(३) जाठराग्नि–का अधिष्ठान बड़ा है, तथा उसमें उष्णता का संचय भी अधिक प्रमाण में रहता

* उदाहरणार्थ आमाशय का जठर रस पहिले आहार के अणुओं, खांड और मांड तथा चिकनाई के कणों पर से खोल गलाता है। फिर यकृत का "पित्तरस" उन द्रव्यों को खौलाता है, फिर क्लोम का अग्निरस चिकनाई के कणों को नग्न कर देता है और अन्त में आंतों का पाचक रस (पेप्सीन) आहार रस को पोषण योग्य करता है। —सम्पादक।

है। सर्व-धातुओं का पोषक जो रस है, उसे निर्माण करने का कार्य यही करता है, तथा धात्वग्नि और भूताग्नि की उष्णता की पूर्ति यही किया करता है तथा प्राकृतिक उष्णतामान की वृद्धि यही उत्तमतया करता रहता है।

अब देखना यह है कि इस प्राकृतिक उष्णता में वृद्धि किस प्रकार होती है।

## "आम,,

(६७८) जब तक शरीर की आरोग्यता कायम रहती है, तब तक जठराग्नि और धात्वग्नि बढ़ने की प्रतीति विशेषतया नहीं होती। भूताग्नि यथास्थित रहकर, प्राकृतिक उष्णतामान भी यथास्थित ही है ऐसा भास होता है। तब यह उष्णता में विशेष बाढ़ किस तरह पैदा होजाती है ? इसका तत्वतया बिचार करने पर पता लगता है कि - मिथ्याहार- विहारादि अनेक कारणों से महास्रोतसान्तर्गत पाचन-क्रिया में व्यत्यय होकर जो अपक्व रस शरीर में पैवश्त ( शोषित ) होता है, इसे ही "आम" यह संज्ञा दी गई है। यह 'आम' शरीर के लिये पोषक या रक्षक न होते हुये, भक्षक बन बैठता है। यह शरीर के लिये महा दुखदायी है। देखिये यदि शरीर में कहीं ज़रा सा कांटा चुभ जाता है तो कितनी बेचैनी होती है। जब तक वह विजातीय द्रव्य ( शल्य ) बाहर न निकाल दिया जाय तब तक मन को चैन नहीं मिलता; तैसे ही यह दुखदायक 'आम', विजातीय द्रव्य जब शरीर में सर्वत्र प्रविष्ट होजाता है, तब कितनी बेचैनी एवं कष्ट का सामना करना पड़ता है, इसका भी अनुभव जिसे न हुआ हो, ऐसा महाभागी शायद ही कोई पृथ्वी पर हो।

इस दुखदायी 'आम' नामक द्रव्य को यदि शीघ्र ही पचाकर मल स्वरूप से बाहर न निकाल दिया जावे तो वह शरीर का बगैर नाश किये नहीं रहता। धात्वग्नि में यह सामर्थ्य नहीं कि वह उसे पचा सके। अच्छी तरह परिपक्व रस को ही, जब वह सम्पूर्णतया नहीं पचा सकती, तब 'आम' अर्थात् अपरिपक्व रस को तो वह कहां से पचा सकती है ? किन्तु उसका शीघ्र ही प्रतिकार करना, यह एक शारीरिक धर्म है। अतः यह कार्य शीघ्र ही जठराग्नि को संपन्न करना पड़ता है।

अन्न रस की पाचन-क्रिया के समय में जाठरगत पाचकपित्त, मिथ्याहार-विहार के कारण, रस में सम्यकतया मिश्रित न होने से, वह अपरिपक्व रस अन्य मार्गों से शरीर में शोषित होने का प्रयत्न करता है। परिणाम-स्वरुप शरीर में सर्वत्र उष्णता की बाढ़ सी आती है। यह वही उष्णता है जो क्षुद्रान्त्र में अन्नरस पाचनार्थ उपयुक्त होनी चाहिये थी। किन्तु वहां पर कुछ भी उपयोग न होने से उसका स्थलान्तर होगया। इस उष्णता की बाढ़ के साथ ही साथ धात्वग्नि और भूताग्नि में भी बाढ़ होती है। परिणाम में प्राकृतिक उष्णतामान कभी-कभी अमर्याद बढ़ जाता है और ज्वर या दाह प्रगट होता है।

( इस निबंध में मराठी "भिषग्विलास" के एक लेख का विशेष आधार लिया गया है अतः लेखक उसका आभारी है। )

# धात्वग्नि की पूर्त्ति।

## भोजन किस लिये किया जाता है?

[ लेखक—श्री० ज्वालाप्रसाद अग्रवाल, बी० ऐस० सी०, विजयगढ़ ( अलीगढ़ ) ]

मानव-शरीर असंख्य छोटी २ सेलों द्वारा निर्माण हुआ है। इन सेलों में अन्य अनेक खनिज पदार्थों के साथ २ मुख्य पदार्थ जीवन मूल ( *Protoplasm* ) होता है। शरीर के भिन्न भिन्न अङ्ग भिन्न २ प्रकार की सेलों से बनते हैं। सेलों का सामूहिक कार्य ही शरीर के अवयवों के कार्य-रूप में दृष्टि-गोचर होता है। जब सेलें कार्य करती हैं तब जीवनमूल ( *Protoplasm* ) में अनेक रासायनिक क्रियायें ( *Chemical Reactions* ) होती हैं। इन रासायनिक क्रियाओं द्वारा शक्ति उत्पन्न होती है, जो अधिकांश कार्य-रूप में प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। कार्य होने से सेलें घिसती एवं टूटती हैं। सेलों के उन पदार्थों की, जो शक्ति-उत्पादन में व्यय हुए हैं पुनः पूर्ति होती रहती है, और सेलों के टूटे-फूटे हिस्से ठीक होते रहते हैं। यदि ऐसा न हो और कार्य-सम्पादन के हेतु शक्ति पैदा होने में सेलें अस्त-व्यस्त होती रहें तथा उनके पदार्थों का ह्रास होता चला जाय तो शरीर का सम्पूर्ण कार्य कुछ ही समय में स्थगित होजायगा।

(६८०) सेलें अपने खोये हुए पदार्थ, लसीका ( *Lymph* ) से लेती हैं और लसीका रक्त से उत्पन्न होता है। रक्त में ये पदार्थ भोजन से आते हैं। अतः शरीर का कार्य सुचारु-रूप से चलते रहने के लिये भोजन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

जो पदार्थ हम खाते हैं उन पर विविध रासायनिक क्रियायें होती हैं, और वे पदार्थ जिनकी शरीर में आवश्यकता होती है, अथवा यों कहिये, जिनकी सेलों को आवश्यकता होती है, रक्त में शरीर के अन्दर रह जाते हैं। तथा शेष अनावश्यक पदार्थ मल, मूत्र, पसीना आदि रूप में गुदा, मूत्रेंद्रिय, त्वचा आदि मार्ग से बाहर निकल जाते हैं।

यह पहिले ही बताया जा चुका है कि भोजन किस २ अवयव में होकर जाता है। आगे यह बतलायेंगे कि भोजन पर कहां २ और क्या २ रासायनिक क्रियायें किन २ पदार्थों द्वारा होती हैं और उनका क्या परिणाम होता है?

भोजन सबसे पहिले मुंह में जाता है। यहां पर दांतों द्वारा भली-प्रकार चबाया जाता है। इस क्रिया को "चर्वण" ( *Mastication* मैस्टीकेशन ) कहते हैं। चबाने से भोजन पिस जाता तथा मुलायम होजाता है।

### दांत—[ *Teeth* टीथ ]—

(६८१) २५-३० वर्ष की आयु में मनुष्य के ३२ दांत होते हैं। १६ नीचे के जबड़े में तथा १६ ऊपर के जबड़े में। [ दांतों का वर्णन तथा उनकी रचना अन्यन्त्र पहिले आचुकी है। वाक्य १३३ देखें। ]

अधिक गर्म एवं अधिक ठण्डी चीजें दांतों के लिये हानिकारक होती हैं। अधिक गर्म चीजें खाने के पश्चात् अधिक ठण्डी चीज खाने से "दन्त-वेष्ट" ( मसूढ़ों ) को हानि पहुंचती है। स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये दांतों की सफाई अत्यावश्यक है। दांतोंको किसी कड़ी वस्तुसे नहीं मलने चाहिये, अन्यथा मसूढ़े छिलकर कष्ट होने लगेगा। भोजन के बाद कुल्ले भलीप्रकार करें, जिससे दांतों के बीच में अटका हुआ भोज्य-पदार्थ निकल जाय। अन्यथा वह सड़ने लगेगा तथा उसमें अनेक रोगोत्पादक कीटाणु उत्पन्न होजायंगे, जो पुनः भोजन करने पर खाई हुई चीजों के साथ शरीर के अन्दर प्रवेश कर तरह-तरह के रोग पैदा करने में सहायक होंगे।

पाश्चात्य सभ्यता के अनुयायी मेज-कुर्सी पर बिना हाथ-पैर साफ किये खाना-खाने डट जाते हैं, खाना खाया और रूमाल से मुंह पोंछ, कपड़े झाड़ चलते हुए। मुंह-दांत साफ करने की तो उनको उस समय फुर्सत ही नहीं होती। भोजन खाने के बाद दांत साफ न करने की इस घृणित आदत की नक़ल बहुत से अभागे भारतवासी भी संगति के प्रभाव में आकर करने लगे हैं। यह आदत गन्दी और स्वास्थ्य-नियमों के एकदम प्रतिकूल है। ऐसी भद्दी आदत डालना अपनी जीवन-वाटिका को अपने हाथों से असमय में ही उजाड़ना है।

## लाला ग्रंथियां (*Salivary Glands*)

(६८२) भोजन-पाचन में कई रसों की आवश्यकता होती है। सबसे पहिला रस जो भोजन के साथ मिलता है वह लाला-थूक ( सैलाइवा *Saliva* ) है। यह मुंह में स्थित ६ लाला-ग्रंथियों (*Salivray Glands*) से निकल कर चर्वण-क्रिया के समय भोजन में मिलजाता है।

तीन लाला-ग्रन्थियां बाईं ओर और तीन दाहिनी ओर रहती हैं।

१- कर्णाग्रवर्ती लाला-ग्रन्थि ( पैरोटिड ग्लैंड *Parotid Gland* )

२- हन्वधोवर्ती लाला-ग्रन्थि ( सबमेग्जिलरी *Sub-maxillary G.*)

३- जिह्वाधोवर्ती लाला-ग्रन्थि ( सबलिंग्वल *Sub-lingual G.* )

इनमें कर्णाग्रवर्ती लाला-ग्रन्थि सबसे बड़ी होती है। इसका वज़न १८ से २७ मासे तक होता है। यह कान के आगे और नीचे की ओर होती है। इस ग्रन्थि का अगला भाग चर्वण-पेशी से सटा रहता है। इसलिये जब चर्वण-पेशी द्वारा चर्वण-क्रिया आरम्भ होती है, तब यह लाला-ग्रन्थि भी अपना कार्य आरम्भ कर देती है और लाला (थूक) ग्रन्थि में से निकलकर भोजन-पदार्थों से मिलने लगता है।

दूसरी-हन्वधोवर्ती लाला-ग्रंथि ( *Sub-maxillaryGland*) नीचे की हनु के समस्त भाग में स्थित रहती है। इसके आगे जिह्वाधोवर्ती और इसके पीछे कर्णाग्रवर्ती ग्रंथि होती हैं। प्रत्येक ग्रन्थि से एक नली निकलती है, जिसे लाला-ग्रंथि–प्रनाली कहते हैं। इस प्रनाली का मुख जिह्वा के बीच में, मध्यरेखा के पास होता है, जो जिह्वा ऊपर करने से दीख पड़ता है। इस ग्रन्थि की प्रनाली में जिह्वाधोवर्ती ग्रंथि की सूक्ष्म प्रनालियां भी मिलती हैं।

तीसरी– जिह्वाधोवर्ती लालाग्रंथि ( *Sub-lingual M. G.* ) यदि हम जिह्वा को ऊपर उठा

कर तालु से सटा दें तो जिह्वा-मूल की मध्यरेखा के दोनों ओर उठी हुई जगह दीख पड़ती हैं। ये स्थान इन ग्रन्थियों के ही हैं। ये ग्रंथियां श्लेष्मिक कला से ढकी रहती हैं। इसमें से अनेक सूक्ष्म प्रनालियां निकलती हैं। इनमें से कुछ हन्वधोवर्ती लाला-ग्रंथि प्रनाली में मिल जाती हैं। तथा बाकी प्रनालियों के छिद्र श्लेष्मिक-कला में ही होते हैं।

## लाला-थूक [ *Saliva* सलाइवा ]

(६८३) लाला-ग्रंथियों से जो रस निकलता है उसे लाला (थूक या *Saliva*) कहते हैं। यह एक क्षारीय वस्तु है। इसका मुख्य कार्य भोजन में मिलकर उसे गीला और मुलायम करना है। इसका दूसरा कार्य, श्वेतसार ( *Starch* ) जो कि अन-घुल ( *Insoluble* ) है, एक प्रकार की शर्करा में परिवर्तन करना है जो घुलनशील ( *Soluble* ) है।

## भोजन खूब चबाना चाहिये।

आजकल मनुष्य स्वास्थ्य-नियमों से प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। भोजन करने में भी शीघ्रता करते हैं। स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये यह आवश्यक है कि भोजन शान्ति-पूर्वक धीरे-धीरे भली प्रकार चबा-चबाकर खाया जाय। यदि सात्विक भोजन क्रोधावेश के समय में अथवा शीघ्रता-पूर्वक खाया जायगा तब वह भी तामसी गुण उत्पन्न करेगा। यदि भोजन अच्छी प्रकार न चवाकर शीघ्रता में किया जाता है तो न लाला ही भली प्रकार भोजन में मिलकर अपनी श्वेतसार-परिवर्तन-शक्ति का ठीक उपयोग कर सकता है, न भोजन पर्याप्त गीला तथा मुलायम हो सकता है। तब दांतों का काम आमाशय और आंतों को करना पड़ता है फलतः आमाशय कमज़ोर होता और स्वास्थ के लिये हानि पहुंचती है।

आजकल कालेज के विद्यार्थी तथा सरकारी औफिसों के कर्मचारी लेट ( देरी ) होने के भय से जल्दी में भोजन करते हुए अपने स्वास्थ को खो बैठते हैं। अस्तु !

जिह्वा अपनी विचित्र गतियों द्वारा दांतों से चवाते हुए तथा लाला-मिश्रित भोजन को गोला-रूप में बना लेती है। इसे ग्रास ( गस्सा ) कहते हैं। यह गस्सा कण्ठ में होता हुआ अन्नप्रनाली में पहुंचता है। इस क्रिया को "निगलना" कहते हैं।

### ग्राह ( गस्सा ) स्वर-यंत्र में न जाकर अन्नप्रनाली में ही क्यों जाता है ?

(६८४) जिह्वा-मूल के पीछे स्वरयंत्र (*Larynx*) का अग्रभाग ( दरवाजा ) होता है, उसके पीछे भोजन-नली ( *Alimentary Canal* ) का मुख होता है। गस्सा कण्ठ से स्वरयंत्र के ऊपर होकर भोजन-नली में गिर पड़ता है। आप पूछेंगे कि यह स्वरयंत्र में क्यों नहीं गिर पड़ता। इसका कारण यह है कि स्वर-यंत्र के ऊपर एक ढकना होता है जिसे "स्वरयंत्रच्छद" अथवा उपजिह्वा ( *Epiglottis* ऐपीलौटिस ) कहते हैं। ज्योंही गस्सा जिह्वामूल से आगे बढ़ता है त्योंही ढकना स्वर-यंत्र के रास्ते को वंद कर देता है, और भोजन-ग्रास भोजन-नली में गिर पड़ता है। जब गस्सा भोजन-नली में जाता है उस समय मांसपेशियों की विशेष-क्रिया द्वारा "स्वर-यंत्र" इस उपजिह्वा के नीचे सरक जाता है। अतः भोजन स्वर-यंत्र में न जाकर अन्न-नली में ही गिरता है।

जिस समय सांस ली जाती है उस समय उप जिह्वा ( *Epiglottis* ) उठा रहता है, और वायु विना रोक-टोक आ-जासकती है।

## नकार जाना–

कभी २ जब मनुष्य शीघ्रतापूर्वक भोजन करता या पानी पीता है; अथवा भोजन करते समय अधिक बातें करता या अधिक हंसता है तो उपर्युक्त प्रबन्ध ( *Arrangement* ) में गड़बड़ी पड़ जाती है, और भोजन अथवा पानी के कुछ कण स्वरयंत्र में चले जाते हैं। स्वरयंत्र में स्थित सांस ( *Respiration* ) द्वारा गई हुई वायु उन कणों को एक साथ ऊपर फेंकती है। वे पानी के कण कभी २ नासिका द्वारा बाहर भी निकलते हैं। इस प्रकार सांस एक दम रुकती तथा उसका कार्यक्रम क्षण मात्र के लिये अस्त-व्यस्त होजाता है। इसलिये एक झटका सा प्रतीत होता है और नाक-आंख से पानी निकलने लगता है। इस क्रिया को 'नकार जाना' कहते हैं।

इससे कभी २ भीषण हानि पहुंचने की सम्भावना होती है। अतः भोजन सदैव धैर्य व शान्तिपूर्वक खावें। एक तन्दुरुस्ती हजार नियामतें, जब स्वास्थ्य अच्छा रहेगा तो आप एक बार नहीं हजार बार हँसी-मजाक तथा आनन्द उड़ा सकेंगे। जब स्वास्थ्य ही गया तब सब कुछ गया। अच्छा, सुपाच्य एवं धैर्यपूर्वक खाया हुआ भोजन ही नीरोगता की कुंजी है। सदैव ध्यान रखो कि हम भोजन के लिये नहीं जीते, किन्तु जीवित रहने के लिये भोजन करते हैं। अस्तु!

## अन्न-प्रनाली ( *Aesophagus* ईसोफेगस )

(६८६) भोजन कण्ठ से भोजन-प्रनाली में गिरता है और भोजन-प्रनाली में होता हुआ आमाशय ( *Stomach* ) में पहुंचता है। भोजन-प्रनाली कण्ठ से आमाशय तक १० इंच लम्बी होती है इसमें भोजन पर किसी विशेष प्रकार की रासायनिक क्रिया नहीं होती। इसका कार्य केवल भोजन को कंठ से आमाशय तक पहुंचा देना है। इसके अन्दर लाला ( *Saliva* ) अपना कार्य ( श्वेतसार को शर्करा में परिवर्तन करना ) करता रहता है।

## आमाशय ( पेट - *Stomach* )–

(६८७) आमाशय को सादा बोल-चाल में 'पेट' भी कहते हैं। आमाशय का आकार एक थैले या मशक के समान होता है। इसके दो मुंह होते हैं। एक मुंह से अन्न-प्रनाली द्वारा लाया हुआ भोजन प्रवेश करता है। दूसरे से, यह भोजन विविध रासायनिक क्रियाएं होने के बाद छोटी आंत ( *Small intestine* ) के प्रारम्भिक भाग – पक्वाशय – में जाता है। आमाशय जब भोजन से भरा हुआ होता है तब उसके दोनों मुंह बन्द रहते हैं और भोजन मर्दित होने तक बन्द रहते हैं। जब भोजन लेही जैसा घुट चुकता है तब ये द्वार खुल जाते हैं और आहार रस आंत को जाता है।

आमाशय ( *Stomach* ) तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) ऊर्ध्वांश ( *Cardiac end* )
(२) मध्यांश, और–
(३) दक्षिणांश ( *Pyloric end* )

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

ऊर्ध्वांस–यह आमाशय का बाईं ओर का स्थूल भाग है जिसमें भोजन सर्वप्रथम प्रवेश करता है। यहां पर भोजन कुछ समय तक इकट्ठा होता रहता है। इस भाग का कार्य केवल भोजन-ग्रहण करना है यहां पर भी लाला अपनी पाचक-क्रिया करता ही रहता है।

मध्यांश–यह आमाशय का मध्य-भाग है, इसका प्रधान कार्य भी भोजन को इकट्ठा किये रहना है; किन्तु इसमें आमाशयिक रस भी अपनी पाचक-क्रिया आरम्भ कर देता है।

दक्षिणांश–यह आमाशय का दाहिनी ओर का तंग भाग है। इसमें आमाशयिक रस अपना कार्य पूर्णतया करता है। इसकी प्रवल गतियों द्वारा भोजन पतला होजाता है।

## जठर रस ( जाठराग्नि )

आमाशयिक–रस (गैस्ट्रिक ज्यूस *Gastric juice*)

(६८८) आमाशय की श्लेष्मिक कला लम्बाई के रुख सिकुड़ी हुई होती है। इसमें बहुत सी नलाकार ग्रन्थियां होती हैं जो एक प्रकार का रस बनाती हैं। इसे जठर रस या आमाशयिक रस कहते हैं। इसमें नमक का तेजाब ( *Hydrochloric acid* हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड) मिला होता है। अतः इसकी प्रतिक्रिया अम्ल होती है। इस अम्ल के अतिरिक्त इस रस में पेप्सीन ( *Pepsin* ) और रेनेट ( *Rennet* ) भी होते हैं।

आमाशय में भोजन पहुंचते ही वहां की दीवारों से जठर रस झरना प्रारम्भ होजाता है। इस रस के बनने की तैयारी तो स्वादिष्ट तथा सुगन्धित भोज्य-पदार्थ देखते ही होजाती है। इसके बनने में लगभग आधा घंटा लगता है। जब तक यह रस तैयार न होजाय तब तक लाला (थूक) अपना कार्य जारी रखता है। जैसे ही यह रस आकर भोजन में मिलता है, 'लाला' का कार्य रुक जाता है। क्योंकि लाला अपना कार्य अम्ल पदार्थ के साथ नहीं कर सकता, और जठर रस भोजन से मिलकर उसकी प्रतिक्रिया को अम्ल कर देता है।

## भोजन पर जठर रस की रासायनिक क्रिया–

भोजन में जो प्रोटीनें होती हैं वे जबतक उनमें किसी विशेष प्रकार का परिवर्तन (विश्लेषण) न हो, अन्नमार्ग की श्लेष्मिक कला में होकर रक्त में प्रविष्ट नहीं हो सकतीं। जब आमाशयिक रस बन जाता है तो पौष्टिक कणों (प्रोटीनों *Proteins*) का विश्लेषण प्रारम्भ होजाता है। आमाशय में इनका विश्लेषण पूरा नहीं होता। अधपची प्रोटीनें क्षुद्रांत्र ( *Small intestine* ) में पहुंचती हैं तब वहां इनका पूरा विश्लेषण होता है। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

आमाशयिक (जठर) रस में पेप्सीन (*Pepsin*) नामक पदार्थ होता है। यही प्रोटीन का विश्लेषक है यह अपना कार्य किसी अम्ल की मौजूदगी में ही कर सकता है, अतः प्रकृति ने हाइड्रोक्लोरिक अम्ल ( *Hydrochloric acid* ) आमाशयिक रस में सम्मिलित रखा है, अन्यथा पेप्सीन अपना कार्य करने में असमर्थ होजाता।

जमी हुई वसा (चिकनाई) आमाशय में पहुंचकर शरीर की ऊष्मा से पिघल जाती है। वसा सेल के अन्दर रहती है। अम्ल-मिश्रित पेप्सीन द्वारा सेलों

***********************************

का ऊपरी खोल -प्रोटीन भाग घुल जाता है और वसा विन्दु रूप में वाहर निकल आती है।

आहार में जो दुग्ध हो वह "रेनेट" नामक पदार्थ (जोकि आमाशयिक रस में मिला होता है) द्वारा जम जाता है। वह किस प्रकार जमता है इसका विस्तृत वर्णन किसी अन्य अंक में लिखेंगे।

## आहार रस-

(६८६) उपर्युक्त सम्पूर्ण रासायनिक क्रियायें आमाशय के दक्षिणांश में ही प्रधानतः होती हैं (जो यकृत के निकट होता है।) इस भाग में मांस के संकोचन और प्रसार द्वारा उत्पन्न गतियों द्वारा भोजन खूब मंथा जाता है और पतला होजाता है। इस 'द्रव' पदार्थ को 'आहार रस' कहते हैं। यह अध-पचा होता है और आमाशय के पक्वाशयिक द्वार (पाइलोरिक ऐंड) से (आमाशय की श्लेष्मिक कला की गतियों द्वारा) भोजन-नली के अंत्र-भाग में जाता है।

पक्वाशयिक द्वार के पास ही झिल्लियों का एक पर्दा है जिसे 'ग्रहणी' कहते हैं, किसी कारण यह सूज जाय तो भोजन विना मंथन हुए ही आगे निकल जाता है।

## पक्वाशय-

द्वादशांगुल यन्त्र ( ड्योडीनम *Duodonum* )

(६६०) आमाशय से आहार रस पक्वाशय में आता है। पकाशय छोटी आंत (क्षुद्रांत्र *Small intestines*) का ही प्रारम्भिक भाग है। यह लगभग १२ अंगुल तक होता है अतः इसे "द्वादशांगुल यन्त्र' भी कहते हैं। आहार रस के पहुंचने पर इसमें, यकृत (*Liver* लिवर) में छना हुआ तथा पित्ताशय में एकत्रित सेर-सवा सेर "पित्त" आकर पड़ता और आहार रस में मिल जाता है। यह पित्त आहार को खूब खौला देता है। पक्वाशय के पास ही नीलवर्ण 'क्लोम' (*Pancreas* अग्न्याशय) होता है। इसका अग्निरस भी यहीं पर "आहार-रस" में मिल जाता है। यह आमाशयिक रस तथा पित्त की अपने-अपने कार्य में सहायता करता है। यहां तक आते-आते भोजन के भिन्न २ तत्व शर्करा-रूप में परिणित होजाते हैं। यकृत उन मधुर द्रव्यों को संभाल कर रखता, रोकता तथा छोड़ता रहता है। क्लोमरस यकृत के इस कार्य को ठीक रखता है। यदि किसी कारणवश क्लोम अपना कार्य ठीक न कर सके-अपना रस 'इंसुलिन' न भेजे- तो यकृत मधुर द्रव्य पर अपना नियंत्रण न रख सकेगा और वह सीधा मूत्र में निकल कर मधु-मेह रोग होगा। यहां से अन्त्ररस आगे बढ़ता और क्षुद्रांत्र (छोटी आंत) में पहुंचता है।

## क्षुद्रांत्र

छोटी आंतों को *Small intestine* स्मौल-इन्टेस्टाइन या *Mesentery* मैसेंटरी कहते हैं।

(६६१) यह २०-२२ फीट लम्बी, १ इंच पोली नली होती है जो पेट में गेंडली मारे पड़ी रहती है। अन्न-प्रनाली के केवल इसी भाग द्वारा शरीर के लिये आवश्यक पोषक-तत्व जाते हैं। इसमें पाचक-रस की गिल्टियां होती हैं। यह "पेप्सीन" रस बनाती है और आहार रस पचाती है। इस नली के अन्दर की तरफ रोम-रोम जैसे ग्राहक अंकुर हैं। उनमें कहीं चिकनाई कहीं शर्करा और कहीं क्षारीय द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं जो छोटी-छोटी नलियों से, बड़ी नली

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

में होते हुए यकृत ( *Liver* ) में पहुंचते हैं। यहां यदि शर्करा (मधुर द्रव्य) अधिक हो तो रोक लिया जाता या कम हो तो पूर्ण-संचित में से पूर्ति की जाती है जो पहिले आचुका है। यह रस अब "रक्त" रूप में याकृतीशिरा ( *Portal Vein* ) द्वारा रक्त में जा मिलता है।

(६६२) आंतों में थोड़ी सी असावधानी से ही विभिन्न प्रकार की विकृतियां और उनसे अनेक प्रकार के रोग होजाते हैं। आहार रस में से तत्व पदार्थ ग्रहण करने के पश्चात् शेषांश आगे बढ़ता है। यदि इसमें छिछड़ा बंध जाय अथवा गाढ़ा होजाय तो मार्ग रुक जाता और कोष्ठबद्धता ( कब्ज ) रोग होजाता है।

कभी २ अंत्र-नली में फंदा पड़ जाता है और मार्ग रुक कर अंत्र-बंध होजाता है। यदि आंत में आंत धंस जाय तो भोजन बहुत धीरे २ गुजरता और मीठा २ दर्द होता है। यदि नाभि अथवा अण्डकोषों की ओर की त्वचा का छिद्र बढ़ जाय, तो अंत्र उसमें होकर उतर जाती है और अण्डवृद्धि रोग होता है।

## बृहद् अंत्र बड़ी आंत (*Colon* कोलन)

छोटी आंत रूपी लंबी नली के बाद बड़ी आंत है जो इससे अधिक मोटी नली होती है। यह नली क्षुद्रांत्र की भांति अस्त-व्यस्त रूप से ( *Irregularly*) नहीं पड़ी रहती। यह पेट में दाहिनी ओर नीचे से ऊपर उठती है। यकृत तक ऊपर आकर आड़ी (*Horizontal*) बाईं ओर आमाशय तक जाती और फिर नीचे उतरती है। इसमें आहार रस से केवल जल सोखा जाता है और इसका शेषांश मल रूप में मलाशय में पहुंच जाता है।

## उपांत्र ( ऐपेंडिक्स )

(६६३) जहां क्षुद्रांत्र और बड़ी आंत मिलती है वहां पर एक जरासी पूंछ निकली रहती है, इसे उपांत्र कहते हैं। वैज्ञानिक अभी तक यह नहीं निश्चय कर पाये हैं कि यह क्या कार्य करती है। आहार रस में कड़ा बीज या गुठली हो तो वह कभी-कभी इस आंत में चला जाता है। तब यह सूजकर शूल पैदा करती है वह (ऐपेंडीसाइटिस) घोर सांघातिक होता है। औषधोपचार से लाभ न हो तो वह उपांत्र आपरेशन करके निकाल देनी होती है।

(६६४) बड़ी आंत के बाद शेषांश छूँछा-मल आंत के अंतिम भाग मलाशय (*Rectum*) में इकट्ठा होता रहता है। मलाशय से आगे बाहर तक गुदामार्ग ( *Anus* ) ऐनस है। अर्श ( पाइलस *Piles*) के मस्से इसी मार्ग में होते हैं। जो वाक्य ५७५ में वर्णित हैं। यहां गुदाद्वार पर अन्नप्रनाली ( ऐलीमेंटरी केनल ) समाप्त होजाती है।

इस प्रकार आहार पर जठररस—जठराग्नि—की अनेक पाचन-क्रियायें होकर वह शरीर में ग्रहण होने योग्य बन जाता है। उस 'रस' का यकृत में पुनः पाचन होकर रक्त आदि उच्चतर धातुऐं बनती जाती हैं और अंत में वे प्रत्येक जीवाणु तक पहुंचकर परमाणुगत भूताग्नि (*Cell heat* ) उत्पन्न होती है जो समस्त शरीर का पालन और संचालन करती है।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

# भोजन और उनके उपयोग।

## [ लेखक-डा० गणपतिचन्द्र केला ]

(६६६) प्रारम्भिक अध्यायों में यह आचुका है कि मानव-शरीर कैसा महान इंजिन है। अन्य इंजिन कोयला-पानी लेकर चलते-फिरते या बल करते हैं। परन्तु यह इंजिन अपना कोयला-पानी – अन्न-जल लेकर और भी कई काम करता है। यह चलता-फिरता है, चलने फिरने का मार्ग भी स्वयं ही देखता, तलाश करता और निश्चय करता है तथा उस मार्ग में आई हुई बाधायें भी स्वयं ही हटाता है। इसके सिवा, यह इंजिन अपनी टूट-फूट और घिसन की मरम्मत भी स्वयं कर लेता है। यहां तक कि यह इंजन अपनी कुछ रचना – नया इंजिन बना लेने का काम भी – स्वयं ही करता है।

इस इंजिन – शरीर महायन्त्र – को भी पानी की जगह पानी चाहिये और कोयले की जगह ईंधन भी। परन्तु वह ईंधन इसके संचालन-शक्ति के साथ-साथ रचना के लिये नये पोषक तत्व भी देता है। वह ईंधन है– नानाप्रकार के अन्न, धान्य, फल, फूल, कंद, मूल, और खनिज तथा प्राणिज पदार्थ। संसार के अन्य इंजिन अपने ईंधनों की ऊष्मा का सिर्फ़ १२ से २८ प्रतिशत भाग ही काम में लापाते हैं। शेष व्यर्थ निकल जाता है। परन्तु यह शारीर इंजन – जो खाद्य ग्रहण करता है, उनकी गर्मी का ५४ प्रतिशत भाग काम में ले आता है और कभी-कभी इससे भी अधिक। ऐसी कारीगरी है उस 'कलाकार' की।

### शरीर से हर समय ख़र्च–

(६६७) जैसे इंजन से हर समय चारों ओर को गर्मी फैलती रहती है, ऊपर को धुआं उड़ता है, नीचे से भाफ निकलती है, भट्टी से कोयले झड़ते रहते हैं और जगह-जगह से पानी टपकता है; उसी तरह इस शरीर यंत्र से भी हर समय कई चीजें निकलती रहती हैं। इसकी आंतरिक ६८॥ फा० ऊष्मा में से आस-पास की ठंडी वायु में गर्मी निकलती रहती है। फेफड़ों से वायु के साथ भी गर्मी निकलती है और कुछ भाफ भी। भाफ के रूप में जल निकलता है, पसीने के रूप में जल निकलता है। और उसने भी अधिक समय-समय पर मूत्र के रूप में जल निकला करता है। मूत्र में कुछ घुलने वाले क्षार होते हैं और मल के साथ भी शरीर के 'पित्त' आदि रसों का थोड़ा बहुत अंश नित्य निकल जाया करता है। और फिर मुख-गुदा एवं त्वचा के रोम-रोम से गैसें भी काफ़ी निकलती रहती हैं। यह सब चीजें रोज़ाना ४ सेर के करीब निकल जाती हैं। जिनमें — रोज़ाना –

फेफड़ों से–३० तोले जल (भाफ की शकल में) और–
६४-६५ तोले कर्बन गैस निकलती है।

त्वचा के छिद्रों से–४५-५० तोले जल ( पसीने के रूप में ) और – ७-८ माशे क्षार पदार्थ घुलकर निकलते हैं एवं तोले-दो तोले कर्बन गैस भी।

गुर्दों से-१००-१२५ तोले जल (मूत्र रूप में ) और-
२॥ तोले क्षार – लवण आदि पदार्थ ३ तोले यूरिया नामक मूत्रेय क्षार, थोड़े से यूरिक-ऐसिड आदि अम्ल और कार्बोनिक ऐसिड आदि गैसें निकलती हैं।

मुख से-लार, थूक एवं श्लेष्मा के रूप में २-४ तोले जल एवं कुछ क्षार तथा नत्रजन निकलती है।

गुदा से-अपानवायु के रूप में उद्जन, विष्ठा के साथ मिश्रित पित्त में कुछ नत्रजन और कर्बन के अंश, काफ़ी लवण और जल एवं शरीर के टूटे हुए जीवाणु निकलते हैं।

विष्ठा तो इस ४ सेर में गिनी भी नहीं गई क्योंकि वह तो हमारे आहार का वह छूंछा होता है जो शरीर ने ग्रहण ही नहीं किया और केवल मुख से गुदा तक अन्न-नली की यात्रा मात्र कर गया है। यह मल शीत प्रधान देशों के-तेज़ हाज़मे वाले-और परिश्रमी तथा मांस भोजी लोग दिनभर में सिर्फ़ १०-१५ तोले त्यागते हैं और-भारत के शाक-भोजी लोग ३०-४० तोले।

## खाद्य पदार्थों के तत्व-

(६६८) इन निकलने वाले तत्वों की पूर्ति-शरीर में खर्च होने वाली ऊष्मा को पैदा करने और शरीर की वृद्धि के लिये नये तत्व देने वाली चीज़ हमारी 'खुराक' है। उसमें सात वस्तुऐं प्रधान होती हैं।

१-पौष्टिक तत्व-प्रोटीनें ( *Proteins* )

२-चिकनाई-वसा ( फ़ैट्स *Fats* )

३-मधुरांश-कार्बोज ( *Carbohydrates* )

४-क्षार- नमक, चूना, पुटाश, खार ( *Salts* )

५-जल- वाटर ( *Water* ) ऐकुआ ( *Aqua* )

६-जीवनकण-विटामिन ( *Vitamins* ) और-

७-विद्युत-इलैक्ट्रिक करैंट ( *Etectricity* )

आगे इन पर क्रमशः विचार करेंगे।

## पौष्टिक तत्व ( प्रोटीनें ) *Proteins*

( ६६६ ) यह खाद्य नत्रजन युक्त होते हैं और शरीर में तमाम नई रचना केवल इन्हीं से हुआ करती है। प्रत्येक पेशी, अस्थि, कला और नाड़ी के जीवाणु मस्तिष्क की बुद्धिमान सेलें भी 'नत्रजन' से ही बनती हैं और वह सिर्फ़ प्रोटीनों में रहती है। इसलिये हमारे भोजन में प्रोटीन का अंश काफी रहना चाहिये अन्यथा हमारी बढ़वार रुक जायगी और जो-जो अवयव क्षीण होते जायंगे उनकी पूर्ति न होगी। प्रोटीन अगर शरीर में अधिक भी ग्रहण होजायं तो उनसे चिकनाई एवं मधुर तत्वों के काम भी निकल जाते हैं। परन्तु कठिनता यही है कि प्रोटीनें बिना पूर्ण परिश्रम के पचती नहीं और विलासी लोग प्रचुर प्रोटीनों वाले पदार्थ खाकर भी उन्हें व्यर्थ निकाल देते हैं।

यह दूध में विशेषतः उसकी मलाई में, बहुत होती है। दूध को फाड़ने पर उसमें से अलग होजाने वाले छेने में भी यह सौ में २५ भाग होती है और शीघ्र पचजाने वाली भी। बादाम में भी इतनी ही प्रोटीन होती है। मसूर की दाल में २५, उरद में २२ और आहार में २१ भाग होती है, परन्तु दूध की अपेक्षा कुछ कठिनता से पचती है। फिर भी जो इन दालों को भलीभांति खाते और पचाते हैं वे मास की अपेक्षा अधिक पौष्टिक तत्व पाजाते हैं।

मांसों में प्रोटीन १६-२० भाग होती है तथा अंडे में कुल १३ भाग। मगर अन्डे की प्रोटीन सहज पच जाने वाली होने के कारण यह विलासी लोगों के काम अधिक आता है। इनसे कहीं अधिक सस्ता पड़ने वाले गेहूं के चोकर-युक्त ( बिना छने ) आटे में ११-१२ भाग प्रोटीन होती है। मकई में १०, जौ बाजरे में ८-६ तथा चावल में ६-७ भाग। उसके धानों ( छिलकों ) में तो प्रोटीन २०-२५ भाग होती है, परन्तु वह खाने और पचाने कठिन हैं। साधारण व्यक्ति को नित्य १०० माशे और परिश्रमी को १५०-१७५ माशे प्रोटीन जरूरी होती है।

## स्नेह-वसा ( *Fats* फैट्स )-

( ७०० ) संसार को स्नेह ही संचालित करता है। जहां यह नहीं वहां कोरा संघर्ष होता है और शीघ्र ही सब अशक्त होरहते हैं। शरीर में भी हर प्रमुख संधि-स्थल पर स्नेह की गद्दी रहती है, और जिस-जिस अङ्ग में स्नेह का अभाव नहीं होता वही शोभा देता है। चिकनाई से शरीर बहुत अधिक ऊष्मा बना लेता है अतः जबतक इसका भंडार सुरक्षित रहे तब तक वह नित्य ड्योढ़ा-दूना परिश्रम करते हुए भी क्षीण नहीं होता।

परन्तु इतनी गुणशाली वस्तु सृष्टि में सुलभ होने पर भी शरीर में कुछ कठिनता से ही ग्रहण होती है। और यदि अति अधिक संचित होजाय तो हानि भी काफी करने लगती है। वह आगे आवेगा।

सौ भाग मक्खन में ६२ और 'घृत' में १०० फ़ीसदी चिकनाई शरीरोपयोगी होती है। बादाम में ५४ भाग तथा अण्डे में कुल ११ भाग होती है। शूकर मांस में ७ भाग और अन्य मासों में तो सिर्फ १-१॥ भाग होती है। इससे कहीं अधिक तो स्त्री के दूध में ३॥ भाग, गौ के में ४ भाग, भैंस के में ८-१० भाग और भेड़ के में १२ भाग होती है। अन्नों में भी मांस से अधिक चिकनाई होती है उर्द-अरहर में २-२ भाग, मसूर में ३, जौ-गेहूं में २ भाग तथा मकई-बाजरे में ४-४॥ प्रतिशत 'वसा' होती है। बंगाल के प्रिय-भोजन- दूध के छेने में १०० तोले में १॥ तोले तथा चावल में केवल आधा तोले चिकनाई होती है। शरीर को प्रतिदिन ६० माशे ( ५ तोले ) चिकनाई चाहिये और परिश्रमी को तो १०० माशे के लगभग जरूरी है। ये चिकनाई कई तरह की मिलती हैं। पेड़ों से नानाप्रकार के तैल मिलते हैं और मछलियों से तैल तथा चर्बी। प्राणियों के प्राण लेने पर उनसे भी चर्बी मिलती है और उन्हें बिना मारे ही उनके दूध और घृत। इन सबमें मानव-शरीर के लिये अधिक लाभदायक "घृत" है। इसमें अनेक गुण ऐसे हैं जो इसे रत्न साबित करते हैं।

## घृत-घी ( *Ghee* )

प्रथम तो इसका स्वाद अत्युत्तम है। इसे रूखा भी खा सकते हैं और अन्य पदार्थों में मिला-सानकर भी। इसमें तली जाने वाली चीजें स्वाद के साथ-साथ सुगंध भी देती हैं और उनमें *D* श्रेणी के विटामिन इतने अधिक आजाते हैं कि शारीरिक ढांचे(अस्थियों के लिये वे पक्वान्न परम पोषक होजाते हैं। विटामिन *D* केवल चिकनाई में ही घुलते हैं। दूसरे घी में रोगाणुनाशक शक्ति बहुत है। इसकी ज्योति जलाने से जो धूम्र उठता है वह क्षय तक के रोगाणु मार देता है। इसमें तलकर बनाये हुए पक्वान्न-

इतने दिन तक विना सड़े रहे आते हैं—जितने दिन और चिकनाइयों में तले हुए नहीं, क्योंकि घी उन्हें एंटीसैप्टिक कर देता है और बहुत समय तक किये रहता है।

इसी करण दावतों या ज्यौनारों के लिये भी घी में तले हुए पूड़ी-कचौड़ी, मिठाइयां और नमकीन पक्वान्न सबसे अधिक निरापद होते हैं। क्योंकि उनका करना आसान होता है, उनमें विटामिन *D* डी काफ़ी आजाता है और वे शीघ्र विगड़ते भी नहीं। इसी कारण घी से बनी चीजें मानव-रसना को स्वादिष्ट भी खूब लगती हैं। दुनियां भर की बढ़िया मिठाइयां, कवाब – कोफ्ते; और पुलाव-जारदे तथा चाप, मटन आदि खाद्य-पदार्थ घी से ही जायका देते हैं। यह शरीर के जीवाणुओं को भी शांति देता है – कोई दाह पैदा नहीं करता।

घी का दूसरा रूप "मक्खन" तो हर देश में लोकप्रिय है। भारत में भी माखन-रोटी का कलेऊ नित्य होता था – परन्तु अब क्या करे, जब मक्खन दवा के लिये भी दुर्लभ होरहा है। हां, अन्य जितने देशों में भी वह सुलभ है – प्राय: सब देशों में – ब्रेड-बटर ही भोजन का सर्वप्रिय स्वरूप है।

## मोटापा [ ओबेसिटी ]

(७०१) यह वसा शरीर में ताप पैदा करने के काम आती है और अगर कुछ फालतू बचे तो क्रमश: कपोल, स्कन्ध, नितम्ब, उदर और छाती पर जमा होकर उन्हें सुडौल और रौवदार बनाती है। जोड़ों के गढ़े भरती और वहां घिसाव घटाती है। परन्तु आवश्यकता से अधिक ही जमा होती जाय तब यह – इन अङ्गों को अति अधिक स्थूल भी कर देती है। तब वे कुछ बेडौल भी लगते हैं और इतने भारी होजाते हैं कि उनका सँभालना भी कष्टकर होता है। कोई-कोई इतने मोटे होजाते देखे गये हैं कि चलने में उनकी 'रानें' परस्पर रगड़ खातीं और दर्द करती हैं, तथा हाथ, पैर और धड़ चलाना भी उनको दूभर होता है। उठना-बैठना कठिन होजाता है और सीढ़ी चढ़ना, तेज़ चलना या उछलना तो उन्हें संकट मालूम देता है। दौड़ने को तो वे तरसते ही रहजाते हैं। इतनी स्थूलता बढ़ जाना वास्तव में स्वास्थ्य नहीं, रोग है। इसे मेदोवृद्धि, मुटापा, या ओवेसिटी ( *Obesity* ) कहते हैं। यह अधिक पौष्टिक भोजन पाते हुए भी – शारीरिक परिश्रम को हेठी चीज़ समझ – आराम में पड़े रहने से होता है। शरीर की चुल्लिका ग्रन्थि – पिटुइटरी ग्लेंड – आदि के विकार से वसा का खर्च घटकर यह रोग होता है। दोनों ही दशाओं में इलाज करना चाहिये।

इसका सर्वोत्तम उपाय यही है कि भोजन में चिकनाई का अंश बहुत कम लिया जाय। चावलों को चीनी के साथ खाया जाय, या मूंग की दाल और हरे शाकों से। प्रारम्भ में टहलना, गेंद खेलना, लेज़ीम ड्रिल और डंबल आदि से शुरू करके धीरे-धीरे कड़े व्यायाम और परिश्रम के कामों तक लेआवें और नित्य थोड़ी देर 'शलभासन' कराया करें। उसमें पेट के बल पृथ्वी पर लेटकर घुटने पीछे को मोड़कर, हाथों से - पैरों के अंगूठे पकड़लें और गांठ की तरह ४-६ बार इधर से उधर को खूब करवटें बदलें। 'पिट्यूइट्रिन' सेवन कराना भी लाभदायक है। होमियोपैथिक "कैल्केरिया कार्ब ६" प्रतिमास सिर्फ १ मात्रा दें। अथवा आयुर्वेदिक चिकित्सा-शास्त्र में जो अवस्थानुसार अनेक प्रयोगों की व्यवस्था की हुई हैं उन्हें नियमपूर्वक करावें। चिन्ता, शोक भी

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

मुटापा कम करते हैं। परन्तु ऐसे लोगों के यकृत और हृदय भी चरबीले होकर शीघ्र तड़कने वाले होजाते हैं अतः भारी चिन्ता, भय, उद्योग और कड़ा परिश्रम या दौड़-धूप से बचना ही चाहिये।

## अन्य चिकनाइयां -

(७०२) घी के अलावा प्राणियों को मारकर प्राप्त की गई चरबी भी १०० फ़ीसदी 'चिकनाई' है। आजकल घी में इसके मिलाप की भी बड़ी धूम है। परन्तु इसमें न तो सुगन्ध होती है न वैसा सुस्वाद ही। रोगनाशक शक्ति भी नहीं होती अतः इसके बने पदार्थ शीघ्र रोगोत्पादक होजाते हैं और शरीर की जीवनी-शक्ति भी इससे नवीन विद्युत प्राप्त नहीं करती। घी – प्राणी की सजीव दशा में निकलने वाले दूध का अंश होने के कारण जिस जीवनी-शक्ति (विद्युत) से सम्पन्न होता है वह मुर्दा शरीर से निकली चर्बी में कहां ?

मछलियों में एक काड-मत्स्य के यकृत से निकला हुआ तैल – काड-लिवर आइल *Cod liver oil* भी बहुत पौष्टिक चिकनाई है। उसमें भी जीवनी-शक्ति तो नहीं होती परन्तु विटामिन *D* काफ़ी होता है। फिर भी वह दुष्पच होने के कारण अधिक उपयुक्त नहीं। हां, जो आजकल – किसी प्रवाह में पड़कर घी के पक्वान्नों से नाक-भौं सिकोड़े रहते हैं – उनको आगे उस कमी की पूर्ति यह मछली का तैल पीकर करनी पड़ती है और वह भी प्रायः सम्यक् रूप से नहीं होती। फिर भी अस्थि-शोप में यह तैल काफ़ी प्रचलित है।

वनस्पति जात तैलों में तिली और सरसों के तैल शरीर को अधिक उपयुक्त हैं। जैतून का तैल भी काम आता है। साधारणतः पंजाब में तिली का, बंगाल में सरसों का, गुजरात में जैतून का और मध्यप्रांत में नारियल (खोपरे) का तैल अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इससे बने हुए "नकली घी" भी भारत के बाज़ारों में खूब भेड़े जारहे हैं। लोग "असली घी" चाहें तब भी प्रायः उनके विश्वास का दुरुपयोग करने वाले "व्यापारियों" द्वारा वनस्पति घी के मिश्रण बिना घी बहुत कम दिया जाता है। परन्तु – देखा गया है कि जहां-जहां – नगरों में – ये तैलज घी अधिक चल रहे हैं, वहां श्वासेन्द्रिय के रोग बढ़ रहे हैं। सर्दी-जुकाम, न्यूमोनिया- इन्फ्लुएंजा, खांसी और क्षय तक उन नगरों में हर साल अधिकाधिक ज़ोर जमाते जारहे हैं। इसका कारण अस्वच्छ वायु में और सूर्य प्रकाश से वंचित स्थानों में रहन-सहन तो होगा ही, परन्तु चिकनाई का भी इसमें बहुत हाथ है। घी की चिकनाई जीवाणुओं को शांति देती है तथा अन्य तैल कुछ 'दाह' करते हैं जो सरसों या लाहा के तैल में अधिक स्पष्ट है। मूंगफली या उसका तैल – श्वास-मार्ग को सबसे अधिक हानि करता सुना गया है। इसका एक कारण यह भी है कि इन तैलों में "पूरी पोषक शक्ति" तो होती नहीं। फलतः उनके ही प्रयोग करते रहने से शरीर के तन्तुओं की वह शक्ति घट जाती है जो – रोगों का सामना करती रहती है। इसके बाद फेफड़ा सबसे नाजुक और बाहरी (रोगाणुमयी) वायु के साथ अधिक संपर्क में आने वाला अंग होने के कारण, वह शीघ्र ही रोगों से ग्रसित होने लगता है। उसके कारण निर्बलता और विकार बढ़ते-बढ़ते, क्रमशः शरीर के अन्य अङ्ग अवयव भी क्षीण हो चलते हैं। घी-दूध की प्रचुरता के समय जो भारत "वीर जननी" और अनुपम स्वास्थ्य-सम्पन्न थी —

आज घी-दूध का अभाव करके — वह किस दीनता और शक्तिहीनता को पहुंच चुकी है, सर्वविदित है।

## मधुरतत्व [ कार्बोहाइड्रेट्स ]

(७०४) मधु या मधुरतत्वों की रचना 'जल' में कार्वन मिलकर होती है। खांड, मांड ( निशास्तेदार पदार्थ ), गोंद और सेल्युलोज इसी श्रेणी में आते हैं। चावलों, दालों, छोटे-दाने के ( गेहूं, चना, जौ, ज्वार,बाजरा आदि ) ठोस अन्नों, हरे फलों और आलू-गाजर, जमींकंद आदि मूलों में "मांड" काफी होता है। यह शरीर में तभी पच सकता है जब भाफ द्वारा भली-भांति उबल चुके। यह क्रिया साधारणतः आमाशय और पक्वाशय में पूरी तौर से नहीं होपाती। इसलिये इन अन्नों को उबालकर ही खाया जाता है। यदि परिश्रम और सदा प्रफुल्लता के कारण हाजमा इतना तेज कर सकें कि मांड पेट में भलीभांति पच जाय तब इन धान्यों को कच्चा भी खाया जा सकता है। उस दशा में इनमें अन्तर्निहित जीवनकण ( विटामिन ) भी शरीर में पहुंचकर उपकार करते हैं। अन्यथा उबालने या भूनने से वे जल जाते हैं। अगर कच्चे खाना हो तो इन धान्यों को १०-१२ घंटे पूर्व भिगोकर — गीले वस्त्र में लपेट रखना अच्छा होता है। उससे ये अंकुरित हो आते हैं अर्थात् इनके कण फूल जाते और कुछ सुपाच्य होजाते हैं।

(७०५) दूसरा मधुरतत्व — मधु (ग्लाइकोजन-शर्कराजनक ) प्राणियों द्वारा प्राप्त होता है। इसका एक रूप मधु मक्खियों के छत्ते में मिलता है। वह भी एक बड़ी पहाड़ी मक्खियों का संचित किया हुआ और दूसरा छोटी मक्खियों का। पिछला श्रेष्ठतर होता है। मानव-शरीर में यह बहुत शीघ्र ग्रहण होता है और सीधा रक्त बन जाता है। इसमें भलीभांति घोट मिलाकर दी हुई औषध भी मुख-कण्ठ और आंतों में सत्वर ग्रहण होकर रक्त तक — और उसके साथ शरीर के सूक्ष्मतम जीवाणुओं तक — जा पहुंचती है।

इसका दूसरा रूप — गाढ़ी चाशनी — प्राणियों के शरीर में खांड संचित रखने के लिये— मांड और खांड से, यकृत ( जिगर ) में बन जाता है। वह मनुष्य और पशुओं के जिगर में रहता है और उसी के कारण मांस-भोजी लोग जिगर को *Sweet cake* ( मीठी रोटी ) कहा करते हैं। शरीर में जब खांड की मांग हो तब यह फिर घुलकर, खांड बनकर रक्त में जा मिलता है।

(७०६) सेल्यूलोज — खांड का वह ठोस हुआ अंश है जो चावलों के ऊपर चढ़े रहने वाले धान के छिलके — आदि में रहता है। पौधों के जीवाणुओं की दीवारें भी इसी की बनी होने के कारण, उनके रेशों में यह बहुत रहता है। यह शरीरोपयोगी शर्करा बड़ी मुश्किल से बनता है। उसे इतना अधिक उबालना होता है कि वह मधुरांश के कण पोले पड़ जायं और उनके ऊपर का खोल छूट जाय। जब वह शरीर में पचने योग्य और अत्यन्त पोषक हो जाता है।

(७०७) और भी कई प्रकार के तत्व मधुर होते हैं। यथा — द्राक्षौज ( *Dextrose* डैक्सट्रोज अंगूरी शर्करा — ग्रेपशुगर ) यह अंगूर, मुनक्का और अनेक फलों में रहती है और थोड़ी सी रक्त में रहनी चाहिये। ऐसी ही लेवूलोज ( *Levulose* ) होती है। और ये दोनों समभाग मिल जायं तो

Glucose ग्लूकोज वन जाती है जो ठीक शरीरोपयोगी खांड है।

(७०८) ईख, चुकंदर आदि में रहने वाली शर्करा इक्षोज ( Cane Sugar केन शुगर ) है। यह तेजाव के साथ औटकर ग्लूकोज़ वन जाती है, और हमारे पेट में यही होता है। हम जितनी मिठाई, खांड या गुड़ खाते हैं, वह जठर के तेजावी रस में घुलकर पित्त और अग्निरस द्वारा खूब पचाई जाती है।

## मांड और दूध-

(७०६) मुख का थूक ( लालारस ) भी बहुत काम करता है। हम जितनी मांडदार चीजें-चावल, दाल, अन्न और फल खाते हैं- उनके मांड को यह 'लाला' खांड में बदल देता है। भोजन को चवाते समय उसमें-यह आकर मिलता है तब इसके असर से मांड, खांड बन जाता है और दूध का दही जम जाता है। उस दूध में से भी एक खांड निकलती है जिसे दुग्धौज (Lactose लैक्टोज़-या शुगर आफ़ मिल्क ) कहते हैं। इन सब शर्कराओं में-अंगूर और ईख की शरीर के लिये वहुत उपयोगी होती हैं। इन्हें साफ़ करके-डली-डली रूप में भी जमा लिया जाता है जिसे कंद या मिश्री कहते हैं। 'ताड़' की भी मिश्री तैयार होती है। दुग्ध की शर्करा वालकों का अतिसार आराम करती है। मिश्री पेचिश या आमातिसार में लाभ करती है। परन्तु उससे पहिले-खांड की दशा में यही पदार्थ अधिक खाये जाने पर आंतों में प्रदाह और पेचिश पैदा करते हैं।

## गुड़ [ मोलासेस Molasses ]

भारत के परिश्रमी समुदाय के लिये- गुड़ ( ईख का घन-सत्व ) सबसे सस्ता मधुरांश है। इसमें खांड तो प्रचुर होती ही है, साथ-साथ कुछ मद्यांश ( Alcohol ऐलकोहल ) भी होता है, जो हलकी उत्तेजना देता है। इसे यदि भोजन के बाद ही एकाध तोले खाया जाय तो पाचन में वड़ी सहायता करता है। चना-गुड़ का नाश्ता बड़ा लोकप्रिय है। जाड़ों में इसकी खांड काफी गरमी देती है, और मजा यह कि गर्मी में इसको पानी में घोलकर पिया जाय तो वह ठण्डक पहुंचाता है। इसके शर्वत में भुने हुए चनों का आटा ( सत्तू ) घोलकर ग़रीव या यात्री लोग-मजे में पेट भर लेते हैं। वह बहुत अंश तक "पूर्ण आहार" होता है यदि उसमें कुछ दूध या घी मिला दिया जाय।

## लवण [ Salts साल्टस ]

(७११) लवण और क्षार तो अनेक हैं, और वे शारीरोपयोगी भी हैं परन्तु भोजन के साथ उनमें से दो-चार ही खाये जाते हैं। सांभर या सामुद्र नमक-सस्ता होने के कारण बहुत अधिक खाया जाता है। पहाड़ों से खोदकर लाया जाने वाला सैंधव लवण शरीर को अधिक उपयुक्त है। यह जीवाणुओं को उत्तेजना देता और उनके मल विसर्जित करने में मदद देता है। रक्त-शुद्धि करने और उसमें अम्लता ( तेजावीपन ) बढ़ने से रोकने के लिये नमक आवश्यक खाद्य है। भारत में जब से नमक पर उसके पूरे मूल्य से भी दस-पांच गुनी अधिक चुङ्गी लगाई गई है, तब से वह बहुत मंहगा होजाने के कारण गरीब लोग उसे भी बड़ी तङ्गी से खर्च करने लगे हैं और इससे उनके शरीर में अम्लता बढ़कर निरुत्साह और निर्बलता पैदा होने लगी है। पशुओं को तो नमक दुर्लभ ही होजाने

से उनका ढांचा ढीला होता जारहा है और मुख-पाक, खुरपाक आदि वदहजमी एवं रक्त-दोष ( रक्त-की कमज़ोरी ) रोग अधिक दिखाई देने लगे हैं।

(७१२) यह नमक रोजाना ६ माशे से १ तोले तक खाना काफी होता है। इसके अलावा जब पेट में कब्ज़ा हो तब २-१ दिन "ऐप्सम साल्ट" का सेवन कर लेना चाहिये। यदि पेट में शूल हो, पित्त की पथरी जमने की शंका हो, तब मैंगनेशिया फास ( कालानमक ) २-४ रत्ती की डली मुख में डाल-डाल कर रस चूसना चाहिये।

मूत्र साफ़ उतारने के लिये कलमी शोरा और पाचन-शक्ति उत्तेजित करने के लिये यवक्षार या नौसादर ( ऐमोनियम साल्ट ) का, अन्य पाचक पदार्थों के साथ मिलाकर वनाया हुआ चूर्ण, सेवन करना चाहिये। सीप, चूने या दूध में निकलने वाले क्षार ( कैल्शियम कार्बोनेट, फास्फेट और लैक्टेट ) भी शरीर के अनेक तन्तुओं को वनाने के लिये आवश्यक हैं। इनकी कमी से हड्डियां कमज़ोर और टेढ़ी पड़जाती हैं या शोषरोग होजाता है। अतः थोड़ा सा इनका सेवन भी आवश्यक है। आयुर्वेद में इसे ध्यान में रखकर ही -- दो-तीन वार ( प्रायः भोजन के वाद ) 'पान' खाने का उपदेश किया गया है। पान में लगाया जाने वाला चूना दूध में बुझाया हुआ लें। वह कैल्शियम लैक्टेट प्रदान करती है। उसमें कत्था लगा देने से वह मुख और जीभ को कोई विकार नहीं करता, वल्कि मुख-प्रदाह शांत करने वाला होजाता है। और पान का स्वरस स्वयं उत्तेजक तथा रक्त में तेजी से ग्रहण होने वाला है अतः इन कैल्शियम तत्वों को वह शीघ्र जीवाणुओं तक पहुंचा देता है। आजकल न जाने क्यों, यह फ़ैशन प्रचलित है कि पान-सुपारी न खायी जाय। इसके वदले लोगों को विदेशी कारखानों के कैल्शियम लैक्टेट की टिकियां खानी पड़ती हैं और मुख शुद्धि के लिये मंजनों और ब्रुशों में विशेष व्यय होते हुए भी, पायोरिया से पीड़ित होकर दांत उखड़वाने की नौवत प्रायः आया करती है।

## जल (*Water*)

(७१३) शरीर के लिये सवसे अधिक जरूरी पदार्थ – जल – है जो शरीर में कुल वजन का दो-तिहाई भाग रहता और नित्य ३ सेर निकला करता है। कई तन्तुओं में उद्‌जन ( हाइड्रोजन ) के सुलगने (ऑक्साइडेशन ) से यह थोड़ा सा शरीर में पैदा भी होता है – यह 'समाधि' के प्रकरण में वता आये हैं– तथापि इसका अधिकांश हमें "अन्न-जल" के रूप में मुख द्वारा ही लेना होता है। भोज्य-पदार्थों में भी वहुत कुछ अंश जल का ही होता है, फिर भी शेष जरूरत – प्यास शांत करने के रूप में – केवल जल ही पीकर पूरी की जाती है।

यह जल कई काम करता है। प्रथम तो यह आहार रस के घुलने और उबलने में सहायक होता है। फिर उसे वहाकर आंतों में अच्छी तरह लेजाता है। जल से रस में पौष्टिक, मधुर, चिकनाई के अंश तथा क्षार, चारों ही पतले घुल जाने के कारण आंतों के ग्राहक-अंकुर उन पोषक तत्वों को मज़े में चूस-लेते हैं। फिर शेष छूछे को भी आंतों की लम्बी नली के पार तक वहा लेजाना इसी 'वरुण' देव का काम है। रक्त में से क्षारीय पदार्थ छन आना – और मूत्र या पसीने के रूप में निकलना भी जल की सहायता से ही होता है। फिर यह जल रक्त को इतना पतला रखता है कि वह वारीक से वारीक केशिकाओं में जासके। वहां इसी जल भगवान की मदद

से जीवाणु – लसीका ( श्लेष्मा ) में से पोषक-तत्व ग्रहण करते हैं और समाधि-समय पर यही जल-देव थोड़ी सी ओपजन और उदूजन विश्लेषित करके 'प्राण' और 'अपान' की भी कुछ पूर्त्ति करते हैं।

## जीवनकण [ *Vitamin* विटामिन ]

(७१४) इन पांच पदार्थों से शरीर की रचना और पोषण के तत्व तो तमाम मिलजाते हैं मगर चेतना-शक्ति को बल देने वाले जीवनकणों की और ज़रूरत रह जाती है। ये जीवन-कण सबसे अधिक तो उस गो-दुग्ध में रहते हैं जो स्तनों से निकलते ही पीलिया जाय। कच्चे धान्यों, फल-फूलों और प्राणियों से प्राप्त होने वाले पदार्थों में ये पाये जाते हैं और शुद्ध वायु तथा सूर्य की धूप इन्हें बहुत शक्तिशाली बना देती हैं। इनकी तादाद चाहे अधिक प्राप्त हो या थोड़ी - वह लगभग समान ही असर करती है। परन्तु इनकी प्राप्ति नित्य और नियमपूर्वक होती रहनी चाहिये। अन्यथा नेत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति घटने लगती है, रक्त–विकार के रोग प्रकट होते और हड्डियां तथा जनन–शक्ति भी जाती रहती है।

(७१५) विटामिन ( जीवनकणों ) का विवेचन धन्वन्तरि में गत वर्ष ही विस्तार से होचुका है अतः यहां पिष्ट-पेषण नहीं किया। ये अबतक ९-१० प्रकार के जाने जाचुके हैं जिन्हें क्रमशः विटामिन *A* ए, विटामिन *B* बी, वि० *C* सी, *D* डी, *E* ई; आदि पुकारते हैं। इनमें से विटामिन ए *A* सर्वाङ्गीन पुष्टि-दायक है। यह वास्तव में रक्त को शक्ति देता है। फलतः नेत्रों की दृष्टि, तेज होती है। अन्य इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। रक्तविकार के रोग दूर होते हैं और स्फूर्त्ति तथा कांति आती है। यह विटामिन दिलो-दिमाग़ को ताक़त देने में अद्वितीय है। गौ के धारोष्ण दूध, शन्तरों के मीठे रस, सोयाबीन, सेम, मटर, और यव में यह विटामिन बहुत होता है। प्रातःकालीन ताज़ा वायु सेवन करने से या हरी घासों और कुंजों में भ्रमण करने से भी यह प्राप्त होता है।

विटामिन *B* बी और *C* सी मांस की पुष्टि करने वाले हैं। उनके फिर कई उपभेद होते हैं और ये चिकनाई में ही घुलते हैं। अतः पक्वान्न-पूड़ी-कचौड़ी-बड़े-मिठाई आदि से यह काफी प्राप्त होते हैं। जो जितना अधिक परिश्रम करें वे इन्हें उतना ही अधिक पचा सकते और विटामिन पा सकते हैं। 'काडलिवर आइल' में यह विटामिन बहुत ज्यादा रहता है। परन्तु सबसे ज्यादा "घी" में रहता है। प्रातःकालीन सूर्य की किरणों में बैठने से यह विटामिन वायु में से भी शरीर में प्रवेश किया करता है।

विटामिन *D* डी अस्थि-पोषक है। इसकी कमी से बालकों की अस्थियां टेढ़ी और बेडौल ( रिकैटी ) होने लगती हैं। बड़ों को अस्थिशोष होजाता या दांत आदि में कृमि ( झुनझुनी ) लगजाती है। संतरा, अंगूर, अखरोट आदि मेवों के रस में और चूना, क्षार आदि के साथ ये विटामिन शरीर को मिलते हैं। अस्थि-रोगी को ईख का रस नीबू और नारंगी बहुत लाभदायक होती हैं।

विटामिन *E* ई संतान-शक्ति देने वाला है। यह भी दूध में सबसे अधिक रहता है और सो भी गौ के कच्चे ( धारोष्ण) दूध में। अंडे और अंजीर में भी यह रहता बताते हैं। इसकी कमी से पुरुष की स्तम्भन और गर्भाधान शक्ति घट जाती है और स्त्री के मासिक धर्म में विकार होकर वह बंध्या हो-रहती है। महाराजा 'दिलीप' ने कामधेनु की ही परिचर्या करते और उसका दुग्ध पीते हुए "रघु"

जैसा प्रतापी पुत्र उत्पन्न करने की सामर्थ्य पाई थी। यह पुरानी बात होगई। परन्तु अब वैज्ञानिक-गण दूध से स्नान करा-करा कर संतान-शक्ति प्रदान करने लगे हैं। वे कच्चा दूध सेवन कराते हैं और उससे धूप में बिठाकर स्नान भी कराते हैं। फलतः दूध के विटामिन रोम-कूपों द्वारा भी शरीर में धंसकर रक्त में पहुंचते हैं और सो भी धूप की किरणों से प्रबल होकर। वह शारीर-स्वास्थ्य सुधारते हैं। त्वचा निरोग करके उसे कांतिवान बनाते हैं और संतान-शक्ति भी देते हैं। अर्थात् ये "वीर्य" वृद्धि करते हैं, उसे तेजस्वी बनाते हैं।

इसी प्रकार और भी विटामिन हैं जिनमें कोई यकृत को सुधारता है। वह मूली और गन्ने के रस, पालक-बथुआ आदि हरे शाक, प्याज और कई फलों में अधिक रहता है। कोई शरीर में मुटापा बढ़ाता और कोई घटाता है आदि-आदि। इनकी महिमा अब दिनों-दिन अधिकाधिक प्रकाश पाती जारही है। शाक-भोजी समाज मांस-भोजियों की अपेक्षा ये विटामिन भी अधिक पाते हैं जो उनके रक्त को निर्मल बनाते और शक्तियां विकसित करते हैं।

## विद्युत (बिजली)

(७१६) ये सब पदार्थ शरीर को पोषण और नये निर्माण के लिये तत्व देते हैं। परन्तु इन सबको काम में लाकर-- शरीर चलाने वाली महाप्राणशक्ति निराली ही है। वह निराकार है निरन्तर काम करती है और पूरा असर रखती है। वह है शारीरिक विद्युत या जिस्मानी बिजली। हम लोगों में अधिकांश यह सुनकर अचम्भा और बहुत देर तक अविश्वास भी करेंगे कि इस छोटे से शरीर में से प्रतिदिन, प्रतिघड़ी और प्रत्येक पल – बिजली की ऐसी लहरें छूट रही हैं जो सैकड़ों – सहस्रों मील पृथ्वी के चारों ओर फैलतीं और परिक्रमा लगाकर लौट आती हैं। इसी तरह सैकड़ों ही अन्य शरीरों की लहरें प्रतिक्षण संसार में फैलती हुई, हमारे शरीर से आ-आकर टकराती हैं। हमारे विचार और अभिलाषायें इन लहरों के रूप में संसार में फैलते हैं, उनको जहां अपने अनुकूल अवसर मिलता है वहां अपना असर भी डालते हैं और फिर हमी तक लौट आते हैं इसी तरह औरों के भले-बुरे विचार भी, हमारी प्रवृत्ति के अनुसार ही हम पर असर डाल जाते हैं। हम ऊपर चढ़ने की कोशिश में हों तो भले विचार हमें सहारा देजाते हैं, और हम गढ़े में गिर रहे हों तो, दुष्टता में पड़े हुए शरीरों के विचार हमें भी एक धक्का देजाने का मौक़ा पाजाते हैं। विश्वरूप में तो भगवान की यह महाशक्ति ऐसा ही चक्र चलाती रहती है। हां, यदि हम गिरते-गिरते भी किसी सन्त के उपदेश, आकस्मिक घटना के निर्देश या शुभ प्रारब्ध के प्रवेश-वश कुछ देर ही-- उठने का चिन्तन करें – तो संसार के तपस्वी संतों की प्रबल विचारधारा हमें सहारा देने का अवसर पाजाती है। उसके बाद यदि कुसंगति हमें न घसीटे तो – उत्तरोत्तर हमारी सद्गति का मार्ग खुलता जाता और उद्धार होसकता है। इसी को बारंबार अनुभव करके कहा गया है :--

"एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी की पुनि आध।"
'तुलसी' संगति साधु की, हरे कोटि अपराध॥"

\+ + + +

"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य भाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः॥"

और इसी के विपरीत—

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

"विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ।"

\+ + + +

"गगन चढ़ै रज पवन-प्रसंगा,
कीचहिं मिले नीच जल संगा।"

\+ + + +

(७१७) परन्तु यह बिजली केवल परलोक बनाने-बिगाड़ने वाली ही चीज़ नहीं, इस शरीर का प्रत्येक कार्य यही कराती है। परिशिष्टांक में नाड़ी-मण्डल का वर्णन इसके चमत्कार दिखायेगा। यहां इतना ही समझलें कि हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, चखते हैं या स्पर्श से नरम-गरम अनुभव करते हैं, वह तमाम इसी बिजली की कृपा से। यही उन वेदनाओं (ज्ञान) को "ज्ञान-वाही" नाड़ी-मण्डल के तारों द्वारा- दिमाग़ तक पहुंचाती है। फिर वहां भी असंख्य जीवाणु उन संज्ञाओं पर विचार कर करके निश्चय करते हैं कि क्या मामला हुआ और हमें उसके प्रति क्या करना है। कैसी चीज़ दृष्टि या स्पर्श में आई है और हमें उसके और भी निकट पहुंचना है, यहीं रहना है या उससे दूर भागना है। ऐसा निश्चय करने में हमारे जीवाणुओं को बड़े-बड़े काम करने पड़ते हैं। पिछली स्मृति (याददाश्त) उलट-पुलट कर देखी जाती हैं। इच्छा और आगामी स्कीमों से मिलान किया जाता है और तब तय करते हैं कि इस चीज़ के साथ क्या किया जाय। इस कार्य में भी शारीर-विद्युत ही जोर मारती है। इसके बाद दिमाग़ से हाथ, पैर, मुख, उपस्थ आदि जिस अङ्ग से जो काम कराना हो उसकी आज्ञा जारी होती है। वह आज्ञा भी- "क्रिया वाही" नाड़ियों द्वारा उन अङ्गों तक- यह बिजली-महारानी ही पहुंचाती हैं। इन सबके अलावा हर समय शरीर में रक्त दौड़ना, पसीना आना या न आना, कभी त्वचा की ओर और कभी आंतरिक अंगों की ओर रक्त का प्रवाह घटना-बढ़ना-आंतों का जौंक की तरह "सिकुड़-सिकुड़ और फिर फैल-फैल कर" आहार पचाना, एवं छोटे बड़े सभी अंगों की असंख्य क्रियायें यह शारीर बिजली ही कराती है। फेफड़ों का फूलकर सिकुड़ना, पेशियों को उत्तेजना पहुंचकर उनका संकोच करना और फिर फैल जाना, स्वर-यंत्र की डोरियों का ढीली और कड़ी होकर नाना शब्द पैदा करना इसी बिजली के काम हैं, अन्यथा हम एक शब्द भी न बोल सकें, एक ग्रास भी न खा- पी सकें और एक सांस भी न ले सकें। जैसी प्रबल हमारी बिजली होती है वैसी ही शक्ति के साथ हमारे दिल-दिमाग इन्द्रियां और अन्तरावयव कार्य करते हैं। संभोग की तो इच्छा, आयोजना और आनन्द बिल्कुल बिजली की ही कृपा पर निर्भर है। यहां तक कि हृदय की धड़कन भी यह शारीर विद्युत ही संभालती है, वरना दिल धड़के ही नहीं और धड़काया भी जाय तो पल भर में *fail* फेल होजाय।

(७१८) बिजली का नियम है कि जहां से चलती है घूम-फिर कर वहीं वापिस लौट आती है। 'राम' के बाणों की भांति हर शरीर-बल्कि जीवात्मा की बिजली अपने तूणीर में आकर ही दम लेती है। शरीर की बजाय आत्मा की इसे इसलिये कहा कि चेतना लुप्त होने के साथ ही इस बिजली की लहरें उठना भी बन्द होजाता है और—छोटे-बड़े शरीर के अनुसार यह न्यूनाधिक हो सो बात भी नहीं। छोटे बिल्ली के शरीर में भी काफी ज़ोरदार रह सकती है, और बड़े ऊंट के शरीर में भी यह-संभव है कि-उतनी तीखी न हो। बहुत विचारों में मस्त रहने

वाली 'चींटी' की बिजली भी इतनी ओजस्वी हो-सकती है जो एक बेसुध रहने वाले 'सेठ' की न हो। एक ४-५ मन बजन के "हैवीवेट" पहलवान की आत्मिक-शक्ति- यही बिजली-निर्बल हो सकती है और दुबले-पतले माहात्मा गांधी, या बा० राजेंद्र-प्रसाद, हर हिटलर या किसी विचार-शील तपस्वी सन्यासी की उससे कहीं अधिक जोरदार। सारांश-जैसी हमारी विचारधारा होती है-वैसी हा शारीर बिजली। इसी तरह जैसी हमारी शारीर बिजली होती है वैसी ही दृढ़ विचारधारा भी।

(७१९) इतना स्पष्टीकरण इसलिये करना पड़ता है कि आजकल खाद्यपदार्थों का निर्णय करने के लिये अस्पतालों में केवल प्रोटीन-वसा-कर्बोज और लवण की ओर ही ध्यान दिया जाता है। अपितु कई विद्याभिमान बन्धु तो हर दशा में और हर प्रकृति के रोगी को केवल इन्हीं चार तत्वों को देख-कर ही पथ्य विधान कर देते हैं जिससे साध्य दशायें भी बिगड़ जाती हैं। अब से कुछ दिन पहिले तक हम आयुर्वेद के पथ्यापथ्य को प्रोटीन-वसा के कांटे पर तोलकर निरर्थक और कपोल-कल्पित बताया करते थे। परन्तु अब अनुसंधानों से प्रकट होगया कि आहार में इन पदार्थों की अपेक्षा विटामिन (सत्व) और विद्युत (प्राण) का अधिक महत्व है और हमारे सजीव शरीर से इनका पूरा-पूरा संबंध है। और हर व्यक्ति के पथ्य का निर्णय करते समय उसके तत्व (विटामिनों की कमी-वेशी) और प्रकृति (विद्युत) का भी ध्यान रखना आव-श्यक है।

हाल में यहां तक जाना जाचुका है कि हर फल-फूल, कंद, मूल, अन्न, खनिज या प्राणिज पदार्थ में बिजली की एक खास तरह की लहरें चलती रहती हैं और वे हर चीज में निराली होती हैं। उनकी तेजी-मंदी के अनुसार ही वह चीज कम या अधिक मीठी-कड़वी होती है। बल्कि यह भी रहस्य खुला है कि मधुर, अम्ल और कटु ये रस एक ही प्रकार की बिजली के रूप हैं। मंद लहरें मधुर-स्वाद बताती हैं, मध्यम हों तो अम्ल (खट्टा) और अत्यन्त तेज़ हों तो कटु स्वाद अनुभव होता है। यह साधारणतया भी देख सकते हैं। खांड का सार - सैकेरीन (*Sacharine*) चुटकी में ले-ले कर १ गिलास जल में छोड़ते जावें और चाखते जावें। वह थोड़ी ही रहेगी तब तक तो जल मधुर होता जायगा। परन्तु जब सैकरीन अधिक पड़ जायगी तब जल कड़ुआ लगने लगेगा। दूसरा उदाहरण है ईख का मधुर रस। वह ज्यों-ज्यों सड़ने-पुराना होने लगता है त्यों-त्यों अम्ल होता जाता है जिसे "सिरका" कहते हैं। खांड या बूरा मीठा होता है, परन्तु उसके कुछ और भी अधिक मधुरांश वाले कण खट्टे प्रतीत होने लगते हैं।

(७२०) इसके विपरीत क्षार-तिक्त (चरपरा) और कषाय रस दूसरी तरह का बिजली-प्रवाह (धन की बजाय ऋण) बताते हैं। कहा जाता है कि इसी कारण क्षार से अम्ल का बैर है, और एक से दूसरे का शमन होजाता है। चरपरेपन की शांति मीठे से और कषाय की कड़ुए से होती है। अब तो एक सुई ऐसी बन गई है (जो शीघ्र ही बाजारों में भी आजावेगी) जिसे किसी फल या पदार्थ में धंसा दीजिये। वह उसकी विद्युत-लहरें अनुभव करेगी और उसके सिरे पर लगे हुए यंत्र में मालूम होजायगा कि वह फल स्वाद में कैसा है। अर्थात्

बिना चखे ही खट्टा, मीठा आदि स्वाद उसकी विजली की लहरों का वेग नापकर ही मालूम होजाता है। अब हम समझ सकेंगे कि आयुर्वेद में जो हर विकार में या हर प्रकृति के लिये अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ बताये हैं, वे कटु-- अम्ल आदि रसों के हिसाब से ही बताये हैं। कटुपदार्थों को ज्वरनाशक बताना, अम्ल को स्खलनकारी, कषायों को रेचक-सारक बताना और साथ ही मसूढ़े आदि दृढ़ करने वाला भी, यह इसी विद्युत गुण से मेल खाता है। चाहे उन्होंने इसे विजली की लहरों के नाम से न समझ कर प्रत्यक्ष अनुभव से ही जाना हो, परन्तु उस निर्देश की सार्थकता और महत्ता अब हमें ज्ञात होती है। कुछ दिन पूर्व यह कहा जाता था कि त्रिफला तो संकोचक होता है, उसके कुल्ले करें तो मसूढ़े कड़े पड़ते हैं, योनि आदि के क्षत भी उपचर्म कठोर होकर आराम होते हैं। फिर यह ( *Astringent* ) संकोचक पदार्थ रेचक ( *Laxative* ) कैसे होसकता है। परन्तु प्रत्यक्ष परीक्षा सिद्ध करती है कि हमारा इस बात पर आग्रह रखना भूल है। इनकी विद्युत-लहरें तो संकोचकारी हैं, परन्तु उसके अन्य उपादानों का गुण उन्हें 'सारक' भी बनाता है।

(७२१) यह विटामिन और बिजली की गति भी हर पदार्थ में सदा समान नहीं रहती। उसके सूख जाने, भीग जाने, उबल या भुन जाने से विटामिन कम होजाते हैं। विजली की लहर भी कम या अधिक होजाती है और उसी के अनुसार पदार्थ का स्वाद भी बदल जाता है। इसी कारण फल-मूल या अन्न आदि के, कच्चे रहने पर और गुण होते हैं, पकने पर कुछ और, सूखने पर कुछ तीसरे तथा उबाल लेने पर और ही कुछ। यद्यपि उनमें रहने वाले प्रोटीन, वसा, कर्बोज और लवण की मात्रा अधिक नहीं बदलती। इसीलिये 'विज्ञान' से जहां थोड़ा सा पता पाकर ही हम लोग किसी वस्तु के गुणागुणों का दावा करने लगते हैं वहां हम भूल करते हैं। अभी तक हमारे यंत्र – बहुत बारीकी से विभेद बताते हुए भी – इतने स्पष्ट नहीं हुए कि उनके ही आधार पर हम मानव-महायंत्र के साथ दावे के साथ खेलें। वस्तुओं के प्रभाव के विषय में तो हमें अभी तक पिछले प्रत्यक्ष अनुभवों को ही प्रमाण मानना चाहिये कि किस दशा में कौन चीज़ कैसा गुणागुण करती है। हां, उस प्रमाण की, अब होती हुई वृद्धिगत जानकारी से मीमांसा भी करते जाना और उत्तम होगा।

(७२२) आहार या औषधों का विचार करते समय इसी प्रसंग की एक बात ध्यान रखने योग्य है। वनस्पति जगत से मिलने वाले तमाम पदार्थों की रचना उस रस से होती है जो उनकी जड़ें ऊपर को पहुंचाती हैं। वह रस – हर जड़ से भिन्न-भिन्न तरह का तैयार होता है और उसका असर पेड़ और फलों के स्वाद और आकार पर भी पड़ता है। इसी से नीबू खट्टे, सिलहट कम खट्टे और कोई–कोई शंतरे बहुत मीठे होते हैं। आम–चूक खट्टे से लगा कर अति मीठे तक, अनेक प्रकार के होते हैं। उनमें प्रोटीन आदि पदार्थों की मात्रा प्रायः समान होते हुए भी–विद्युतधारा के अन्तर से ही स्वाद में इतना अन्तर होता है और गुणों में भी। अतः पथ्य-निर्देश में पदार्थ और स्वाद ( रस ) दोनों का ध्यान रखना आवश्यक है। कटु रस पित्त-प्रकृति वाले को अधिक अनुकूल होगा और वात ( *Nervous* नर्वस ) प्रकृति के व्यक्ति को मधुर रस आदि। शान्त या अशांत, उद्योगी या आलसी प्रकृति

के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति का आहार होना चाहिये और उनकी रुचि भी भिन्न-भिन्न होती है। कई लोग खट्टे पदार्थ—अचार वगैरः को बहुत पसन्द करते हैं और कई लोग चरपरी चाटों को। कई लोग मिठाई को लालायित रहते हैं और कई उसे अधिक पसंद नहीं करते। गीता की इस विषय में उक्ति है कि—

आयु सत्त्व बलारोग्य सुखप्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिराहृद्या, आहाराः सात्विकप्रियाः॥

अर्थात्--सात्विक, शांत, संयमी प्रकृति के लोगों को (जिन्हें दिमाग से उच्चकोटि की समस्यायें विचारने और न्याय का काम करना हो) मधुर, रसीले, घृत दुग्ध, पौष्टिक और हृदय को बल देने वाले (फल फूलादि विटामिन संयुत) आहार प्रिय (लाभकारी) होते हैं।

\+ + +

कट्वम्ल लवणात्युष्ण, तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा, दुःख शोकामयप्रदा॥

अर्थात्--कड़ुए, खट्टे, खारे, चरपरे, (तेज-विद्युत्धारा वाले) अत्यन्त गरम, खुष्क भोजन और मुंह खोल देने वाले चाट, चने, चटनी, मद्यादि राजसी लोगों को प्रिय होते हैं। ये उनके योग्य हैं, जिन्हें संसार में सदा आंदोलन करते रहना है, परिणाम में सुख—दुख, रोग या मृत्यु कुछ भी आवे।

\+ + +

यातयामं, गतरसं, पूति पर्युषितं च यत्।
आहारा तामस्येष्टा, तंद्रामोह फलप्रदाः॥

अर्थात्—जो एक या अधिक दिन पुराने बने हुए पकवान हों, रस सूख चुका हो, (बहुत से आदमी बासी पूड़ी-परांवठे अधिक स्वाद से खाते हैं) जिसमें गन्ध या सड़ांन (खमीर) उठने लगी हो। (सिरके, डबल रोटी और टीनों में बन्द होकर आये हुए हफ्तों और महीनों पुराने पक्वान्न) या दावतों के बाद बांटे जाने वाले, कई दिन के बासी मिष्टान्न—तामस-प्रकृति के लोगों को बड़े प्रिय लगते हैं। उनसे आराम तलबी पैदा होती है, आलस्य, कायरता और दीर्घसूत्रता बढ़ता है। स्मृति, बुद्धि और स्फूर्ति घटती और व्यर्थ मोह पैदा होता है।

\+ + +

हमारे रासायनिक विश्लेषण से पदार्थों की ताजा—और बासी; तर और सूखी दशाओं में—केवल जल का फर्क पड़ता है, शेष प्रोटीन, वसा, कार्बोज और लवण का अनुपात लगभग वही रहने पर भी ताजे और बासी भोजनों के रूप-रङ्ग, स्वाद और गुणों में भारी अन्तर आजाता है। यह उसके 'रस' का अन्तर ही खाद्य चुनने में सबसे महत्वपूर्ण है। इसीलिये, हम प्रोटीन आदि के अनुसार भी खाद्यों का निर्देश तो करेंगे परन्तु विनय यही करेंगे कि पदार्थों के सत्व (*Vitamin*) और रस (विद्युत-प्रवाह) पर विशेष ध्यान दिया जाय।

(७२३) इस प्रभाव-परिवर्त्तन का प्रधान कारण भी सुन लीजिये। प्रत्येक अन्न, धान्य, फल, फूल, मूल या प्राणिज पदार्थ में एक रस रहता है। वही रस—जो जड़ें धरती से शोषण कर—करके ऊपर को भेजती रही थीं। जड़ें भी हर पेड़ की भिन्न-भिन्न होती हैं और वे पृथ्वी में से अपने लिये खास-खास तत्व—अपनी खास मात्रा में ही लेती हैं। इसी से हर पेड़ का यह पोषक-रस भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है और उसीके माफिक उन वृक्षों के फल-फूल भी होते

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

है। खट्टे-मीठे, छोटे-बड़े आदि। केला और करेला, आलू और प्याज, गेहूं और चावल, रीठा और आंवले के अन्तर का कारण उनके रसों का ही भेद है।

रस में यह अन्तर दो जगह होता है। एक तो उसके विद्युत-प्रवाह में, दूसरा उसकी रचना के तत्वों में। उन तत्वों को "स्वरस-सत्व" (*Alkaloid* ऐल्केलाइड) कहेंगे। यह ऐसी विचित्र चीज है कि एक वार किसी तरह सूख जाय, तो सहज में किसी भी तरह फिर घुलकर तरल होती ही नहीं। चाहे उसे उवाल लें, शराव में घोलें, तैल में पकावें या कुछ करें। वे सत्वकण फिर अपनी पूर्वावस्था में नहीं आते। उसका लाभ तो तभी मिलता है जब उस वस्तु को सूखने से पहिले ही सेवन करलें या सूखने के पहिले ही उसका स्वरस निकाल कर मद्यसार आदि में घोल रखें (क्वाथ या आसव बना रखें) और तव तक विगड़ने या सूखने से वचाये रखें जव तक उसे काम में न लेआया जाय। आजकल होमियोपैथिक निर्माणशालायें इसका खास ख्याल रखती हैं। अन्य प्रयोगशालाओं में प्राय: इसकी पर्वाह नहीं की जाती। फलत: सूखने के वाद उन औषधों से जो बुंदे या टिंचर वनाये जाते हैं, वे अन्य गुण तो रखते हैं, परन्तु उस "स्वरससत्व" वाले विशेष गुणों से वंचित होते हैं। उनके द्वारा किये गये परीक्षण से ही—हमें—उन वनस्पतियों के गुण का निर्णय नहीं कर डालना चाहिये, जिनके वे टिंचर हों। वे तो अधूरे हैं।

फिर हर शरीर की प्रकृति एक सी नहीं होती। अत: हर वस्तु की विद्युतधारा, शरीर की बिजली अपने अनुकूल उदासीन या प्रतिकूल पाकर, न्यूनाधिक प्रभाव करती है। अत: जो परीक्षण हम 'टेस्ट-ट्यूव' में करते हैं, उस पर इस कारण भी विशेष विश्वास नहीं रख सकते। आयुर्वेद के आचार्य तो इन्हीं सव वातों को विचारते हुए, हर पदार्थ के गुणागुणों का वर्णन करने के वाद भी यही बता गये हैं कि—

"प्रभावोऽचिन्त्य मुच्यते"

किसी पदार्थ का "अमुक" व्यक्ति पर क्या प्रभाव होगा यह (वहुत कुछ) अचिन्त्य है। देखा भी गया है कि कोई-कोई व्यक्ति—तनिक अभ्यास के वाद ही विष या विदाही पदार्थों को—"मारक मात्रा" से भी अधिक खा-पी जाता है और मजे में वैठा रहता है, और दूसरा—उनकी "औषध-मात्रा" भी नहीं सह सकता और शिकार होजाता है।

## प्रोटीन आदि की मात्रा—

(७२४) खाद्य-पदार्थों में प्रोटीन, वसा आदि इस भांति होते हैं अगर १०० तोले वस्तु हो तो उसमें :—

| वस्तु — | प्रोटीन, | वसा, | कार्वोज, | लवण, | जल, | जीवनकण |
|---|---|---|---|---|---|---|
| गेहूं | ११॥ | २ | ८० | ३= | ११॥। | + |
| जौ | ८॥।≡ | १॥।≡ | ७६= | २।— | १२।— | ++ |
| मकई | ६॥ | ४।≡ | ६८— | ३॥। | ११॥ | + |

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

| वस्तु- | प्रोटीन, | वसा, | कार्वोज, | लवण, | जल, | जीवनकरण |
|---|---|---|---|---|---|---|
| बाजरा | ८॥। | ४॥। | ७३॥≡ | २ | ११= | + |
| चावल | ६॥। | ॥ | ८१– | १ | ११ | |
| उरद की दाल | २२॥– | १॥।≡ | ५५। | । | २०। | ++ |
| मसूर ,, ,, | २५॥ | ३ | ५५ | ३॥– | १३ | ++ |
| अरहर ,, ,, | २१॥। | २॥ | ५४ | ५॥ | १६। | + |
| बादाम | २४ | ५४ | १० | ३ | ६ | ++ |
| मांस बकरे का | १६॥। | १॥≡ | ३ | १– | ७५ | + |
| ,, सूअर का | २० | ७। | ॥ | १– | ७२॥ | |
| ,, बैल का | २० | १॥ | ॥– | १– | ७६॥– | + |
| अण्डा मुर्गी का | १३॥ | ११॥– | – | १≡ | ७३॥ | + |
| दूध का छेना | २४ | २॥ | ॥≡ | १– | ७१॥। | ++ |
| ,, ,, मक्खन | २ | ८५ | ० | १ | १२ | ++ |
| ,, ,, घी | ० | १०० | ० | ० | ० | ++ |
| ,, गौ का | ३॥ | ४ | ३॥ | ॥। | ८७। | +++ |
| ,, स्त्री का | १। | ३॥ | ७ | । | ८८ | +++ |
| ,, भैंस का | ३॥ | ६ | ५ | ॥ | ८२ | ++ |
| ,, बकरी का | ३ | १० | ३ | ॥। | ८३। | +++ |
| ,, डिब्बों का | १ | ५ | १२ | १। | ८०॥। | |

## उष्णता का नाप-कैलोरी

(७२५) कह आये हैं कि ये खाद्य-पदार्थ शरीर में जलकर ऊष्मा पैदा करते हैं और उसकी शक्ति से शरीर चलता है। हम कुछ भी परिश्रम न करें – तो सिर्फ साधारण उठने-बैठने, शौचादि नित्य-कृत्य और गप-शप लड़ाने में ही– दिन-रात में—४००-४२५ केलोरी उष्णता खर्च होती है। थर्मामीटर की 'डिग्री' जैसे ताप की तेजी या मन्दी बताती है, वैसे ही 'केलोरी' ताप की तादाद का एक नाप है। शरीर में ४-४॥ सौ कैलोरी ताप खर्च होता हो-तो उसकी पूर्ति तब होती है, जब इससे छः गुना, २५–२६०० कैलोरी ताप पैदा कर सकने लायक – आहार किया जाय। परिश्रमी आदमी को ३-३॥ हजार कैलोरी पैदा करने वाला आहार चाहिये और शीतल पहाड़ी तराइयों एवं समुद्र में रहने वाले पहाड़ियों या नाविकों को ४॥–हजार कैलोरी उपजाने योग्य भोजन दिया जाता है तब उसमें से – शरीर अपने लायक ८-६ सौ कैलोरी बचा पाता है। शेष या तो भोजन पचाने की प्रक्रिया

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

में ही खर्च होजाता है या अधिकांश मल में निकल जाता है।

जांच से जाना गया है कि १ माशे प्रोटीन शरीर में सुलगने से ४ कैलोरी गर्मी पैदा होती है। १ माशे मधुरांश ( कार्बोज ) सुलगने से भी इतनी ही हरारत उपजती हैं। परन्तु १ माशे चिकनाई ( घृत या वसा ) जलने से ६ कैलोरी ताप पैदा होता है। इस प्रकार हमारे भोजन को कुल ५-७ तोले प्रोटीन या खांड काफ़ी होनी चाहिये और घी तो केवल २-३ तोले ही यथेष्ट है। परन्तु एक ही पदार्थ से तमाम पूर्ति नहीं करनी चाहिये, और न होती ही है। शरीर को चलने के लिये ताप चाहिये, मगर साथ ही नये जीवाणु बनाने और मरम्मत करने के लिये कुछ अन्य पोषक तत्व और क्षार भी चाहिये। अतः आहार ऐसा होना चाहिये जिसमें प्रोटीन, वसा, मधुरांश और क्षार – चारों पदार्थ हों, तथा उनकी ताप-उत्पादन शक्ति का जोड़ २॥-३ या जरूरत के अनुसार ४-४॥ हजार कैलोरी तक हो। साथ ही उनमें जीवनकण भी काफ़ी हों, हर तरह के हों और उक्त व्यक्ति के अनुकूल ही रस ( विद्युतधारा ) का भी बाहुल्य हो। इतनी चीजों का हिसाब-किताब लगा-कर पथ्य निर्देश करना हर चिकित्सक और रोगी के लिये कठिन है। इसका एक तैयार नक़शा सामने प्रस्तुत रहे तब इतना ध्यान रखा जासकता है। उसमें हर तैयार खाद्य-पदार्थ के सामने उसके प्रोटीन आदि तत्वों का अनुपात, कैलोरी-शक्ति, जीवनकण और रस का विवरण तथा कैसी प्रकृति के अनुकूल है यह अंकित रहे और व्यवस्था देने से पूर्व वैद्य यह देख ले कि इष्ट व्यक्ति का धंधा, हाजमा ( पाचनशक्ति ) और रोग या जरूरत कैसी है।

(७२६) मोटे तौर पर हाजमे के अनुसार भोजनों को यों बांट सकते हैं :—

(क) अत्यन्त हलका आहार जो–यवागू या पतले रस की भांति सहज पचने वाले और पौष्टिक होते हैं तथा बहुत कमज़ोर रोगियों को दिये जाने योग्य हैं।

| | |
|---|---|
| यवागू, | वारली वाटर |
| अरारोट दूध में; | अरारोट नमकीन जल में |
| दूध और विस्कुट; | दूध और चावल का मांड |
| मूंग की दाल का पानी, | अरहर का पानी, |
| अनार के दाने, | अनार का रस |
| परवल के साग का रस, | दूध का पनीर |
| तोरई का शाक | टिंडे के शाक का रस |
| मांस-रस और दूध | फुलके की पपड़ी और दूध |

दूध में चिउड़े या खीलें ( लाजा ) भिगोकर,

| | |
|---|---|
| दूध का छेना (*whey*) | दही |
| रवा भूनकर दूधकेसाथ | साबूदाना |
| सेब का रस | शल्जम का रसा |
| शंतरे का रस | मछली का रसा |
| मीठी छाछ (तक्र) | मखाने की खीर |
| कूटू की खीलें | संगौरी का रसा |
| बहुत पतली खिचड़ी | लौकी का शाक-रस |

(ख) कुछ हलका आहार जो बीमारी से उठे हुए – कमज़ोर हाजमे वाले लोगों के योग्य है।

| | |
|---|---|
| दूध-चावल, | दाल–चावल |
| दूध के साथ फुलका, | दाल–फुलका |
| मसूर की दाल का पानी, | अरहर की दाल-रोटी |
| दलियामीठा या नमकीन, | पुरानेचावलकीखीर |

| | |
|---|---|
| कबाब-रोटी, | लौकी का शाक |
| मांसरस और रोटी | तोरई का शाक |
| चचेंड़ा का शाक | करेले का शाक |
| हरे केले का शाक | आलू का शाक |
| परवल का शाक | गोभी का शाक |

| | | |
|---|---|---|
| मुरमुरे, | बिस्कुट, | नानखताई |
| मक्खन, | छाछ, | छेने की मिठाइयां |
| सेब, | अनार, | अंगूर |
| नाशपाती, | अमरूद, | संतरा |
| केला, | पपीता, | खजूर |

इनके अलावा – बथुए, पालग, मूली के पत्ते, चौराई, खुर्फा, चने के पत्ते ( बूंट ) आदि की भाजी भी लाभदायक है। मेवाओं में मुनक्का, काजू और आलू-बुखारा ले सकते हैं।

(ग) स्वस्थ पुरुषों के लिये, जिन्हें शारीरिक या मानसिक कोई श्रम विशेष नहीं करना पड़ता – निम्नांकित चीजें और बढ़ाई जासकती हैं। इनसे अधिक गरिष्ठ ( पौष्टिक ) पदार्थ – उनके हाज़मे में विकार कर सकते हैं जिससे उन्हें लाभ की बजाय हानि ही पहुंचेगी।

| | |
|---|---|
| दूध-जलेबी, | खीर, |
| कलाकंद ( बरफी ) | पेड़े, |
| उर्द की दाल, | मसूर की दाल |
| खुर्मे और खस्ते | नमकीन पकान्न |
| बेसन की मिठाइयां | बीजों की चकतियां |
| गज़क और हलवे | दालों के चिल्ले |

(घ) जिन्हें मानसिक परिश्रम – करना पड़ता हो, परन्तु घूमने-फिरने का अवसर कम हो जैसे दूकानों के मालिक, मुनीम और दफ्तरों के बाबू, प्रोफेसर या पण्डित– मौलवी और विद्यार्थी–मण्डली–

| | |
|---|---|
| बादाम की ठंडाई | बादाम का हलवा |
| चावल के पदार्थ | मक्खन–रोटी |
| धारोष्ण गोदुग्ध | मलाई–रोटी |
| अजा (बकरी) का दूध | आमले का मुरब्बा |
| मिश्री मेवे की फंकी, | मूंग की दालके लड्डू |
| दलिया, | खिचड़ी ( मेवा की ) |

| | | |
|---|---|---|
| जौ की रोटियां, | मठरी, | मधु |
| खरबूज़, | तरबूज़ और | जमीकंद |

रसगुल्ला, संदेश आदि छेने की मिठाइयां गेहूं की चोकर के पक्वान्न और दालों के ढोकर, हरे-फल फूल और पत्तों का सेवन और शाकादि।

(च) जिन्हें शारीरिक श्रम भी काफी करना पड़ता है और दिमागी भी, जैसे एजेंट, दलाल, संवाददाता, उद्योगी चिकित्सक, कारिन्दे और जासूस लोग, चुनाव-प्रचारक और ऑर्गेनाइजर श्रेणी के सज्जन उपरोक्त दिमागी पौष्टिकों के साथ-साथ नीचे लिखे गरिष्ठ-पौष्टिक भी प्रातः या तीसरे पहर जल-पान आदि के तौर पर ले सकते हैं–

| | |
|---|---|
| बादाम-पिस्ता की लौज, | बालूशाही आदि |
| रबड़ी | सोहन हलवा |
| खोवे की मिठाइयां | मटन और चाय |
| पोस्त का हलवा | इमरती आदि गरिष्ठान्न |
| दाल का हलवा | अंगूर और छुहारे |
| भैंस का दूध | मत्स्य और मांस |

(छ) जिन्हें केवल शरीर परिश्रम ही करना पड़ता हो उनके लिये सस्ते पौष्टिक ये हैं—

| | |
|---|---|
| मसूर की दाल | गाजर - मूली आदि कंद |
| उर्द की दाल | अमरूद, |
| चने की रोटियां | बेर |
| मटर की रोटियां | सिंगाड़े |

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

बेभड़ की रोटियां  शकरकंदियां
गुड़ और राब  धान और चोकर आदि

—यह कुछ चीजें हुई । इसी प्रकार अन्य असंख्य खाद्य-पदार्थ हैं, उन्हें यथा गुण श्रेणी में रखलें ।

## गुड़—

(७२६) इसमें गुड़ खास चीज़ है। आजकल उज्ज्वल सफ़ेद खांड के प्रचार ने लोगों का ध्यान गुड़ से हटा रखा है। परन्तु यह मनुष्य शरीर के लिये खांड से भी अधिक बलदायक है। इसमें मधुरांश और उत्तेजक एल्कोहल तो रहता ही है, ६–७ प्रतिशत प्रोटीन भी होती है। इसप्रकार चना-गुड़ खाकर या गुड़ के पानी में जौ के सत्तू घोलकर उसका आहार करके मनुष्य काफी दिनों तक जीवन-धारण किये रह सकता है। बाढ़, अकाल, भूकंप या महामारियों के कारण निराश्रय होपड़े लोगों की सहायता का यह एक बहुत अच्छा साधन है। दिमागी काम करने वालों के लिये यह खांड की अपेक्षा अधिक उपयोगी है और जिनकी गर्म (पित्त) प्रकृति हो वे भी इसे जल में घोलकर व्यवहार कर सकते हैं।

(७२७) जल-वायु के साथ भोजन का घनिष्ठ-सम्बन्ध है। पृथ्वी के ५ तल हैं जिन्हें "कटिबन्ध" (*Zone*) भी कहते हैं। उनमें जो भाग पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव पर है—वहां हर समय बरफ़ जमी रहती है। इसीप्रकार पृथ्वी के दक्षिणी ध्रुव पर भी हर समय शीत से बरफ जमी रहती है। ये ध्रुव कटिबंध बहुत ही शीतल होते हैं। अतः इन्हें 'शीतकटिबन्ध' (*Frigid Zone* या हिम कटिबन्ध) कहते हैं। यहां ६ मास तक उत्तरायण सूर्य हो तब उत्तरी-ध्रुव पर और दक्षिणायन सूर्य हो तब दक्षिणी ध्रुव पर दिन—अर्थात् सूर्य की धूप रहती है। उन दिनों सर्दी कुछ कम होजाती है। शेष ६ मास लगातार रात्रि रहती और दारुण ठण्ड पड़ती है। उस बरफीले प्रदेश में सफ़ेद सूअर, हेरिंग मछलियां और ऐस्कीमो जाति के आदमी पाये जाते हैं। वे ऐस्कीमो लोग बरफ़ के खण्डों को ही चुन-चुनकर अमेरिका, बना लेते हैं जिनमें द्वार के सिवा किसी ते हैं। इन नहीं पहुंचती और उन सूअर या रावर ही रहते भून-भून कर उदर-पोषण करते ब सूर्य 'कन्या' या आदि से दीपक – मशालें – ने ज़ोर की पड़ती है गरम और प्रकाशित रखते इन देशों में कार्य मिलता है और न करना रहना चाहिये। ठीक ने ये चरबीले प्राणी बहुत ही ठीक होता है। किसी पाकर उन एस्कीमो लोके आफ़िस या स्कूलों का सकें। यह प्रदेश पृथ्वी ते ४ बजे तक (मध्यान्ह का) से ऊपर ६० (ध्रुव) त और हानिकारी है। इन के अलावा ग्रीनलैंल धोती पहनना और एक का सबसे ऊपरी के ओढ़ लेना, या धोती-कुर्त्ता रूस आता है। पी क़तई आवश्यक नहीं। कुर्त्ता प्रधान भोजन, लते रहने चाहिये ताकि उनमें रहन-सहन ही जमा न रहे। बङ्गाल और मद्रास भी ऐसी ही।

(७२८

आते हुए के निवासियों को चिकनाई बहुत कम-उत्तरी के बराबर खानी चाहिये, वरना वह वन्धां ताप अधिक उत्पन्न करेगी। हां मधुरांश उश्वेतसारीय पदार्थ, चावल और जौ अधिक भी करें। चाय या शराब को तो दूर से ही प्रणाम रहें और दूध भी यथासंभव धारोष्ण (कच्चा) दूधें, या उसमें उतना ही जल मिलाकर—मीठा 'मी' बनाकर पियें। मांस इन लोगों

को अत्यन्त हानिकारी है। केवल 'मत्स्य' कुछ खा-सकते हैं। पकान्न भी न खावें। इन देशों में हाजमा मन्द रहता है अतः प्रातः सायं-केवल २ वार ही भोजन करें। यदि नाश्ता भी करना चाहें तो केवल फल, दूध-विस्किट आदि हलका करें और सब भोजन की तादाद कुछ घटादें। शुद्धि सात्विक भोजन ( भात-भाजी ) सात्विक वेश-भूष, सात्विक रहन-सहन ( कम उद्योग शील, कम चंचल ) और सात्विक ही जीवनचर्या ( तड़के ४ वजे उठना, प्रातः सायं जीविकोपार्जन, दोपहर व मध्यरात्रि को विश्राम और सायंकाल के बाद मनोरंजक भजनोपदेश ) इन देशों के लिये सर्वोत्तम:'वेला-विभाग'है। इसकी वजाय यदि कोई-इन उष्ण देशों में भी शीत देशों की रहन-सहन को आदर्श मानकर चलें, अधिक वस्त्र पहिनें, गरिष्ठ पकान्न और मांसान्न या वासी विस्किट खावें, या विज्ञापनों के फेर में आकर गरम चाय, शराव या दवाओं का प्रयोग करने लगें तो उनका शरीर उसका कुफल पाता और असमय अव-सान कर जाने को वाध्य होता है। उनकी मेधा और दृष्टि मन्द होकर जीवनीशक्ति और स्फूर्त्ति भी जाती रहती और जितनी उन्नति उस शरीर से संभव थी वह नहीं होपाती।

इस प्रकार दक्षिणी भारत में चावलप्रधान, उत्तरी में दुग्धप्रधान, उससे भी अधिक शीत देशों में मद्यप्रधान, तथा अत्यन्त शीत देशों में मांस-वसा-प्रधान भोजन—आवश्यक हैं।

## दूध संपूण आधार है।

(७३१) दूध इन सभी देशों में उपयोगी भोजन है। गोदुग्ध में मनुष्य-शरीर को आवश्यक सभी पदार्थ काफी मात्रा में मौजूद रहते हैं। इसलिये अकेला यह भी मिलता रहे तो मनुष्य महीनों और वरसों मजे में रह सकता है। मनुष्य को वस्त्रों की जारूरत भी दूध से पूरी होने लगी। इटली में ८-१० वर्ष हुए यह वात जानी गई थी-- कि अब यहां दूध के वस्त्र हजारों-लाखों गज तैयार होने लगे हैं। वे भारत में अभी १) ।।।) गज विक रहे हैं और ठीक 'साटन' की भांति चमकदार, कोमल और उससे दूने मजवूत होते हैं। उसका रङ्ग भी पक्का होता है। अब तो भारत में ऐसे कारखाने भी वन गये हैं ( सवसे पहला-दहली शाहदरा में ) जो दूध का ही वना सूत मंगाकर उसके वस्त्र तैयार करते हैं।

शरीर रक्षा के लिये जूते चाहिये, उसके लिये गौ मरकर चर्म दे जाती है और स्तनों से हाथों के 'ग्लोव' भी वन सकते हैं। गोमय के उपले चुनकर कोठरी वना ली जाय, उसे गोवर से ही लीप रखी जाय तो वह सुन्दर निवासस्थान वन जाती है, उसमें दूध पीते हुए और उन्हीं उपलों की अग्नि से जाड़ा भगाते हुए मनुष्य तमाम जीवन आराम से रह सकता है। अर्थात् कोई चाहे तो – केवल 'गौ' के द्वारा ही जन्म भर सात्विक जीवन-यापन कर सकता है। वह अन्न,वस्त्र और मकानादि सव 'आवश्यकताओं' की पूर्ति कर देती है। दूसरे प्रारम्भ में ही यह देख चुके हैं कि हमें, वनस्पतियों से ग्रहण करके दूध के रूप में नत्रजन और कर्वन देने वाली महादेवी "गौ" है। इसलिये संसार को इसी के आधार पर कहा जाता है और यह अकेली ही संसार से पार लगा सकती है। भैंस-वकरी आदि में भी यह गुण है परन्तु उनका दूध इतना सात्विक, निरोग तथा मानवानुकूल नहीं होता और उनके मल में भी 'गोमय' की भांति रोगनाशक शक्ति नहीं पाई जाती।

## ( तालु और कण्ठ की पेशियां )



अनुकास्थि

शंखास्थि का ऊपरी भाग

कशेरुकी का शिखा भाग

श्रुति सुरंग (कान की नली) की तरुणास्थि

शंखास्थि का गोस्तनप्रवर्धन

श्रवणसुरंग की तरुणास्थि

नथुनों के पिछले द्वार

तालु उत्तोलनी पेशी

तालु उत्तोलनी पेशी (आधी)

शिखा - प्रवर्धन

आधी तालु उत्तोलनी पेशी

कण्ठ तालुगा पेशी

नलकास्थि

जिह्वा और कण्ठ के बीच की पेशी

ऊपरी कंठ संकोचनी पेशी

श्रवण सुरंग कण्ठिका पेशी

काक (कान) वाली पेशी

अधोहनु (ठोडी या निचला जबडा)

अधो हनु

जिह्वा का पिछला अर्धभाग

उपजिह्वा (स्वरयंत्र की ढकनी)

इसके नीचे स्वरयंत्र का मुख (द्वार) है।

कण्ठ कर्णीनाली को सहारा देनेवाली श्रुति सुरंग पेशी

(रोपीरिडि माइड) - स्वनिका घाटिका पेशी

निचली कंठसंकोचनी पेशी

पिछली मुद्रिका घाटिका पेशी (स्वरयंत्र की दीवारों पर)

कण्ठ के पिछले भाग का दृश्य

( यह चित्र ऐसा है मानों कण्ठ को पीठ की ओर से देख रहे हैं )

अन्नप्रणाली ( ईसोफेगस )

— प्रत्यक्ष शारीर ।

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

## भूलोक के अमृत "दूध,, पर यह नक़शा प्रकाश डालता है।

| पदार्थ–१०० तोले में– | जल, | प्रोटीन, | वसा, | कर्बोज, | कार्बन, | नत्रजन |
|---|---|---|---|---|---|---|
| गो-दुग्ध | ८६ | ४ | ४ | ४ | ७ | ॥ |
| ,, का पनीर | ४० | ३५ | २५ | – | ३५ | ५। |
| ,, का मक्खन | ७ | १ | ६२ | – | ७० | ≡ |
| अण्डे | ७५ | १४ | १० | – | १५ | २ |
| मांस | ७० | २२ | ५ | – | १५– | ३। |
| बीअर ( ताड़ी ) | ८६ | १ | – | १० | ५– | ≡ |
| रोटी | ४० | ८ | १॥ | ५० | २८ | १। |
| आलू | ७५ | २ | – | २१ | १० | ।– |
| सूखी मटर | १५ | २२ | २ | ६० | ४० | ३।– |
| चावल | १० | ५ | १ | ८३ | ४० | ॥। |

शरीर को वजन के अनुसार १५ भाग कर्बन और १ भाग नत्रजन की ज़रूरत होती है। यह ठीक उसी अनुपात में केवल दूध में रहती है। ( ७ : ॥ ) सूखी मटर में भी यह उसी अनुपात में हैं परन्तु वह कुछ कठिनता से पचती है। पनीर में नत्रजन ज़रूरत से ज्यादा होती है और अण्डे तथा मांस में भी। इसी से ये उतने उपयुक्त नहीं। रोटी में यह कुछ २ ठीक तादाद में होती है। आलू, चावल, और मक्खन में कर्बन अधिक और नत्रजन कम होती है तथा पनीर में ज़रूरत से ज्यादा। जिन लोगों को शरीर में मांस बढ़ाना हो वे पनीर या दही खावें। बालकों की वृद्धिङ्गत देह के लिये दही-दूध सर्वोत्तम भोजन है और बड़ों के लिये–नत्रजन कुछ कम आवश्यक होने के कारण--दूध- चावल या दूध-सेवई अति उपयुक्त पथ्य है।

# पाचन-अंगों की रचना

(७३२) हम भोजन मुख में ग्रहण करते हैं। वहां सबसे पहिले दांतों की चक्कियां लगी हुई हैं। आगे के दांत चीज़ को काट लेते या टुकड़े कर देते हैं बीच के उसमें छेद कर-करके उसे कुचल देते हैं और पीछे के दांत ( दाढ़ें ) उन्हें घोट-पीस कर लुगदी बना डालते हैं। ऊपर के दांत स्थिर रहते हैं और नीचे के दांत–अधोहनु ( जबड़े ) के साथ ऊपर-नीचे तथा आगे पीछे, दाहिने-बायें चलते हैं। इससे आहार उलट-पलट कर पिस जाता है। इस क्रिया को "चर्बण" ( *Mastication* मैस्टिकेशन ) कहते हैं। चर्बण होते समय भोजन में कई रस भी आकर मिलते हैं यह बता आये हैं। फिर वह उपजिह्वा के पुल पर से गुजरता हुआ अन्ननली में

जा पड़ता है जो १। इंच चौड़ी और १–१। फुट लंबी प्रनाली है। वह उसे आमाशय में पहुंचा देती है।

## आमाशय ( मेदा *Stomach* स्टमक् )

(७३३) इसे जठर भी कहते हैं। यह ठीक 'मशक' जैसी थैली होती है जिसका मुंह दाहिनी ओर यकृत के ऊपर हो और टांगों वाले (लटकाने के) भाग की बजाय अन्ननली उसमें आकर जुड़ी हो। मुख वाला भाग आमाशय का 'दक्षिणांश' कहलाता है। भोजन उसे छोड़कर शेष भाग में ही जमा होता है। यह 'जठर' मांस की कई तहों से बना होता है जो सिकुड़ती और फैलती हैं तब यह, अपने अन्दर आये हुए भोजन की खूब घुटाई कर देता है। इसकी अन्दर की तह सिकुड़नदार होती है इससे आहार पिसने में और भी मदद मिलती है। उन सिकुड़नों के अन्दर–अन्दर ( इसकी दीवारों में ) हजारों गिल्टियां होती हैं जो रक्त में खटास दूर करती रहती हैं। वे रक्त में से तेजाबी तत्व चूसकर उसे आमाशय में को छोड़ देती हैं। वह अम्लरस आहार के साथ मिलकर उसके कणों को गलाता है। श्वेतसार ( निशास्ते ) या चिकनाई के कणों के ऊपर चढ़े हुए सूक्ष्म 'खोलों' को वह नष्ट या कोमल कर देता है और आहार को घुटाई के समय धीरे-धीरे पतला भी करता जाता है। इस प्रकार वह भोजन अब 'रायते' सा होजाता है।

प्रकृति की लीला–कि यह अम्लरस रक्त में से तभी छंटना शुरू होता है, जब हमारी आंतें खाली हों और हमें भोजन की दरकार हो। या जब ऐसा स्वादिष्ट भोजन सामने हो जिसके तत्वों की हमारे शरीर को जरूरत है, तब आंतों में कुछ भोजन शेष रहते हुए भी–वायदे के सौदे पर–आमाशय में यह अम्लरस झरना शुरू होजाता है। उस से आमाशय के मांस की अन्य सेलें कुछ जलन अनुभव करती हैं। वही भूख है। रस जितना ही वेग से झरे– भूख की ज्वाला उतनी ही तीव्र होती है। यदि बहुत देर तक रस झरने के बाद भी–भूख लग आने के बाद भी–भोजन न मिले, तो–वह रस बेकार ही आगे आंतों में को चला जाता है और नया बनना बन्द होजाता है। तब हम कहते हैं कि "भूख मारी गई"। वह केवल अम्लरस आंतों में अगर मल या शेष आहार चिपका हुआ हो तो उसे छुड़ाकर भोजन-पाचन में मदद देता है, परन्तु यदि आंतें खाली ही पड़ी हों तो वह आंतों की दीवार में रहने वाली–पेप्सीन जनक पाचन-ग्रंथियों ( *Peptic glands* पैप्टिक ग्लेंड्स ) को हानि पहुंचाता है।

(७३४) यह रस दिन भर में लगभग २॥–२ सेर झरता है और एक बार के भोजन में ६०–७० तोले आ मिलता है। भोजन से पहले जितनी देर तक स्वादिष्ट पदार्थ दिखाई देते रहें, यह रस झरता रहता है और उतनी ही आसानी से भोजन पचता है। विशेषतः यदि उस समय हम किसी उतावली या चिंता-शोक में न होकर आनन्दित हों। एक कुत्ते को कुछ मांस खिलाया गया और दूसरे उसी क़द और भूख वाले कुत्ते को बड़ी देर तक बोटी दिखा दिखाकर खिलाया गया तो वह, पहले वाले कुत्ते की अपेक्षा चार गुना मांस पचा गया। इसका सिद्धांत चाहे जाना हो या नहीं परन्तु इस बात का अनुभव करके ही कई जगह रिवाज रखी गई है कि दावत खूब देर में जीमी जाती है। भोजन ( दस्तरख्वान या मेजों पर ) सजा रखा रहता है और उस बीच में घंटे–आध घंटे तक लोगों के भाषण–मजाक

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

आदि होते हैं, फिर धीरे-धीरे बातें करते हुए ही भोजन पाया जाता है। इसी प्रकार बारातों की दावतों में—जो प्रायः गरिष्ठ पक्वान्नों से भरी होती हैं—भोज्य-पदार्थ १०-२०-५०-१०० जितनी भी तरह के हों, बारी-बारी से धीरे-धीरे परोसे जाते हैं। फिर-प्रायः महिलाओं द्वारा मौजीले गाने गाये जाते हैं। जिनमें उन पदार्थों के स्वाद भी वर्णन किये जाते हैं इसे "पत्तल-बांधना" कहते हैं। इसके बाद वह पत्तल पुनः पुरुषों द्वारा कुछ गायन होकर खोली जाती है और इस १०-२० मिनट की प्रतीक्षा के बाद—खूब 'लालारस' और 'जठर रस' बन चुकने पर भोजन शुरू होता है। हां, यह विलंब घंटा भर या अधिक नहीं होना चाहिये।

आमाशय में भोजन का मंथन २-३ घंटे तक-कभी-कभी कड़े और मोटे भोजन का ४ घंटे तक भी होता रहता है। यदि हम दांतों से पूरा काम न लें, चबाने में उतावली कर जायं तो उसकी कमी पूरी करने को आमाशय घंटों घिसाई करता है और कभी-कभी उन टुकड़ों से घायल भी होजाता है। इसीलिये "दांतों का काम — आंतों पर नहीं छोड़ना चाहिये।" दांतों से खूब चबावें तो 'लालारस' भली-भांति आ मिलता है और जीभ को भी बहुत देर तक स्वाद चखने का अवसर प्राप्त होता है, अतः भोजन को खूब चबा-चबा कर — लगभग हर ग्रास को ३२ बार चबाकर ही निगलना चाहिये।

## ग्रहणी—

(७३५) आमाशय में भोजन खूब घुट चुकने के बाद ही नाजुक आंतों में जाने पावे इसके लिये भगवान ने आमाशय के दक्षिणांश पर एक संकोचनी पेशी लगादी है। वह द्वार बन्द रखती है और जब आहार घुट जाता है तब ही उसे अन्दर जाने देती है। इस पेशी के द्वार लगे रहने वाले पर्दे को 'ग्रहणी' कहते हैं। यदि हम अनियमित आहार-विहार रखें तो यह पर्दा ठीक काम नहीं कर पाता और तब बिना घुटा आहार भी इसके पार चला जाने लगता है। वह आंतों में ठीक परिपक्व नहीं होता अतः उसमें से पोषक रसों का ग्रहण भी ठीक नहीं होपाता। फलतः मनुष्य रसहीन और कमज़ोर होने लगता है। दूसरे वह पदार्थ मल-रूप में निकलता है तब भी अपक्व रहने के कारण कभी पतला पतला अंश बह जाता है, कभी गाढ़ा छूंछा निकलता है, बदशकल होता है और घोर बदबूदार। इस रोग को 'ग्रहणी' — *Sprue* स्प्रू — कहते हैं। अतिसार *Diarrhea* डायरिया भी इसी का भाई है। पुराने होने पर यही 'संग्रहणी' कहलाता है और बड़ी कठिनता से आराम होता है। यह प्रकट होते ही, पथ्य सुधारें — उसे ठीक समय पर नियमित करें और आमाशय को बल देने वाला 'तक्र' ( छाछ-मट्ठा ) सेवन करना शुरू करें।

(७३६) जिस समय आमाशय भोजन घोट रहा होता है उस समय शरीर का रक्त-प्रवाह, ऊपर को अधिक होजाता है ताकि आमाशय पूरा अम्लरस छांट सके और उसकी पेशियां भी बल पाती रहें। इस कारण दिमाग़ और हाथ-पैरों की ओर रक्त का वेग कम होजाता है और कुछ आलस्य एवं शीत बोध होता है। इसीलिये भोजन के बाद कुछ देर तक विश्राम—या ऐसा कार्य ( भ्रमण आदि ) करना उचित है जिसमें दिमाग़ पर कोई जोर न पड़े। दिन में आगे घूमने-फिरने का काम करना होता है अतः भोजन के बाद लेट लेना चाहिये और रात में आगे सोना-लेटना ही होता है अतः 'भोजन के बाद थोड़ा टहल

आना बताया है। भोजन के वाद इतनी देर दाहिनी करवट लेटें जितनी देर में आराम से १६ सांसें ली जाती हैं ताकि आहार अन्ननलिका में से आमाशय में न लौटे। फिर ३२ सांसें लेने के समय तक चित्त लेटें ताकि आहार आमाशय में घुटना शुरू होजाय और फिर ६४ श्वास या अधिक के समय तक आराम के साथ बायीं करवट लेटें ताकि भोजन घुटाई होते बीच में ही ग्रहणी से पार न जाने लगे। इसके बाद चाहे जिस करवट से आराम करे परन्तु बायीं करवट सर्वोत्तम है। कहा है :—

कोऽरुक् कोऽरुक् कोऽरुक्—

"हितभुङ् मितभुग् जितेन्द्रियो नियतः।

सोऽरुक् सोऽरुक् सोऽरुक्—

शतपदगामी च वामशायी यः॥"

आचार्य धन्वन्तरि ने मार्ग में एक पक्षी की आवाज़ सुनी – कोऽरुक् ३, तो समझा कि यह मुझ से पूछता है कि– "निरोगी कौन है?" आपने उसी समय उत्तर दिया—

"निरोगी वह है जो—

१–हितकारी पदार्थ ही खाता है—

२–आवश्यकता से अधिक नहीं खाता,

३–अपनी रसना और अन्य इन्द्रियों को वश में रखता है,

४–खान-पान, सोना- काम करना सब नियत समय की पाबन्दी से निभाता है, जो कमसे कम सैकड़ों क़दम अवश्य टहलता है और जो बायीं करवट शयन करता है।"

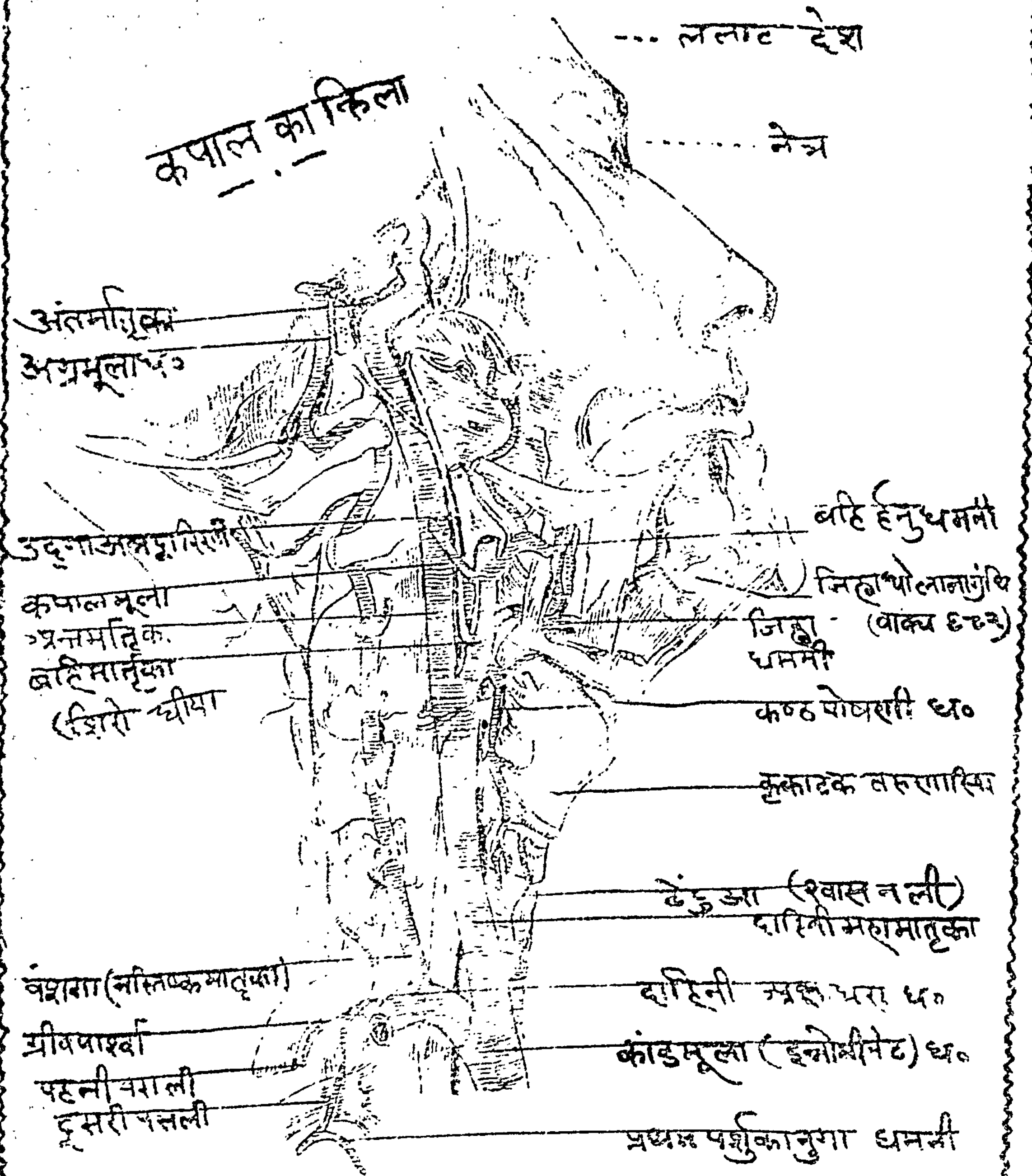
भोजन के बाद एक या आधा तोला गुड़ खाना या पाव– आधसेर गन्ने का रस चूसना आमाशय के अम्लरस की मदद करता है। उसके बाद मूली खाना भी इसलिये लाभदायक है कि उसका रस पाचक है और चरपरापन उत्तेजना देकर आमाशय से रस अधिक झराता है। पाचक गोलियां भी यही काम करती हैं।

कभी-कभी आमाशय में दुष्ट व्रण (*Cancer* कैंसर) होजाता है। उसकी जलन से घड़ी-घड़ी भर बाद झूठी भूख लगती हैं और खाने के बाद ही दर्द या दाह होती है। इसका ध्यान और निदान करके यत्नपूर्वक चिकित्सा करें।

## पक्वाशय [ *Duodenum* ड्यूओडीनम ]

(७३७) इसे द्वादशांगुल अन्त्र भी कहते हैं। छोटी आंतें २२-२३ फ़ीट लम्बी होती हैं, उनका यह सबसे छोटा भाग है। परन्तु छोटी आंतों की मोटाई ३ इंच होती है और इसकी ३॥-४ इंच। इतनी लंबी आंतें पेट में गेंडली मारे - आड़ी टेढ़ी पड़ी रहती हैं और *Mesentery* मैसेंटरी अर्थात् अन्त्रधारक कला नामक झिल्ली से चिपकी रहती है। यह पक्वाशय उसके शुरू में ही, यकृत के बायें सिरे के आगे-आगे रहने वाला चूल्हे की भांति कुछ गोलाकार घूमता हुआ भाग है। इसके प्रारम्भ में लगी ग्रहणी से छोड़ा जाने पर आहार रस इसीमें आजाता है। यहां पित्ताशय और अग्न्याशय (जिनका वर्णन आगे आवेगा) से आई हुई एक-एक नली मिलाकर– एक ही छिद्र द्वारा इसमें होकर लगभग १-१। सेर "पित्त" रस और थोड़ा-बहुत 'अग्नि रस' आहार में आपड़ता है। इससे वह एकदम खौल जाता है। चिकनाई के कणों के मुलायम होचुके खोल इससे फट जाते हैं

## दाहिनी अन्तः शिरोधीया धमनी (अन्तर्मातृका) का क्षेत्र




दोनों ओर की काण्डमूला धमनियां महाधमनी की महराब से निकलती हैं। (वाक्य ५१५—२५)

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

और वे कण पिघलकर आहार रस में घुल जाते हैं। खांड और मांड के कण भी घुल जाते हैं और २०-२५ मिनट में सब भोजन-दूध जैसा सफेद 'आहार रस' ( *Chyle* काइल ) बन जाता है। फिर वह आगे छोटी आंतों के दूसरे भाग क्षुद्रांत्र ( जेजुनम *Jejunum* ) में चलता है जो २०-२१ फ़ीट तक ताव-पेच खाती हुई लम्बी सुरंग है।

उपरोक्त पित्तरस और उसके आशय का वर्णन आगे यकृत के साथ आवेगा। अग्निरस और अग्न्याशय क्लोम पर यह लेख दर्शनीय है :—

# पाचक पित्त और उसका स्थान अग्न्याशय।

[ ले०— श्री पं० विश्वनाथ जी द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य, ]

श्री ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत ।

(७३८) अग्न्याशय शरीर में का एक बहुत बड़ा उपादेय अङ्ग है। पाश्चात्य शरीर के ज्ञाता प्रत्यक्ष क्रियाओं के द्वारा इसे देख चुके हैं; तथा इसके ऊपर विचार भी कर चुके हैं किन्तु प्राचीन आयुर्वेद के शारीर वर्णन में कहीं भी इसका स्पष्ट उल्लेख एक स्थान पर पूर्ण रूप से नहीं पाया जाता। अग्न्याशय के सम्बन्ध में यदि आयुर्वेद की पुस्तकों की सम्मति प्राप्त की जाय तो वह ठीक वैसी ही है जैसा कि अक्षरशः पाश्चात्य-शारीर बतलाता है। शारीर-रचना, कार्य, रस तथा वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक बातें सब ज्यों की त्यों मिलती-जुलती हैं। उनका वर्णन हम पाठकों की सेवा में अर्पण करते हैं। इस वर्णन में इन क्रमों से विचार होगा। यथा:- शारीर-रचना, स्थानस्थिति, उत्पन्न द्रव या अग्निरस, अग्निरस का कार्य इत्यादि :—

शारीर-रचना – यह शरीर के मध्य में रहती है। यह ग्रन्थी तिल के आकार की होती है।

'पाचकं तिलमानं स्यात्'

इसका अर्थ यह उपर्युक्त ही है। इसमें छोटे छोटे तिल ( *Til seed* ) के आकार की बहुत सी ग्रंथियां होती हैं। हजारों तिल के प्रमाण की ग्रथियों से बनी हुई इस बड़ी ग्रंथी की आकृति प्रायः तिल के बीज की बढ़ाई हुई आकृति से बहुत कुछ मिलती जुलती है, अतः 'तिलमानं' लिखा है। तिलमानं का यह अर्थ नहीं है कि एक तिल का जो आकार है वही इसकी लम्बाई-चौड़ाई है। इसको स्पष्ट करने के लिए हम अन्यत्र से इसे उदाहरण देते हैं। महर्षि सुश्रुत सूत्र-स्थान, अध्याय २१ में वात-पित्तादि के स्थान का निर्देश संक्षेप में करते हुए स्पष्ट लिखते हैं।

"तत्र समासेन वातः श्रोणि गुद संश्रयः, तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः, पक्वामाशय मध्यस्थं पित्तस्य; आमाशयः श्लेष्मणः ॥"

अर्थात्–पित्त का स्थान, पक्वाशय के मध्य में है।

अन्यत्र वर्णन पूरे स्थान का आता है। जैसे:- आमाशय में आये हुए अन्न को इसके नीचे का

पाचक पित्त ( अग्न्याशय ) उसी प्रकार पकाती है जैसे पात्र के बीच में रखे हुए चावल को अधोस्थित अग्नि पकाती है। स्थाली के नीचे की अग्नि का उदाहरण तिल के बराबर वस्तु से देना यह कैसा सिद्ध हो सकता है। उदाहरण सदृशतम वस्तु मेंहोता है। अतः यदि आमाशय के बराबर न समझा जावे तो कुछ छोटा ही सही, किन्तु तिल के बराबर नहीं है। यदि इसको देखा आवे तो इसका आकार तिल की तरह बहुत सी ग्रंथियों से बनने पर भी तिल की तरह ही है। पाश्चात्य मत अधोलिखित है।

(७३६) "अग्न्याशय ( *Pancreas* ) की आकृति पिस्तौल की तरह होती है। इसका दाहिना भाग मोटा होता है और बांया भाग पतला होता है। मोटे भाग को शिर और पतले को पुच्छ कहते हैं। शिर और पुच्छ के बीच में ग्रंथि का गात्र होता है। शिर पक्वाशय ( क्षुद्रांत्र का प्रारंभिक द्वादशांगुल भाग या ग्रहणी नाड़ी ) के घेरे में रहता है। पुच्छ का शिर प्लीहा से मिला रहता है। इसके सामने अनुप्रस्थ वृहत् अन्त्र ( *Large Intestine* ) और आमाशय रहता है। इसके पीछे अधोगा महाशिरा, महाधमनी और बायें उपवृक्क का कुछ भाग रहता है, इसका भार ६० से १०० माशे तक होता है। लम्बाई ५-६ इंच तक होती है। यह बहुत सी छोटी-छोटी ग्रन्थियों के समूह से बना हुआ है। ( *Insulin* ) रस जो इस ग्रन्थि में बनता है, वही पाचक रस है। ग्रंथी के विविध भागों से पतली-पतली नलियां निकलती हैं जिनको अग्निस्रोत कहते हैं। इन स्रोतों के मिलने से एक बड़ी नली बन जाती है। वह अग्नि-प्रणाली कहलाती है। इस प्रणाली का आरंभ ग्रंथि के पुच्छभाग की तरफ से होता है और अन्त शिर में होता है। इस प्रणाली का अधिक भाग ग्रन्थि के अन्दर ही रहता है जो बिना ग्रन्थि के चीरे नहीं दिखाई पड़ती। ज्यों-ज्यों प्रणाली शिर के निकट पहुंचती है त्यों त्यों स्रोतों के जुड़ने से बड़ी होती जाती है। शिर में पहुंचकर प्रणाली ग्रन्थि से बाहर आती है और पित्तप्रणाली के साथ-साथ पक्वाशय तक पहुंचती है। दोनों दीवार में घुसती हैं और दोनों का रस एक ही छिद्र द्वारा पक्वाशय के भीतर पहुंचता है" (हमारे शरीर की रचना भाग २) 'तिलमानं' कहने का आशय इस अङ्ग की रचना देखकर स्पष्ट समझा जा सकता है। स्थान जैसा ऊपर कथित है। सुश्रुत के "पक्वाशय मध्यस्थं" इस वर्णन से स्पष्ट होता है। और भी यह श्लोक है।

ऊर्ध्वमग्न्याशयोनाभे र्मध्यभागे व्यवस्थितः।
तस्योपरितिलं ज्ञेयं, तदधः पवनाशयः॥
( भाव प्र० )

अर्थात्—शरीर के मध्यभाग में नाभि से ऊपर को अग्न्याशय है और इसपर ही तिल का स्थान है। इससे नीचे वायु का स्थान मलाशयादि हैं। इसका पोषक अर्थ करने वाले शब्द वाग्भट्ट भी कहते हैं और स्पष्ट स्थान उल्लेख द्वारा अग्नाशय ही पाचक पित्त रस का स्थान बतलाते हैं। यथा—

पाचकं रंजकं चापि, साधका लोचकं तथा।
भ्राजकंचेति पित्तास्य, नामानि-स्थान भेदतः॥

अग्न्याशये, यकृत, प्लीहा, हृदये, लोचनद्वये।
त्वचि सर्व शरीरेषु, पित्तं निवसति क्रमात्॥
( वा० एवं भाव० )

अर्थात्—पांच पित्तों में से पाचक का स्थान अग्न्याशय में है। जिसका आकार 'तिलमान' है। तिल शब्द अन्त में जाकर रूढ़ि बन गया है। जैसा

कि ऊपर कथित श्लोक "ऊर्ध्वमग्न्याशये" इस श्लोक में "तस्योपरितिलंज्ञेयं" से स्पष्ट है। अर्थात्- तिलाकार वस्तु के लिये 'तिल' ऐसा प्रयोग हुआ है।

इसका वर्णन पूर्णतया पाश्चात्य शारीर विवरण से मिलता जुलता है। हां, उसकी लम्बाई-चौड़ाई का पैमाना कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

रस-इस ग्रंथि से एक प्रकार का रस जो क्षारीय होता है बनता है व पक्वाशय में आकर अन्न पचते वक्त मिल जाता है। यह तीव्र रस पाचक तथा पित्त की वसा विश्लेपक शक्ति को भी बढ़ाता है। पक्वाशय में मिलने के कारण कई वैद्य पाचक पित्त का स्थान भी पक्वाशय ( *Duodenum* ) ही लिख गये हैं। जो कार्य-कालिक पित्तावतरण के हिसाब से तो ठीक है क्रिन्तु स्थान भेद से असत्य है। यथा:-

"पक्वाशय मध्यगं"

किन्तु शारीर के आचार्य सुश्रुत कहते हैं —

"पक्वामाशय मध्यं पित्तस्य"

अर्थात्-पक्वाशय ( *Small Inetstine* ) और आमाशय के बीच में पित्त का स्थान है इससे इस ग्रंथि के स्थल का निर्देश स्पष्ट होजाता है। पक्वाशय के द्वादशांगुल भाग को ही पाचक का स्थान मानते हैं, इसकी पुष्टि में और देखिए।

आमाशयादधः, पक्वाशयादूर्ध्वंतु या कला।
ग्रहणी नामिका सैव, कथितः पाचकाशयः॥

यह वाग्भट्ट का श्लोक आमाशय से नीचे और पक्वाशय से ऊपर ग्रहणी नामक भाग (*Duodenum* ) को ही पाचक पित्त का स्थान बतलाते हैं। यद्यपि यह वर्णन कार्यानुमेय होने से गलत नहीं कहे जा सकते किन्तु स्थल निर्देश में अवश्य ही भयावह होते हैं। यह ऊपर के शारीर-वर्णन से स्पष्ट है कि अग्नि-ग्रंथी का रस पित्त प्रणाली के साथ ही मिलकर के पक्वाशय के प्रारम्भिक भाग में जाता है। इसकी पुष्टि शारीर वर्णन में कहीं स्पष्ट रूप में प्राप्त नहीं होती किन्तु इस श्लोक से स्पष्ट है यथा:—

तत्रस्थमेव पित्तानां, शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति वलदानेन, पाचकं नामतन्स्मृतम्॥

"शेषाणामप्यनुग्रह" "वलदानेन" इसका अर्थ स्पष्ट ही है, अनुग्रह वह भी वलदान पूर्वक, भला यह तो तभी हो सकेगा जब कि वह अन्य से मिले। अतः पित्तस्रोत से मिलना स्पष्ट बतलाता है।

कार्य :- पचत्यन्न विभजते, सार किट्टौ पृथक् तथा॥
तत्रस्थ .................. पाचकं स्मृतम्॥

यह पाचक पित्त ( अग्निरस ) पक्वाशय में आकर के चतुर्विध अन्न ( चर्व्य, चोष्य, पेय, लेह्य, या- १ मांस जातीय ( *Protein* ) २-मेद जातीय ( *Fat* ) ३-शालि जातीय ( *Carbohydrate* ) ४-तथा खनिज ) को विश्लेपित करके, सार भाग (रस रक्तादि) व किट्ट भाग ( मल मूत्रादि ) को पृथक्-पृथक् करता है। 'विभजते' इस शब्द का अर्थ ( *Analysation* ) टुकड़ों-टुकड़ों या खण्डों में करना ही होता है। यह पित्त का कार्य है कि पक्वाशय में आकर वसा जातीय व मांस जातीय वस्तुओं का विश्लेपण होता है। वसा जो आमाशयिक रस से विभक्त होकर तथा मांस जातीय पदार्थ जो आमाशयिक रस द्वारा कुछ पके हुए ग्रहणी में आते हैं तो उनको पित्त विशेष रूप से विश्लेपित करता है और जब पाचक पित्त ( अग्निरस *Pancreatic juice* ) का साथ पाती है तो इस की शक्ति और भी तीव्र होजाती है। इस बात को

प्रत्येक पाश्चात्य विद्वान स्वीकार करते हैं। इससे "बलदानेन अनुग्रहं करोति" स्पष्ट ही मालूम होता है। इस पाचक पित्त में हर एक पदार्थ को विश्लेषण करने की शक्ति होती है। यह विशेष पाचक रस के स्वरूप में वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। यथा :—

१—मांस जातीय विश्लेषक –( *Tripsin* ट्रिप्सिन ) इसका वही कार्य है जो आमाशयिक रस में के पेप्सीन का अर्थात् मांस जातीय पदार्थ छोटे-छोटे अणु होकर घुलनशील बन जाते हैं।

२—शालि जातीय विश्लेषक (*Amylopsin* अमाइलोप्सिन) – इसका वही कार्य है जो लालारस–थूक—( *Saliva* ) का है अर्थात् श्वेतसार प्रवर्त्तक है। इसकी सहायता से शालिजातीय पदार्थों से शर्करा ( यवौज ) बन जाती है।

३—वसा विश्लेषक ( स्टीयप्सिन )—इसकी क्रिया से वसा के भाग छिन्न-भिन्न होजाते हैं।

४—कुछ लोगों के विचार से यह अग्निरस दुग्ध का भी पाचक है।

परन्तु इसकी इस प्रकार विश्लेषक शक्ति होती है कब, जब उसे अनुग्रह के लिये अन्य पित्त ( लाला, जठर रस, पित्त व पक्वाशयिक रस या आंत्र-रस – पेप्सिन ) मिल जावें। इसीसे कहा है "बलदानेनानुग्रहं करोति" यह कितना संगतार्थ तथा पाश्चात्य विज्ञान से मिलता जुलता है। बहुत से नये ख्याल के भाई पित्त का स्थान निर्देश गलत तथा भेद भी गलत ही समझते हैं। उनको आवश्यक है कि शास्त्र का अभ्यास करें–मनन करें। प्राचीन व्यवच्छेदकों के मत को अच्छी तरह समझें।

अब देखना है कि क्या पाश्चात्य मत से भी सूक्ष्म व स्थूल भाग ( सार व किट्ट ) का विभाजन इस पित्त के द्वारा होता है या नहीं ?

यह कार्य जैसा कि ऊपर कह चुके हैं यथार्थ है। अर्थात् मुख व आमाशय से लेकर मलाशय में मल रूप आने के पूर्व आहार अदार्थ को लाल ( *Saliva* ) आमाशयिक जठर रस ( *Gastric Juice* )अग्नि-रस ( *Pancreatic juice* ) पित्त ( *Bile* ) व आंत्रीय ( क्षुद्रांत्रीय ) रस के साथ ही गुजरना पड़ता है। इस सम्मेलन में प्रोटीन ( मांस जातीय पदार्थ ), वसा व शालि-जातीय पदार्थ ( कर्बोज ) अपनी स्थिति बदल कर आंतों द्वारा शोषित होकर रक्त बन जाते हैं और रक्त की प्रोटीन वसा का स्वरूप धारण करते हैं। यह कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

तब पाचन पित्त के लिये जो ऊपर वाला शास्त्रोक्त श्लोक-प्रदर्शन दिया गया है वह कितना उपादेय व शारीर कार्य-विज्ञान ( *Physiology* ) से मिलता जुलता है यह प्रत्यक्ष है।

सुश्रुत 'पाचक-अग्नि' का अर्थ समाहार में भी लेते हैं। उनका विचार आमाशय से लेकर पक्काशय तक होने वाले पाचन कर्म-प्रधान रस ( आमाशयिक रस, पित्त, व अग्निरस ) पाचक रस से है। यह व्यापक व उचित है यथा—

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण,पक्वामाशय मध्यस्थं पित्तं, चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोष, रस, मूत्र, पुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या, शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा "

( सु० सू० अ० २१ )

इसका व्यापक अर्थ गद्य में होने से स्पष्ट है। और पूर्वकथित वाग्भट्ट का मत ठीक इसी का श्लोकानुवाद है। जो स्पष्ट होते हुए भी संकीर्ण है व केवल पाचक पित्त का बोध कराता है।

आग्न्याशय, पक्वाशय, ग्रहणी इत्यादि का नाम शास्त्रों में जरूर है किन्तु इनका स्थल निर्देश सर्वत्र पूर्ण नहीं प्राप्त होता। यदि इस प्रकार विवेचनायें की जावें तो शारीर संकलन बहुत उपादेय व आयुर्वेदोक्त शब्दों से ही हो सकेगा।

इसके वर्णन में जो त्रुटियां हों उन्हें विद्वान पाठक सूचित करने की कृपा करेंगे। उस पर सहर्ष विचार किया जावेगा।

(७४०) पित्त जिस आहार रस को खौला चुकता है उसको हर भोजन के समय २-३ छटांक (दिन भर में ७-८ छटांक) आने वाला अग्निरस पाचन करता है। उस रस में तीन खमीर होते हैं, एक- ऐमाइलोप्सिन (*Amylopsin*) जो लालारस की भांति भोजन के मांड को खांड बना देता है ताकि वह घुलने वाला होजाय। दूसरा-ट्राइप्सिन (*Trypsin*) जो पौष्टिक नत्रजनी तत्वों (प्रोटीड) को तोड़कर पेप्टन (*Peptone*) बना देता है। ताकि घुल-मिलकर शरीर में ग्रहण होसकें। जठर रस भी यही क्रिया करता है, परन्तु वह आहार रस को अम्ल (खट्टा) बनाकर पचाता है और यह अग्निरस तब पचाता है जब आहार रस में पित्त आदि मिलने के बाद वह क्षार (खारा) हो चुकता है। इस अग्निरस की क्रिया से चिकनाइयों का मंथन होकर पतला साबुन सा बन जाता है और वह साबुन शेष वसा कणों को भी गलाकर आंतों में ग्रहण होने योग्य बना देता है। तीसरा खमीर-इरेप्सिन (*Erepsin*) प्रोटीन से बने हुए पेप्टोन को और भी तोड़-फोड़ कर शीघ्र घोल देता है। इसके बाद आहार का दूधिया घोल आंत की सुरङ्ग में प्रवेश करता है।

# लघ्वांत्र (छोटी आंत)

**[ ले०- डा० गणपतिचन्द्र केला ]**

(७४१) छोटी आंत का पक्वाशय के बाद ७ फ़ीट भाग 'जेजुनम' (*Jejunum*) कहाता है। और उसके बाद की १२ फ़ीट गेंडलियां 'इलियम' (*Ileum*)। इनकी बनावट अलग चित्र में समझाई है। आमाशय की भांति ही इसमें भी उदरधराकला के अन्दर आंतों की लम्बाई के रुख में पेशी सूत्र बिछे रहते हैं। फिर २ तहें चौड़ाई के रुख में गोल-गोल डोरी जैसी पेशी सूत्रों की होती हैं। उनके भी अन्दर एक श्लैष्मिक (रसभरी) झिल्ली चिपकी होती है। आमाशय की भांति आंतों की अन्दरूनी दीवार और भी अधिक सिकुड़नोंदार होती हैं और उसमें जगह-जगह कुछ गिल्टियां होती हैं जो 'अंत्ररस (*Intestinal juice*) नामक श्लेष्मा, रक्त में से ले-लेकर आहार रस में टपकाती रहती हैं। इन्हें "क्रिप्ट" (*Crypts*) या लिबरकून की ग्रंथियां (*Glands of Liebarkuhn*) कहते हैं। इस रस में इनवर्टिन (*Invertin*) नामक खमीर होता है, जो ईख या अंगूर की शर्करा (खांड) को - शरीर में ग्रहण होने योग्य - "ग्लूकोज़" बना देता है।

(७४२) आमाशय की अपेक्षा आंतों में कुछ और भी चीजें होती हैं वे हैं एक तो ग्राहक-अंकुर (*Villi* विली) ये एक इंच के अष्टमांश या सिर्फ चालीसवें भाग जितने छोटे रोम-रोम से होते हैं। जो घने-घने लगे होने के कारण आंतों की दीवार मखमल जैसी रोयेंदार प्रतीत होती है। इन अंकुरों से भी छोटी, बीच-बीच में, लसीकानलियां (*Lymph glands* लिंफ ग्लेंडस) होती हैं, जो श्लेष्मा बना-बना कर आंतों की दीवार को तर रखती हैं और अंत्ररस टपकाती हैं। इन लसीका नलियों से भी घिरे हुए—छोटे-छोटे श्लेष्मपिंड (*Lymph Nodules*) होते हैं। इन पिण्डों में १-२ श्वेताणु (*Leucocytes*) बन्द रहते हैं, जो आंतों को रोगाणुहीन करते रहते हैं। [ अलग चित्र में देखें ]

इस प्रकार २०-२१ फीट तो आंतों की लम्बाई होती है। फिर उसकी आंतरिक दीवार सिकुड़नदार होने के कारण उसकी सतह और भी ३ गुनी बढ़ जाती है। उस पर भी तमाम में ये मखमली रोयें (ग्राहकअंकुर) होते हैं और इनअंकुरों की चारों ओर की दीवारों पर छाई हुई सेलें आहार रस में से पोषक तत्व ग्रहण करते हैं। इससे पोषक रस ग्रहण करने वाली सतह कई सौ — नहीं, कई हजार फीट लम्बी होजाती है। उसमें प्रति इंच सैकड़ों-हजारों ही जीवाणु – हमारे आहार रस में से एक-एक कण चुनकर रस ग्रहण करते हैं। वे आमतौर से घृत-तेल दुग्ध आदि स्निग्ध-पदार्थों का जो दूधिया घोल बन जाता है, उसे ही चूसते हैं। चूस करके इन अंकुरों के अन्दर छोड़ते समय जीवाणु चिकनाई को फिर छोटे-छोटे कणों में ढाल देते हैं। वह रस उन अंकुरों से छोटी-छोटी रसायनियों में जाता है। उनसे बड़ी रसायनियां बनती हैं और अन्त में वे शरीर से संग्रह करके लसीका लाती हुई महारसायनी (*Thoracic duct* थोरेसिक डक्ट), में मिलजाती हैं। वह उस रस को भी लेती हुई गले के पास उत्तरा महासिरा में खुलकर रक्त में जा मिलाती है। इस प्रकार दूध की चिकनाई, मक्खन और घृत तथा शीघ्र पचने वाले तैलों का भी स्नेह सीधा 'रस' बनकर रक्त में जा मिलता है और शरीर भर में शीघ्र पहुंचकर बल देता है। कहा है :—

"सद्य शक्ति करोपयः"

बाकी जो पौष्टिक पदार्थ (प्रोटीन), मधुरांश कर्बोहाइडेट) और मांड आदि खाये थे - वे आहार रस में से आंतों की झिल्ली द्वारा चूसे जाते हैं। उस झिल्ली के उस पार आंतों का पोषण करने वाला रक्त बहता होता है। उसमें शर्करा आदि का अंश कम होता है। प्रकृति का नियम है कि यदि दो घोल पास-पास हों, उनके बीच में सिर्फ पतली झिल्ली हो, और उन घोलों में एक में कोई चीज अधिक हो तो वह धीरे-धीरे दूसरे घोल में जाने लगती है और यह लेन-देन तब तक होता रहता है जब तक दोनों ओर का घोल समान न होजाय। इसी प्रकार आहार रस में पौष्टिक तत्व घने होने के कारण वे आंतों की श्लैष्मिक कला के पार रक्त में जाने लगते हैं। आहार रस २० फीट आंतों की यात्रा तय करे उतने समय—५-६ घंटे – में अधिकांश तत्व चुस जाते हैं। रक्त उन तत्वों से युक्त होकर – आंतों से आगे बढ़ता (हृदय को वापिस लौटता) है तब आंतों की प्रतीहारिणी-सिरायें उसे 'यकृत' में पहुंचा देती हैं। वहां उस रस का पाचन होकर 'रक्त' कैसे बनता है, यह आगे आवेगा।

(७४३) आंतों की दीवार की सेलें सजीव होती हैं अतः वे अन्धा-धुन्ध सब चीजों को नहीं

चूसतीं बल्कि शरीर में जिस तत्व की जितनी जरूरत हो उसे उतना ही अधिक ग्रहण करती हैं। मधुरांश की जरूरत न हो तब भी वे उसे ग्रहण कर लेती हैं, क्योंकि हम चाहे जब ज्यादा परिश्रम करने लगें तो उसकी विशेष जरूरत पड़ सकती है। इसका भण्डार यकृत में संचित रहता है। नत्रजनीय पदार्थ प्रोटीन उतने ही लिये जाते हैं जितने आवश्यक हों। चिकनाई ग्रहण करने वाले ग्राहक-अंकुर (रोयें) भी जरूरत से कुछ ही अधिक स्नेह चूसते हैं, शेष छोड़ देते हैं। वह स्नेह आहार रस में साबुन सा चिपचिपा होजाता है अत: शोषण से बच रहे तो आगे आंतों के रोमों में चिपक जाता और उन्हें जकड़ता है। इससे आंतें काम करने – नया रस चूसने – में असमर्थ होने लगती हैं। इसलिये जरूरत से ज्यादा चिकनाई खाना भी हाजमा मार देता और हानि करता है। उस चिकनाई के जमा होने पर आमाशय का अम्लरस और पित्त या अग्नि-रस का खारापन मिलकर खट्टी खारी डकारें आने लगती हैं। ये बताती हैं कि आंतें चिकट गई हैं और मदद मांगती हैं। उस समय नया भोजन न करें, केवल फल या मधुरांश मात्र ग्रहण करें और सोडा या नमक का पानी गरम करके पियें। उसमें नीबू निचोड़ सकते हैं। यह जल उस चिकटी हुई चिकनाई को आंतों में से घोल छुड़ाकर आगे को बढ़ा देता है। तब आंतें फिर नये उत्साह से काम करने– पोषक रस चूसने– लगजाती हैं। पहिले बता आये हैं कि आंतों में जोंक की भांति पीछे से सिकुड़ने और आगे को फैलने की एक लहर चलती रहती है जिसे आंत्रिक जलौका-गति (पैरीस्टालसिस *Peristalsis*) कहते हैं। इस गति के कारण आहार रस अन्त्र की सुरंग में धीरे-धीरे आगे को ही बढ़ता जाता है।

## भोजन पर मन का प्रभाव–

(७४४) यह भी एक बहुत महत्वपूर्ण बात है कि भोजन पचने और ग्रहण होने में हमारे मन का कितना असर पड़ता है। विज्ञान इस विषय में अब तक बहुत कम शोध कर सका क्योंकि मन की क्रिया जीवित अङ्ग में ही दीखती है – चीर-फाड़ के बाद नहीं। फिर भी जो जाना जा सका है वह आश्चर्यजनक है। जब हम किसी आनन्द या उत्साह में मस्त हों उस समय हमारी आंतों के तमाम ग्राहक अंकुर और जीवाणु भी बड़े उत्साह से अपना काम करते हैं। हम घोर परिश्रम के काम में अगर मनोयोगपूर्वक लगे हों तो हमारी आंतें भारी गरिष्ठ भोजन भी पचा डालतीं और ग्रहण कर लेती हैं। इसके विपरीत यदि हम चिंता-शोक, भय-क्रोध में डूबे हों या कोई ग्लानि भरी हुई हो तो आंतों के जीवाणुओं में भी वही मातम छा जाता है। तब स्वादिष्ट और स्वास्थ्यप्रद भोजन में भी न कुछ मजा आता है और न आंतें ही उन्हें पूरा पचा पाती हैं। लालारस, जठररस, पित्त और अग्निरस सभी थोड़े-थोड़े आते हैं। अंत्र रस तो और भी कम भरता है और इसप्रकार वह भोजन प्रथम तो ठीक पचता ही नहीं। फिर ग्राहक-अंकुर भी उसे बहुत सुस्ती से चूसते हैं। हां झिल्ली के पार रक्त में जो मधुरांश आदि जासकें वे चले जाते हैं। शेष सब तत्वों का आधा भी ग्रहण नहीं होपाता। फलत: आंतों में चिकटता और कब्ज पैदा करता है तथा हाजमे और भूख को मार देता है। इसीलिये कहा है कि "भोजन सदा प्रसन्न मन से करो" अन्न की स्तुति या सराहना करो और उसके बाद भी ४-६ घंटे तक – बने तो दिन भर कोई ऐसा काम न करो जिससे व्यर्थ चिन्ता-भय या क्रोध पैदा हो।

ऐसी घटनायें हो भी जायं तो "बीती ताहि बिसारदे-आगे की सुधि लेह" वाली नीति पर चलना ही सर्वोत्तम है। अन्यथा चिन्ता में समस्त शरीर शिथिल होजाने पर विचार भी ठीक नहीं होता और उचित उपाय भी नहीं सूझता। उसी बीच में कोई मित्र या घटना हमारा ध्यान बंटादे, चित्त कुछ प्रफुल्लित हो-जाय तो चिन्ताजनक समस्या का भी प्रायः बहतर उपाय सूझ जाता है।

इसीलिये अरुचि या बलपूर्वक कराया हुआ भोजन शरीर को बलप्रद नहीं होता। घरों में अच्छे से अच्छा भोजन भी अगर क्लेश के साथ मिले तो उतनी पुष्टि नहीं करता जितनी मनो-विनोद के साथ मिलने वाला रूखा-सूखा। रोगी और निरोगी सभी के पथ्य के साथ—मनोरंजन का विटामिन भी आवश्यक है। पाश्चात्य भोजनालयों में इस अनुभव का खासा उपयोग किया जाने लगा है।

## बड़ी आंत Colon कोलन-

(७०५) छोटी आंत से आगे बड़ी आंत है जो ६–७ फीट लम्बी परन्तु छोटी आंत से अधिक मोटी होती है। यह छोटी आंत में सीधी नहीं जुड़ती बल्कि दाहिनी कोख में एक थैली है जिसमें बाईं ओर से छोटी आंत आजुड़ती है और उपर की ओर बड़ी आंत शुरू होती है। छोटी आंत के जोड़ पर जो द्वार होता है उस पर ऊपर नीचे एक–एक ढीली भिल्ली– ओठों की भांति–लटकती रहती है। इसके कारण आहार रस छोटी आंत से बड़ी आंत में तो वह आता है, मगर पीछा नहीं लौट सकता। इस थैली को अन्त्रसंधि (*Caecum* सीकम) कहते हैं। अंत्र (*Ileum*) और अन्त्रसंधि के मध्यवर्ती इस द्वार को "अंत्रांत द्वार" – कपाट (*Ileo-caecal Valve* इलियोसीकल वाल्व) कहते हैं। इस थैली की तली में एक पूंछ जैसी आंत ४-६ अंगुल लटकती रहती है जिसे अंत्र-पुच्छ (*Appendix* ऐपेंडिक्स) कहते हैं। इसका प्रदाह– एपेंडीसाइटिस – भीषण होता है। किंग ऐडवर्ड इसी रोग से मरे थे। इस पूंछ को निकाल देने से भी कोई खास क्षति नहीं होती।

(७४६) बड़ी आंत पहिले (दाहिनी ओर) तो दो-पौने दो फ़ीट ऊपर तक चढ़ती जाती है। फिर यकृत के सामने से बाईं ओर को मुड़ जाती है और आमाशय के अन्त (प्लीहा) तक आड़ी जाती है और वहां से (बाईं ओर) नीचे को मुड़कर बाईं कोख तक उतर आती है। यहां फिर मोड़ खाकर एक थैली जैसी बन जाती है। बड़ी आंत के ऊपर चढ़ते भाग को "आरोही" (*Ascending* ऐसेंडिंग *colon*) कहते हैं — आड़े भाग को "अनुप्रस्थ" (*Transverse* ट्रांसवर्स) और उतरते भाग को "अवरोही" (*Descending* डिसेंडिंग) बृहदंत्र कहते हैं। आखिरी मोड़ का नाम मलांत्र (*Sigmoid flexure* सिगमोइड फ्लेग्जर) रखा हुआ है। छोटी आंत से बचा हुआ आहाररस जब बड़ी आंत में घुसता है तब उसमें बिना ग्रहण की गई चिकनाई और मांड के अंश होते हैं, प्रायः तमाम नमकीन अंश, जल का अधिकांश, पित्त का शेषांश और आंतों की दीवारों से झड़े हुए मुर्दा जीवाणु होते हैं। बड़ी आंतें तनिक से पोषक तत्व ग्रहण करती हैं, और अधिकांश नमकीन भाग जो जल में घुले होते हैं। ज्यों-ज्यों बड़ी आंतों में आहार रस चढ़ता है, उसका जल तेज़ी से शोषण होता जाता है। फलतः अब-तक जो खूब पतला और भली-भांति बहते जाने

योग्य था-वह आड़ी आंत में पहुंचते-पहुंचते लेही या 'मधु' जैसा होजाता है। वहां फिर कुछ जल चुस जाता है और अवरोही आंत में उतरते समय तक वह लुगदी जैसा बन चलता है। इस अवशिष्ट में अब वही चीजें रह गई जो शरीर नहीं मांगता। पित्तरस जो पक्वाशय में आकर मिला था उसमें बहुत से मलरूप क्षार पदार्थ और टूटे हुए जीवाणु थे, वे इस छूंछे में आरहे हैं और हमारे आहार में जो कुछ अनघुल और अनपच अंश है वह बच रहा है। यह छूंछा ही मल है। उस समय तक इसमें विशेष बदबू नहीं होती। अवरोही आंतों के निचले भाग और 'मलाशय' में सूक्ष्म वनस्पत्याणु (*Bacteria* बैक्टीरिया) उस छूंछे के तत्वों में सड़ांध पैदा करने लगते हैं और वह जितनी देर भी अन्दर रहे उतना ही अधिक सड़ा लेते-दुर्गन्धित बना लेते हैं। इसीलिये भोजन का अवशिष्ट मलाशय में आचुकने के बाद शीघ्र ही मल-परित्याग कर देना श्रेष्ठ है। साधारण भोजन के बाद १२-१४ घंटे में और गरिष्ठ भोजन के बाद १८-२० घंटे में उसका छूंछा बन जाता है। उस समय शौच की हाजत भी होती है और उसे दबाना न चाहिये। जो लोग नियमित समय पर खाते - सोते और काफ़ी श्रम करते हैं उनकी आंतें भी नियमित काम करती हैं तथा ठीक टाइम पर - विष्ठा छूंट आती है। उन्हें प्रायः प्रातः-सायं ही हाजत होती है, जाते ही पाखाना बाहर होजाता है और उसमें अधिक दुर्गन्ध भी नहीं आती।

(७४७) प्रकृति ने तमाम अन्न-प्रनाली इतनी रस-सिंचित बनाई है कि मल भी 'खट्' से निकल जाता है और जैसे गाल-बैल के कहीं चिपका नहीं रहता, ऐसे ही मनुष्य के भी विष्ठा मलद्वार में नहीं लगी रह जाती। फिर भी गुदा प्रक्षालन (आबदस्त) कर लेना उत्तम है। और जब मल चिपका रह जाय, थोड़ा-थोड़ा करके देर में उतरे, जलन-ऐंठन के साथ हो या बहुत कड़ा हो तो यह सब पाचन-विकार के लक्षण हैं। तब तत्काल ही भोजन हलका कर दें, नियमित करें और विकार के कारण तलाश करके दूर करें। मल चिपका रह जाना बताता है कि चिकनाई पूरी पच नहीं सकी। उसमें जलन होना बताता है कि क्षार या (खांड आदि से बन जाने वाले) अम्ल अंश और पित्त की ज्यादती है। गाढ़ा-पतला गड़बड़ आवे तो 'ग्रहणी' झिल्ली का विकार समझें या आमाशय की कमज़ोरी। और, बहुत कड़ा आवे तो आंतों में खुश्की बताता है। शरीर में जल की अधिक जरूरत हो और किसी कारण हम जल थोड़ा पियें तब यह दशा होती है।

(७४८) जल प्यास से भी कुछ अधिक ही पीलेना अच्छा है। हां एकदम २-१ लोटा न पीकर घंटे-घंटे बाद १-१ गिलास करके पीना चाहिये। यथेष्ट जल पीने से आहार रस काफ़ी पतला होकर भली-भांति चूसा जाता और आगे बहता चलता है; जल बड़ी आंतों तक सफ़ाई कर देता है और रक्त की (गुर्दों और त्वचा में) शुद्धि भी अच्छी तरह करता है। दूध इतना पतला पदार्थ है, फिर भी उसके पौष्टिक कण आंतें बड़ी रुचिपूर्वक और तेजी से चूसती हैं। फलतः दूध का अवशिष्ट मल भी बहुत कड़ा- बकरी की सी मेंगनियां - होजाता है। इसलिये दूध पीने के ५-१० मिनट बाद १ गिलास जल भी अवश्य पीलेना चाहिये। शौच जाने से १०-२० मिनट पूर्व २-१ गिलास जल या ठंडाई पीलेना

क़ब्ज़ मिटाने का उत्तम उपाय है। फिर भी यदि कब्ज़ रहे तो हफ्ते में एकाध बार गुदामार्ग से जल चढ़ा-लेना — पिचकारी-( ऐनीमा *Enema* ) या जल-धारा ( *Douche* डूश ) अत्यन्त लाभदायक होता है।

## प्रतिलोम आहार ( रैक्टल फीडिंग )

(७४६) कभी मनुष्य को गुदामार्ग से आहार देने की भी ज़रूरत पड़ जाती है। ख़ास कर जब मुख की दांती भिंची हुई हो, या मुंह आकर-तमाम मुख भर गया हो, कंठ या आमाशय में ऐसा क्षत हो कि खाया - पिया झट क़य होजाया करे, या जब भूख हड़ताल किया हुआ व्यक्ति स्वेच्छा से कुछ भी खाना-पीना स्वीकार न करे तब गुदामार्ग से ऐनीमा की नली लगाकर आहार रस बड़ी आंतों तक पहुंचाया जाता है। उस रस में चिकनाई या प्रोटीन के अंश नहीं होने चाहिये क्योंकि बड़ी आंत में वे ग्रहण ही नहीं होते। दूध सर्वोत्तम है। उसके साथ जल, सोडा या फ्रूट-साल्ट, शंतरों का रस आदि मिलाकर पतला पौष्टिक घोल बना लें और उसकी प्रथम दिन लगभग १ सेर मात्रा चढ़ावें। बड़ी आंत उसमें से थोड़े ही पौष्टिक अंश चूस सकेगी। फिर भी वह आदमी को १ दिन आधार देंगे ही। दूसरे दिन १-१ सेर दो बार चढ़ावे और तीसरे दिन से क्रमशः १॥-१॥, २-२ सेर चढ़ाने लगे, तो पूरा पोषण मिलने लगेगा और आदमी हफ्तों जीवित रखा जा सकेगा। फिर भी प्रोटीन की कमी से वह क्षीण तो होगा ही। कभी-कभी क्षारीय घोल से आंतों की सफ़ाई भी करते रहें। यह भोजन चढ़ाने के एक-आध घंटा बाद जितनी देर तक वह रोगी लेटे रखा जासके रखें। इसके बाद — उठकर बैठते ही—चूसने से बचा हुआ शेष रस - पिचकारी की भांति दस्त होकर निकल जाता है। यह विधान आपत्काल में चोखी मदद देता है।

# यकृत ( Liver लिवर )

(७५०) यह पेट में दाहिनी ओर, नाभि से ऊपर-ऊपर रहता है। दाहिनी ओर की निचली पसलियां इसको सामने और बगल की ओर से ढके रहतीं अर्थात् सुरक्षित रखती हैं। बीच में जहां बाईं दाहिनी पसलियां जुड़कर महराब बनाती हैं वहां यकृत का बायां सिरा - उस महराव के नीचे भी पेट में टटोला जा सकता है, परन्तु वह बहुत गहरा होता है, उसके ऊपर बड़ी आंतों का आड़ा भाग बिछा होता है और नीचे आमाशय तथा पक्वाशय। शरीर में जितने मांसपिंड या ग्रंथियां हैं जिगर उन सबमें बड़ा है और सबसे अधिक गरम रहता है। इसका रंग भूरा और कत्थई-लाल होता है। पीछे को यह पेट की पिछली पेशियों से लगा रहता है।

ठंडाई पीसने के लिये सिल पर जो लोढ़ी रगड़ी जाती है, जिगर की बनावट लगभग वैसी ही तिकोनी होती है। दाहिने पार्श्व में उसका चौड़ा भाग रहता है और नोकीला छोर पेट की महराव के नीचे, मानों लोढ़ी, एक सिरे पर खड़ी रखी हो। पार्श्व से बीच तक लगभग १ फुट होता है। वज़न में युवा पुरुष का जिगर १॥-२ सेर होता है। एक गोल बंधन द्वारा यह नाभि से बंधा रहता है और उदरधराकला का एक पर्त्त इसे ढके रखता है।

स्तनों की घुंडी की सीध में नीचे एक खड़ी दरार यकृत को दो भागों में बांटती है। दाहिनी ओर

घड़ा याम-खंड और वाईं ओर छोटा सा नोक का भाग–वाम-खंड । फिर इन खण्डों में और भी छोटी छोटी दरारें होती हैं जो उन्हें कई हिस्सों में बांटती हैं । इन छोटे-छोटे खण्डों में से एक खण्ड और दाहिने वड़े खण्ड के बीच में – एक लंबी थैली होती है जिसे "पित्ताशय" (*Gall bladder* गाल ब्लैडर) कहते हैं । यह जिगर में पीछे और नीचे की ओर होती है ।

(७५१) यकृत में रुधिर विचित्र तरह से आता जाता है । यह रुधिर रूपी रेलगाड़ी का शेड (विश्रामस्थल), कोयला-पानी लेने का गोदाम, मरम्मत का कारखाना और पोपक-पदार्थ रूपी माल उतारने-चढ़ाने का वड़ा स्टेशन भी है । इसमें रक्त की दो लाइनें आती हैं । एक– आमाशय, और आंतों से आहारस लेकर आया हुआ रक्त लाती है । वह प्रतीहारिणी सिरा (*Portal vein* पोर्टल वेन) है । इसी में तिल्ली से लौटने वाला रक्त भी आता है । इस रक्त पर जिगर के कारीगर जीवाणु अपनी कारीगरी चलाते हैं । दूसरी धारा महाधमनी की यकृत शाखा (*Hepatic artery* हिपेटिक आर्टरी) है, जो यकृत के उन जीवाणुओं का पोषण करने को रक्त पहुंचाती है– अर्थात् उन कारीगरों को भत्ता बांट जाती है । स्मरण होगा कि इसी तरह फुफ्फुसों और गुर्दों में भी दो २ रक्त धारायें जाती हैं । एक तो वहां अशुद्ध रुधिर ले जाती और शुद्ध होने पर लौटा लाती है और दूसरी उन अङ्गों के पोषणार्थ शुद्ध रुधिर ही पहुंचाती है ।

यकृत में घुसकर याकृती धमनी और प्रतीहारिणी सिरा भी–शाखा–प्रशाखाओं में वंटकर अपनी-अपनी 'केशिकायें' फैलाती हैं । तमाम यकृत उन केशिका रगों और उनके बीच-बीच में फंसे हुए जीवाणुओं एवं नलियों से ही बना हुआ है । इन केशिकाओं में बहता हुआ धमनी का रक्त यकृत के जीवाणुओं का पोषण करता है । परन्तु प्रतीहारिणी सिरा की केशिकाओं से जीवाणुओं के आस-पास जो 'रस' रिसता है उसमें मधुरांश और मांड के घुलनशील तत्व ही अधिक होते हैं । यकृत के जीवाणु उनमें से अपने पोषण का लालच नहीं करते–वे शरीर की जरूरत के अनुसार २ प्रतिशत तक मधुरांश तो रक्त में घुल जाने देते हैं– रक्त स्वयं लेलेता है– इससे अधिक अंश को यकृत में ही रोक लेते हैं । वहां वे मांड़ से खांड बना डालते हैं और खांड को भी घनी करके 'मधु' जैसा ग्लाइकोजन (शर्करा-जनक) बनालेते हैं । इस रूप में वह भण्डार में रखी जाती है । अगर कभी आहार रस से मिलने वाली शर्करा की अपेक्षा, ज्यादा मधुरांश की जरूरत रक्त को पड़ जाय तब वह इस मधु-भण्डार में से घोलकर देदी जाती है ।

अब इन दोनों प्रकार की केशिकाओं से एक ही शिरा-जाल रक्त संग्रह करता और 'यकृत-सिरा' (*Hepatic vein*) बनाता है वह अधरा महासिरा (*Inferior venacava*) में जा मिलती है और उसके द्वारा रक्त हृदय के दाहिने अलिंद में जा पहुंचता है ।

## पित्त और पित्ताशय–

(७५२) ये याकृती धमनी एवं प्रतिहारिणी सिरा से आने वाली केशिकायें जो जाल बनाती हैं, उसमें – इन नलियों के बीच-बीच में, यकृत के जीवाणु ३-३, ४-४ क़तारें बनाकर बिछे रहते हैं कि वे जीवाणु आहार में से फालतू मधुरांश लेलेते हैं ।

साथ ही वे रक्त में से विदाही पदार्थों को भी छांट-छांटकर चूस लेते और नीचे को मूत देते हैं। यह थोड़ा-थोड़ा दाही पदार्थ वहां से एक बारीक नलियां संग्रह कर लेजाती और आपस में – यकृत के हर अंश से आ-आकर मिलती हुई – एक बड़ी नली बनाती हैं। वह नली *Hepatic duct* हीपेटिक-डक्ट नामक "पित्तस्रोत" है और वह संजित हुआ गर्मरस "पाचकपित्त" है।

आगे आकर इस नली की दो शाखायें होजाती हैं। एक आंतों की ओर जाकर पक्वाशय में खुलती है उससे पहिले इसमें क्लोम से आई हुई अग्निरस की नली भी मिल चुकती है। पक्वाशय में आहार-रस आने पर – इस मार्ग द्वारा लगभग १-१। सेर गरमागरम पित्त और २-२॥ छटांक अग्निरस उसमें आमिलता और तमाम भोजन को खूब पका देता है। उस २-३ घंटे दौरान में यकृत में जितना 'पित्त' छंटता है, सब सीधा पक्वाशय में आकर गिरता है। उस समय ( भोजन के बाद ) रक्त-प्रवाह आंतों की ओर बढ़ जाता है यह बता आये हैं, फलतः यकृत में भी रक्त अधिक पहुंचने से पित्त उस समय अधिक वेग से छंटता है। रक्त में से पित्त काफ़ी अधिक छंट जाने के कारण उस समय वह दिमाग़ एवं अन्य नसों को उत्तेजना की बजाय शांति ही अधिक देता है। यही कारण है कि भोजन के बाद कुछ घंटों तक मनुष्य सदा से अधिक शांत और शिष्ट होता है। कोई खास शर्तें तय करनी हों, अपील करनी हो या मतलब निकालना हो तो मनुष्य से उस समय बातें कीजिये जब वह भोजन करके आया हो या उसके बाद भी थोड़ा आराम कर चुका हो। इसके विपरीत – भोजन के पहिले – जब भूख लग रही हो, आमाशय में भरा हुआ जठर रस और रक्त में व्याप्त "पाचकपित्त" अपना असर कर रहे हों, या जिस समय मनुष्य को और कोई हाजत ( ज़रूरत ) लगी हुई हो, उस समय वह उत्तेजित और बड़ा चंचल रहता है। उस समय किसी गंभीर मामले पर बातें करना या कुछ मांग पेश करना, उतना सार्थक नहीं होता।

(७५३) जब आहार पक्वाशय में न हो, तब भी यकृत में 'पित्त' थोड़ा-बहुत छंटता ही रहता है। परन्तु वह तब आंत में नहीं जाता। एक पर्दा उस द्वार को बन्द रखता है। उस तमाम विश्राम-काल में आने वाला पित्त पित्ताशय में जमा होता रहता है। पित्तस्रोत से पक्वाशय तक पहुंचने से पहिले ही एक शाखा निकलकर यकृत के पीछे लगी हुई लम्बी थैली – पित्ताशय – में जा जुड़ती है। बस पित्त वहीं पहुंचता रहता है। लगभग सेरभर पित्त उसमें समा सकता है। जब आहार पक्वाशय में पहुंचे तब इस थैली में संचित पित्त एक दम उसमें जा पड़ता है और उसे खौला देता है। फिर यकृत से ताज़ा बनकर आता हुआ पित्त सीधा पक्वाशय में पहुंचकर आहार के शेष अपक्व अंशों को धीरे-धीरे पकने में मदद देता है। इसके बाद "पित्त" के उपयोगी तरल अंश आहार रस के साथ ही शोषित होकर पुनः रक्त में आजाते हैं। और निरुपयोगी छूंछा आहार-शेष के साथ सिला हुआ विष्ठा में शामिल होता है। उसी के करण मल का रङ्ग साधारणतः पीला होता है।

यदि पित्त ठीक परिमाण में हो तो मल हलके पीले रङ्ग का होता है। उसका जर्द पीला होना पित्त की अधिकता बताता है। अम्लता अधिक हो तो दस्त में पित्त की पीलाई के बजाय आंव की

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * * *

चिकनाई और सफेदी होती है। तब गन्ध भी खट्टी होती है। यह तब होता है जब आंतों में किसी कारण प्रदाह पैदा होजाय तथा आमाशय और आंतों की गिल्टियों से अधिक रस झरने लगे या पित्त और अग्निरस की कमी हो।

(७५४) बहुत से रोगों में रक्त में से पित्त छंटना घट जाता है। कभी छंटा हुआ पित्त–किसी अम्ल के असर से अपनी नली–पित्तस्रोत–में जम कर ठोस कंकड़ी जैसा होजाता और मार्ग रोक देता है। तब भी पित्ताशय भरने के बाद पित्त यकृत में जमा होजाता और वहां नया पित्त छंटना बंद कर देता है। अब वह "पाचकपित्त" (*Kolestrine* कोलेस्ट्रीन) रक्त में ही मिला रह जाने से रुधिर में पीलाई बढ़ जाती है और हरारत भी। यह पित्तज्वर, अथवा कमलवायु, जहरबाद वा पीलिया के रूप में नजर आता है। उस समय रक्त में पित्त की अधिकता से, नेत्रों का श्वेत भाग पीला दीखने लगता है। नखों की सुर्खी–पीलाई में बदल जाती है। वह गुर्दों में छनता है वहां भी पीला रङ्ग छांटकर मूत्र को गहरा पीला कर देता है। अधिक दिनों तक यह दशा रहे तो अंगों के जीवाणु तप-तप कर शिथिल हो रहते हैं, और यकृत भी पूरा काम नहीं कर पाता। उस समय सबमें पीलाई बढ़ जाती है, मगर विष्ठा की पीलाई घटकर सफेदी आजाती है। कारण कि पित्त पक्वाशय में आने से ही तो रुका हुआ है, अतः 'मल' में उसका रंग-रूप कहां से आवे। इस रोग में, जब मल पीला आने लगे, तब समझ सकते हैं कि वह बाधा घट या हट गई और अब रोग आराम होरहा है। यकृत काम करने लगा और पित्त-स्रोत खुल गया है।

(७५५) कभी कभी पित्त की कंकड़ी (*Biliary-calculus* बिलियरी कैल्कूलस) बहुत दृढ़ता से अड़ जाती है। उस समय नया आनेवाला पित्त उसे धकेलता है। उससे तेज शूल उठता है। यह 'पित्ताश्मरी'-जनित शूल या 'पित्तशूल' है जिसे *Biliary colic* बिलियरी कोलिक या 'कुलंज' कहते हैं। इस दशा में क्षार औषधें सेवन कराते हैं जिनसे, उस अम्ल का असर मिट जाय जिसने कंकड़ी जमाई थी। उपर्युक्त गुण होते ही– कंकड़ी फिर गल जाती या टूट जाती है और पित्त प्रवाह चल निकलता है। विष्ठा खूब पीली आने लगती है और उस कंकड़ी के कण भी निकल जाते हैं। वे आबदस्त लेते समय ऐसे मालूम होते हैं मानों मोटी बालू लगी हुए हो। अन्य सेंक आदि उपचारों से भी कुछ समय को लाभ होता देखा गया है।

(७५६) जब रक्त में से पित्त छंटता है तब–उसके नत्रजनीय त्याज्य पदार्थ भी उसमें घुल आते हैं। शरीर में हर समय पुराने जीवाणु मरते और नये बन-बनकर उनकी जगह लेते रहते हैं। कभी चोट – या विषैले प्रभावों से भी अनेक जीवाणु, श्वेताणु और रक्ताणु मर जाते हैं। उन सबकी लाशें-"नत्रजनीय त्याज्य पदार्थ" हैं। ये यकृत में आकर छिन्न-भिन्न होती हैं। उनके जो अंश पित्त में घुल सकते हैं वे घुलकर उसके साथ निकल जाते हैं। शेष अंश को यकृत के जीवाणु "मूत्रेय" (*Urea* यूरिया) के रूप में ढाल देते हैं। यह तत्व फिर रक्त में मिलकर बह जाता है और जो-जो रुधिर गुर्दे में पहुंचता है उसमें से वहां छंट जाता है। गुर्दा 'यूरिया' एवं यूरिक अम्ल आदि से मूत्र बना देता है और इसमें यह "मूत्रेय" ही प्रधान होता है।

इससे यह समझ सकते हैं कि जब आहार करेंगे उस समय और उसके बाद गुर्दों का काम बहुत बढ़ जायगा। क्योंकि एक तो तब उदर की ओर रक्त प्रवाह वैसे ही बढ़ जायगा। दूसरे उस समय यकृत तेजी से पित्त छांट-छांट कर यूरिया भी तैयार कर रहा होगा अतः रक्त उसको भी ले आयगा। फलतः उस समय मूत्र अधिक तेजी से बनता है। इसीलिये भोजन के बाद शीघ्र ही एक बार पेशाब अवश्य करना चाहिये और हाजत होतो दूसरी बार भी। आयुर्वेद में इसका विधान है और प्रायः हाजत स्वयं ही हो आया भी करती है। बस उसे कुछ देर दवाना नहीं चाहिये। इसी तरह स्नान या सर्दी के समय भी रक्तप्रवाह आंतरिक अङ्गों की ओर होजाने से-स्नान के बाद मूत्र की हाजत प्रायः हुआ करती है।

## आवश्यक संशोधन-

आगे जहां "रक्त में शर्करा ३ प्र... रह सकती है" ऐसा आया है, वह गलत छप गया है। "रक्त केवल ·३ प्रतिशत अर्थात् एक हजार में ३ भाग ही मधुरांश झेल सकता है, और साधारणतया तो उसमें १।-१॥ प्रति-हजार ही शर्करा का अंश रहता है।"

---